राजपथ की खोज

आचार्य तुलसी

स्वकथ्य

तीन व्यक्ति इंटरव्यू देने के लिए खड़े थे। अधिकारी ने एक-एक कर तीनों को कक्ष के भीतर बुलाया। उसने अनेक प्रश्न पूछे। उनमें एक अहम सवाल था–'दो और दो कितने होते है ?' पहला व्यक्ति आया और बोला–'दो और दो चार होते है। दूसरे व्यक्ति का उत्तर था–'दो और दो बाईस होते हैं।' तीसरे व्यक्ति ने कहा–'दो और दो चार भी होते है और बाईस भी होते है' अधिकारी ने अपना निर्णय दिया–'पहला आदमी भद्र है, दूसरा चालाक है और तीसरा समझदार है।' तीसरे व्यक्ति की नियुक्ति हो गई।

सापेक्ष दृष्टिकोण वैचारिक जगत् की अनेक समस्याओं का सीधा समाधान है। एकागी आग्रह अंधेरे साये की भाति व्यक्ति को भटकने के लिए विवश कर देता है। इस दृष्टि से हमारी विचार-यात्रा का हर पड़ाव अनेकान्त के पास होना जरूरी है। हम कुछ भी सोचे, पढ़ें या बोलें, उसके पीछे अनेकान्त की जमीन होती है। तो सोचना, पढ़ना और बोलना सार्थक हो जाता है। अन्यथा समाधान का चन्दन खोजने वाले हाथ समस्या के नागों से इस प्रकार बंध जाते है कि उनकी चेतना ही समाप्त सी होने लगती है।

जैन दर्शन आत्मा को केन्द्र मे रखकर चलने वाला दर्शन है। आत्मा एक अरूप सत्ता है। उसे न देखा जा सकता है और न छूकर जाना जा सकता है केवल अतीन्द्रिय ज्ञान के द्वारा उसका अनुभव किया जा सकता है। अतीन्द्रिय ज्ञान की उपलब्धि और आत्मा का बोध–दोनो ही काम गहरी साधना की अपेक्षा रखते है। वैसे किसी भी क्षेत्र मे आगे बढ़ने के लिए साधना की अनिवार्यता को नकारा नही जा सकता। साधना-काल में साधक निर्विचार नही होता। कभी-कभी उसके भीतर ऐसे विचार जनम जाते हैं, जो उसे आन्दोलित कर देते हैं और दूसरों को भी प्रेरणा दे जाते है। उन विचारों को विस्तार देने का काम कुछ लोग स्वान्त. सुखाय करते है और कुछ लोग विचारो की संप्रेषण क्षमता बढ़ाने के लिए करते हैं।

'राजपथ की खोज' विचार-संप्रेषण के उद्देश्य से तैयार किया गया एक संकलन है । पगडण्डियों पर चलने वाला यात्री भी मंजिल तक पहुंच सकता है, पर वहां निश्चिन्तता नहीं होती । पता नही कहां पगडण्डी छूट जाए और मंजिल की दूरी बढ़ जाए । राजपथ पर चलने वाला राही निश्चिन्त ही नहीं होता, उसे बराबर यह भी ज्ञात रहता है कि वह कितने किलोमीटर रास्ता तय कर पाया है । इस दृष्टि से छोटी-छोटी मंजिल तक पहुंचने वाली यात्रा में भी राजपथ का महत्त्व है, फिर जहां जीवन की आखिरी मंजिल तक पहुंचना हो, वहां तो राजपथ की उपयोगिता स्वयंसिद्ध है ।

मनुष्य की अन्तिम मंजिल है–बन्धन-मुक्ति या आत्म-स्वरूप की उपलब्धि । इस मंजिल तक पहुंचने वाला राजपथ है–सम्यक्-दर्शन, सम्यक् ज्ञान और सम्यक् आचरण का सहावस्थान । दृष्टि को सम्यक् बनाने के लिए सत्संपर्क और सत्साहित्य का अनुशीलन जरूरी है । जिन लोगों को अपनी जीवन-यात्रा में सही रास्ते को खोजना है, उनको सत्साहित्य की यात्रा अवश्य करनी चाहिए ।

'राजपथ की खोज' कोई ऐसी साहित्य-यात्रा नही है, जिसमे सिलसिलेवार बहता हुआ विचारो का प्रवाह बध पाया हो । समय-समय की अपेक्षा ने जब कभी विचारो को लिपिबद्ध करवाया, उन सबको संजोकर रख लिया साध्वीप्रमुखा कनकप्रभा ने । कण-कण जुड़ते गए और एक कृति तैयार हो गई । विचारो को संजोकर रखना संग्राहक शक्ति के साथ-साथ एक कला भी है । शक्ति और कला– दोनो का समुचित समायोजन नही होता तो 'राजपथ की खोज' हमारे सामने नही होती । इस दृष्टि मे पाठको को साध्वीप्रमुखा कनक प्रभा की सयोजन-शक्ति का आभारी रहना होगा । प्रस्तुत कृति 'विचारवीथी' और 'विचार दीर्घा'–इन दो पुस्तको मे मुद्रित सामग्री का ही नया सस्करण है । उन पुस्तको के कुछ निबन्धो को छोड़कर शेप सामग्री को नये रूप मे समायोजित किया गया है ।

'मार्गस्थो नावसीदति' जो व्यक्ति सही रास्ते पर चलता है, वह कभी अवसाद को प्राप्त नहीं होता । इस नीति वाक्य को आधार बनाकर सोचा जाए तो हर व्यक्ति के लिए पथ की खोज आवश्यक है । 'राजपथ की खोज' यदि किसी भी पाठक को अपना पथ खोजने मे सहयोग कर सकी तो वह अपने नाम को सार्थकता दे सकेगी । यह सार्थकता ही इसकी उपयोगिता और मूल्यवत्ता है ।

–आचार्य तुलसी

चूरू
२२ फरवरी, १९८७

सम्पादकीय

उन दिनो भगवान पार्श्व की परम्परा के सवाहक कुमार श्रमण केशी यात्रा पर थे। वे घूमते-घूमते श्रावस्ती नगरी मे पधारे। उनके साथ सैकड़ों साधु थे। वे वहां तिन्दुक नामक उद्यान में ठहरे।

भगवान् महावीर के प्रमुख शिष्य गणधर गौतम श्रावस्ती नगरी के आसपास ही विहार कर रहे थे। वे भी अपने शिष्य-परिवार के साथ वहां पहुंचे। उनका आवास-स्थल था कोष्ठक उद्यान।

श्रमण केशी और गणधार गौतम दोनो विशिष्ठ ज्ञानी थे। पर उनके शिष्यो में नये-पुराने सभी साधु थे। उनहोने एक-दूसरे को देखा। उनके मन में कुछ प्रश्न खड़े हो गये। वेशभूषा, चर्या आदि की भिन्नता उनको अखरने लगी। वे अपने आचार्यो के पास गये। उन्होंने पारस्परिक भेदों की चर्चा की।

शिष्यो को समाधान देने हेतु दोनों आचार्यो ने मिलने का निर्णय लिया। गणधर गौतम अपने शिष्य-परिवार के साथ श्रमण केशी से मिलने तिन्दुक वन में गये। श्रमण केशी ने उनको यथोचित सम्मान दिया।

उस दिन तिन्दुक उद्यान में हजारो लोग उपस्थित थे। उनके सामने श्रमण केशी ने अनेक प्रश्न पूछे। गणधर गौतम ने प्रश्नो का समाधान दिया। प्रश्न-शृंखला में एक महत्त्वपूर्ण प्रश्न था–'लोक में कुमार्ग बहुत है, जिन पर चलने वाले लोग भटक जाते है। गौतम ! मार्ग मे चलते हुए भी तुम कैसे नही भटकते ?'

इस प्रश्न के उत्तर मे गौतम ने कहा–

जे य मग्गेण गच्छति, जे य उम्मग्गपट्ठिया।
सव्वे ते विइया मज्झं, तो न नस्सामहं मुणी ॥

जो मार्ग में चलते है और जो उन्मार्ग में चलते है, वे सब मुझे ज्ञात हैं। मुने ! इसलिए मैं नही भटक रहा हूं।

श्रमण केशी और गणधर गौतम का यह संवाद बताता है कि मनुष्य को मार्ग का ज्ञान होना चाहिए कि किस मार्ग पर चलने वाले अपनी मंजिल तक पहुंचते

हैं और कौन-सा मार्ग भटकाने वाला है ? यह जानकारी जिसे हो जाती है, वह कभी उत्पथगामी नहीं बनता । 'राजपथ की खोज' इसी उद्देश्य से प्रेरित होकर तैयार किया गया संकलन है । इसमें अणुव्रत अनुशास्ता आचार्य श्री तुलसी के ६१ निबंधों एवं प्रवचनों को संकलित किया गया है । विषय वर्गीकरण की दृष्टि से इसे चार भागों मे बांटा गया है । प्रथम वर्ग में भगवान् महावीर के जीवन और दर्शन से सम्बन्धित तेरह निवन्ध हैं । दूसरे वर्ग में अहिंसा और महात्मा गांधी के बारे में चर्चा है । तीसरे वर्ग में जीवन-मूल्यों पर मुक्त विश्लेषण है । चौथे में जिज्ञासु लोगों के प्रश्नों को समाहित किया गया है । कुल मिलाकर यह पुस्तक व्यक्ति को नयी दिशा देने वाली है । इससे पाठकों को अपने जीवन में नयी दिशाओं के उद्घाटन की संभावना का दर्शन हुआ होगा । यही एक कारण हो सकता है, जिससे पुस्तक का प्रथम संस्करण बहुत जल्दी समाप्त हो गया ।

इससे भी अधिक उल्लेखनीय बात यह है कि दिल्ली में सन् १९८८ के विश्व पुस्तक मेले का आयोजन था । उसमें लाखो पुस्तकें प्रदर्शित की गयी । जैन विश्व भारती एवं आदर्श साहित्य संघ, इन संस्थाओं ने भी अपनी सैकड़ों पुस्तके वहां लगायी । मेला सम्पन्न होने के वाद वहां प्रदर्शित पुस्तकों में से कुछ चुनी हुई पुस्तको की एक सूची प्रकाशित हुई उसमें अपने यहां के साहित्य से एकमात्र 'राजपथ की खोज' पुस्तक का नाम था । शायद यह भी एक कारण रहा होगा जिससे पुस्तक की माग वढ़ी और एक वर्ष की अवधि में ही इसका दूसरा संस्करण सामने आ गया है ।

दूसरा और तीसरा संस्करण भी बहुत शीघ्र समाप्त हो गया । चतुर्थ संस्करण के प्रकाशन मे अनपेक्षित विलम्ब होता रहा । पुस्तक की माग के आधार पर गुरुदेव की अनेक पुस्तको के पुन मुद्रण की शृंखला मे यह चतुर्थ सस्करण प्रस्तुत है । इसके स्वाध्याय से पाठकों को नया प्रकाश मिलेगा, ऐसा विश्वास है ।

भारतवर्ष अध्यात्म प्रधान देश कहलाता है । इस देश की वर्तमान पीढ़ी अपनी भावी पीढ़ी को क्या देगी ? चरित्र या भ्रष्टाचार ? मुस्कान या तनाव ? अनुशासन या उच्छृंखलता ? यदि वह चरित्र, मुस्कान और अनुशासन की विरासत छोड़कर जाना चाहती है तो उसके लिए जीवन की वुनियाद मे रही दुर्वलताओ से सघर्ष करना होगा । उस सघर्ष के लिए एक तीखा हथियार है साहित्य । प्रशासन, अध्ययन, अध्यापन, प्रवचन, जनसंपर्क आदि कार्यों की व्यस्तता के वावजूद आचार्यश्री के जीवन में साहित्य की जो स्रोतस्विनी निरन्तर प्रवहमान है उसमे अवगाहन करने की छोटी सी [illegible] के साथ ।

—साध्वीप्रमुखा कनकप्रभा

[illegible]
[illegible]

अनुक्रम

है और कौन-सा मार्ग भटकाने वाला है ? यह जानकारी जिसे हो जाती है, वह कभी उत्पथगामी नहीं बनता। 'राजपथ की खोज' इसी उद्देश्य से प्रेरित होकर तैयार किया गया सकलन है। इसमें अणुव्रत अनुशास्ता आचार्य श्री तुलसी के ६१ निबंधों एवं प्रवचनों को संकलित किया गया है। विषय वर्गीकरण की दृष्टि से इसे चार भागों में बांटा गया है। प्रथम वर्ग मे भगवान् महावीर के जीवन और दर्शन से सम्बन्धित तेरह निबन्ध है। दूसरे वर्ग में अहिंसा और महात्मा गांधी के बारे मे चर्चा है। तीसरे वर्ग में जीवन-मूल्यों पर मुक्त विश्लेषण है। चौथे में जिज्ञासु लोगो के प्रश्नों को समाहित किया गया है। कुल मिलाकर यह पुस्तक व्यक्ति को नयी दिशा देने वाली है। इससे पाठकों को अपने जीवन में नयी दिशाओं के उद्घाटन की संभावना का दर्शन हुआ होगा। यही एक कारण हो सकता है, जिससे पुस्तक का प्रथम संस्करण बहुत जल्दी समाप्त हो गया।

इससे भी अधिक उल्लेखनीय बात यह है कि दिल्ली में सन् १९८८ के विश्व पुस्तक मेले का आयोजन था। उसमें लाखों पुस्तके प्रदर्शित की गयीं। जैन विश्व भारती एवं आदर्श साहित्य संघ, इन संस्थाओं ने भी अपनी सैकड़ों पुस्तकें वहां लगायी। मेला सम्पन्न होने के बाद वहां प्रदर्शित पुस्तकों में से कुछ चुनी हुई पुस्तकों की एक सूची प्रकाशित हुई उसमें अपने यहां के साहित्य से एकमात्र 'राजपथ की खोज' पुस्तक का नाम था। शायद यह भी एक कारण रहा होगा जिससे पुस्तक की मांग बढ़ी और एक वर्ष की अवधि में ही इसका दूसरा संस्करण सामने आ गया है।

दूसरा और तीसरा संस्करण भी बहुत शीघ्र समाप्त हो गया। चतुर्थ संस्करण के प्रकाशन में अनपेक्षित विलम्ब होता रहा। पुस्तक की मांग के आधार पर गुरुदेव की अनेक पुस्तको के पुन मुद्रण की शृंखला में यह चतुर्थ सस्करण प्रस्तुत है। इसके स्वाध्याय से पाठकों को नया प्रकाश मिलेगा, ऐसा विश्वास है।

भारतवर्ष अध्यात्म प्रधान देश कहलाता है। इस देश की वर्तमान पीढ़ी अपनी भावी पीढ़ी को क्या देगी ? चरित्र या भ्रष्टाचार ? मुस्कान या तनाव ? अनुशासन या उच्छृंखलता ? यदि वह चरित्र, मुस्कान और अनुशासन की विरासत छोड़कर जाना चाहती है तो उसके लिए जीवन की बुनियाद में रही दुर्बलताओ से संघर्ष करना होगा। उस संघर्ष के लिए एक तीखा हथियार है साहित्य। प्रशासन, अध्ययन, अध्यापन, प्रवचन, जनसंपर्क आदि कार्यो की व्यस्तता के बावजूद आचार्यश्री के जीवन में साहित्य की जो स्रोतस्विनी निरन्तर प्रवहमान है उसमें अवगाहन करने की छोटी सी आकांक्षा के साथ।

ऋषभ-द्वार
लाडनूं-३४१३०६

—साध्वीप्रमुखा कनकप्रभा

अनुक्रम

महावीर : जीवन-सौरभ

जन्म-दिन : एक समूची सृष्टि का

आज हम भगवान् महावीर की जन्म-जयंती मना रहे है। क्यों ? क्या ढाई हजार वर्ष की लम्वी कालावधि को आर-पार उद्भासित करने वाला भगवान् महावीर का व्यक्तित्व अपने पीछे कोई जीवन्त आहट छोड़ गया है या अतीत के व्यामोह से अनुवन्धित होकर हम ऐसा कर रहे है। अतीत वहुत सुनहरा होता है। वह जितना दूर और अज्ञात रहता है, उसके प्रति आकर्षण उतना ही अधिक बढ़ता है। क्या इसी हेतु की प्रेरणा से हजारो वर्ष पहले जनमे व्यक्ति को मनाने का यह उपक्रम है या वर्तमान के सन्दर्भ मे भी इसकी कोई उपयोगिता है ?

उपर्युक्त प्रश्न को सामने रखकर मै जब विचार करता हूं तो ऐसा प्रतीत होता है कि महावीर के प्रति लोक मानस में जो आकर्षण है, वह केवल अतीत के अनुराग से नही है। वह इसलिए है कि महावीर-दर्शन की आज उपयोगिता है। वह केवल श्रद्धा और परम्परा के वल पर ही महत्त्वपूर्ण नही है। उसमे जीवन की अहम समस्याओ का समाधान है। जो धर्म दर्शन जन-जीवन की समस्याओं को अनदेखा छोड़ देता है, वह दीर्घकाल तक अपने अस्तित्व को सुरक्षित नही रख सकता।

भगवान महावीर न शाश्वतवादी थे और न अशाश्वतवादी। शाश्वतवादी का प्राचीनता मे विश्वास होता है। अशाश्वतवादी का विश्वास नवीनता से जुड़ा हुआ रहता है। महावीर प्राचीनता और नवीनता दोनो से परे थे। उन्हे न प्राचीनता से कोई व्यामोह था और न ही नवीनता से कोई आकर्षण। उनके दर्शन के अनुसार हर नवीनता प्राचीनता से अभिन्न होती है और हर प्राचीनता में नवीनता के बिम्ब तैरते रहते है। जैसे हर अतीत वर्तमान के वातायन से झाकता रहता है। तथा हर वर्तमान अतीत से सम्बद्ध होता है। इसी प्रकार प्राचीनता और नवीनता साथ-साथ चलती है।

भगवान महावीर ने ऐसी समन्वयी प्रक्रिया को प्रस्तुत किया, जिसमें किसी एक अवयव को छोड़कर नही देखा जा सकता। इसका अर्थ यह होता है कि महावीर के दर्शन में कोई काना नही है, कोई लंगड़ा नही है। जबकि आज की सबसे बड़ी

समस्या कानापन और लगड़ापन है। इस समस्या को निरस्त करने के लिए महावीर के दर्शन को समझना जरूरी है और उस दर्शन के तार्किक धरातल से ऊपर उठकर अनुभूति के स्तर पर समझना जरूरी है।

वर्तमान के परिप्रेक्ष्य में धर्मनीति, समाजनीति या राजनीति किसी भी क्षेत्र की उलझन यह है कि वहां कोई भी निर्णय सर्वांगीण नही होता। एकांगी सत्य को पूर्ण सत्य मानकर चलने से समस्या उलझेगी नहीं तो और क्या होगा ? महावीर ने अपने युग की इस समस्या के प्रति बहुत सावधान किया था। उनका युग अतीत और अनागत दोनों से प्रतिबद्ध था, इस दृष्टि से उन्होंने ऐसे त्रैकालिक सत्यों का उद्‌घाटन किया, जो हर युग की त्रासदी को तोड़ने वाले थे। उन्होंने कहा— किसी भी सापेक्ष मूल्य को निरपेक्ष मानकर मत चलो। सापेक्षता-शून्य निरपेक्षता आग्रह को जन्म देती है और उलझनों को बढ़ाती है। इसलिए निश्चय और व्यवहार सत्य को अपनी-अपनी भूमिकाओं पर ही समझने का प्रयत्न होना चाहिए।

व्यवहार स्थूल सत्य पर्याय को अभिव्यक्ति देता है और निश्चय सूक्ष्म सत्य को रूपायित करता है। मनुष्य समाज मुख्यतः व्यवहाराधीन रहता है। किन्तु समस्या सुलझाने के लिए केवल व्यवहार ही पर्याप्त नहीं होता। मन की उलझन सुलझाने की दृष्टि से तो वह सर्वथा अपर्याप्त है। जब तक व्यक्ति को वस्तु सत्य उपलब्ध नहीं होता, तब तक उसकी हर समस्या असमाहित रहती है।

भगवान् महावीर ने निश्चय और व्यवहार की सापेक्षता का प्रतिपादन करते हुए कहा— मनुष्य स्थूल जगत में जीता है, पर वही अन्तिम सत्य नहीं है। उसे सूक्ष्म सत्य की खोज का प्रयत्न निरन्तर चालू रखना चाहिए। आज विज्ञान एक से-एक उपलब्धियों की शृंखला को आगे बढ़ा रहा है। क्यों ? इसलिए कि वह सूक्ष्म सत्य की खोज में निरत है। वह जहां तक पहुंचा है, उसे ही अन्तिम सत्य मानकर रुकता नही है। भौतिक जगत् में होने वाले विकास का भी एकमात्र यही हेतु है। अब रही बात दार्शनिक लोगों की। उन्होंने सूक्ष्म सत्य की खोज बन्द कर दी। वे केवल स्थूल सत्य को आधार मानकर चले, फलतः समस्याएं बढ़ीं पर उनका सही निदान और सही चिकित्सा हाथ नहीं लगी।

यह तथ्य निर्विवाद है कि उलझनें सूक्ष्म जगत से आती हैं। मनुष्य की अपनी वृत्तियां, आवेश, प्रियता-अप्रियता की अनुभूति आदि चेतना के सूक्ष्म स्तरों पर घटित होने वाली स्थितियां है। इनका समाधान स्थूल सत्य के माध्यम से खोजने का प्रयास होता है तब जीवन में विसंगति पैदा हो जाती है। यह कोरा दार्शनिक सत्य ही नही है। समस्त जगत को प्रभावित करने वाला तत्त्व यही है, इसलिए इसको दार्शनिक कहकर उपेक्षित नहीं किया जा सकता। जब तक स्थूल और सूक्ष्म सत्य के मध्य

में सेतु का निर्माण नही हो जाता, इस सच्चाई का अनुभव भी नही हो सकता। इस अनुभूति के अभाव में न तो समस्या का समाधान मिल सकता है और न ही महावीर का दर्शन समझ में आ सकता है ।

महावीर को समझने का अर्थ है सूक्ष्म सत्य की अनुभूति। महावीर को पहचानने का अर्थ है स्थूल से सूक्ष्म की ओर प्रयाण। महावीर को जानने का अर्थ है-- बहिर्मुखता से अन्तर्मुखता की ओर गति । महावीर को विश्लेषित करने का अर्थ है अंधकार से प्रकाश की उपलब्धि । महावीर का जन्मदिवस मनाने का अर्थ है–महावीर की भॉति जीवन जीने का संकल्प। इस संकल्प की आशिक या सम्पूर्ण स्वीकृति करने वाले व्यक्ति ही अपने-आप को भगवान महावीर के अनुयायी मान सकते हैं। वे ही उनके दर्शन को समझ सकते है और वे ही उनके जन्म-दिन मनाने की प्रक्रिया को क्रियान्वित कर सकते है ।

महावीर के अनुसार मानव जगत् के प्रति ही नहीं सम्पूर्ण प्राणी जगत् के प्रति समत्व की अनुभूति होनी चाहिए। वे/प्राणी स्थूल हों या सूक्ष्म, चर हो या अचर, सबल हों या निर्वल– उन सबमे प्राणशक्ति है, चैतन्य है । यदि इनमे से किसी भी प्रकार के प्राणियों का सन्तुलन गड़बड़ाता है तो सारे संसार की स्थिति गड़बड़ा जाती है। आज की भाषा मे जिसे 'इकोलोजी' कहा जाता है, वह भगवान् महालेर के समत्वमूलक दृष्टिकोण का एक प्रतिबिम्ब है। समता का यह सिद्धान्त जब व्यवहार में फलित होता है तभी व्यक्ति जीने का सही आनन्द पा सकता है ।

इकोलोजी के सन्दर्भ में अहिंसा की व्याख्या की जाए तो कुछ नयी दृष्टिया और नया चिन्तन हमारे सामने आता है । जैसे एक तथ्य है जंगल काटने का जंगल काटना हिंसा है और हिंसा त्याज्य है, इतना कहकर किसी व्यक्ति को हिसा से विरत नहीं किया जा सकता। किन्तु इसी तथ्य को सांगोपांग रूप से निरूपित किया जाए तो सहज भाव से समझ में आ जाता है कि एक जंगल काटने मात्र से समस्त जगत् की व्यवस्था किस प्रकार अस्त-व्यस्त हो जाती है। जिस क्षेत्र का जंगल कटता है, उसके पार्श्ववर्ती भू-भाग में वर्षा कम होती है। वर्षा की कमी का प्रभाव कृषि पर पड़ता है। फसल पर्याप्त नही होती है तो पेट नही भरता है और संसार में अव्यवस्था उत्पन्न हो जाती है । वनस्पति की उत्पादकता मे कमी होने से जीव-जगत पर जो प्रतिकूल प्रभाव होता है, वह केवल संयम की दृष्टि से ही नहीं, जागतिक व्यवस्था की दृष्टि से भी चिन्तनीय है। बर्तनों की पंक्ति के नीचे यदि एक वर्तन को खिसकाया जाता है तो वह पूरी पंक्ति अव्यवस्थित हो जाती है। मकान की एक ईट को इधर-उधर कर देने से पूरे मकान को खतरा हो जाता है। इसी प्रकार जगत की सहज व्यवस्था में एक पदार्थ को इधर-उधर कर देने

से समूची जागतिक व्यवस्था प्रभावित होती है। फिर चाहे वह पदार्थ पानी, पृथ्वी या वनस्पति कोई भी हो।

भगवान् महावीर ने अहिंसा के निरूपण में जीव संयम की बात पर जितना बल दिया, उतना ही बल अजीव संयम पर भी दिया। इस क्रम में अचेतन पदार्थो का दुरुपयोग भी हिंसा की कोटि में परिगणित है। महावीर के इस दर्शन से गांधीजी की पूर्ण सहमति रही। उन्होंने वस्तु के दुरुपयोग और अनपेक्षित संग्रह दोनो को हिसा बताया। हिसा की परिभाषा किसी प्राणी के प्राण-वियोजन तक ही सीमित न रहकर समूचे युग की समस्या बन विश्व की समस्या बन जाती है। इस समस्या को निरस्त करने के लिए अहिसा को उसके सूक्ष्म स्तरो पर ही समझना होगा।।

अहिसा भगवान् महावीर के जीवन का दूसरा पर्याय है। उन्होने प्राणी मात्र मे रही हुई जिजीविषा, स्वतन्त्रता और सुखेप्सा की वृत्ति को समझा, वैसे ही अचेतन जगत की प्रवृत्तियों को भी आत्मसात कर लिया। इस दृष्टि से उनका जन्म-दिन समूची सृष्टि का जन्म-दिन है। मौत की ओर अग्रसर विश्व को जीवन की नयी व्याख्या देकर उसके महत्त्व से परिचित कराना है। जीवन की भव्यता और दिव्यता को समझ उसका सदुपयोग करने वाला तथा युगीन समस्याओ के सामने चुनौती बनकर अडिग रहने वाला व्यक्ति ही महावीर जयंती की सार्थकता को प्रमाणित कर सकता है।

इस अवसर पर जो व्यक्ति विश्व-चेतना के साथ तादात्म्य की अनुभूति कर लेता है वह किसी भी प्राणी की व्यथा को अपनी व्यथा अनुभव करता है। महाराष्ट्र के प्रसिद्ध सत तुकाराम कहीं जा रहे थे। मार्ग मे उन्होंने एक भैसे का वध होते देखा। उस दृश्य को देखकर उनकी आत्मा प्रकंपित हो गई। उनके रोम-रोम मे सिहरन व्याप गई। वे वही खड़े रह गए और बोले– भाई! इस भैसे का वध मत करो। वध करने वाले ने पूछा– क्यो? सत तुकाराम ने अपने मन की पीड़ा व्यक्त करते हुए कहा– तुम इसका वध करते हो तब मुझे ऐसा महसूस होता है कि मेरा वध हो रहा है, मुझे पीड़ा हो रही है और भीतर से मेरी आत्मा कराह रही है। यह बात उसकी समझ मे नहीं आई तो उन्होंने कहा– भाई! संसार के जितने जीव-जन्तु है उन सबके साथ मेरा तादात्म्य है। उनकी आत्मा में मुझे अपनी आत्मा का दर्शन होता है। उनकी सुखानुभूति से मै सुखी होता हू तो उनकी कष्टानुभूति मुझे व्यथित क्यो नही करेगी? यह बात सुनने वाले लोग चकित थे क्योकि उन्होने भगवान् महावीर को नही समझा था। महावीर-दर्शन में विश्वास रखने वाला व्यक्ति प्राणी मात्र के प्रति एकत्व की अनुभूति सहज रूप से कर लेता है।

सत्य के प्रयोक्ता : भगवान महावीर

भगवान् महावीर सत्यद्रष्टा थे। उन्होंने सत्य को जाना, समझा और उसका प्रयोग किया। उन्होंने जिस सत्य को अभिव्यक्ति दी, उसके पीछे समत्व की भावना काम कर रही थी। समतावादी दर्शन अभिव्यक्ति में जितना सरल और सरस है, प्रयोग के लिए उतना ही कठिन है। भगवान् महावीर ने इस गूढ़ दर्शन को आत्मगत किया क्योंकि वे जितने गहरे दार्शनिक थे, व्यावहारिक भी उससे कम नही थे। उन्होंने दर्शन और व्यवहार की दिशाएं भिन्न-भिन्न नहीं रखी। भिन्नता में एकता और एकता में भिन्नता, यह उनके चिन्तन की परिणति थी। एकांत आग्रह को वे सत्य की उपलब्धि मे बाधक मानते थे। सत्य किसी सीमा में बंधा हुआ नहीं होता। उसकी उपलब्धि और उपासना का अधिकार हर व्यक्ति को है। जाति, वर्ण, प्रान्त, लिंग आदि की सीमाएं सत्य को विभाजित नही कर सकतीं। प्रकाश, धूप और हवा की तरह सत्य भी सर्वसुलभ तत्त्व है।

भगवान् महावीर के सत्य का मूलभूत आधार है आत्मा। आत्मा का अस्तित्व स्वीकार करने के बाद ही सत्प्रवृत्ति और असत् निवृत्ति की बात समझ में आ सकती है। आत्मा एक त्रैकालिक सत्ता है। उत्पाद और विनाश की प्रक्रिया इसकी त्रैकालिकता में ही घटित हो सकती है। आत्मा त्रैकालिक है, इसलिए अविनाशी है। आत्मा के स्वतन्त्र अस्तित्व की स्वीकृति उसके कर्तृत्व को स्वतंत्र सिद्ध करती है। जहां क्रिया है, वहां प्रतिक्रिया स्वाभाविक है। आत्मा कुछ करती है, उसके प्रतिक्रियास्वरूप फलभोग भी उसे ही करना होता है। पूर्वकृत कर्मो का भोग और वर्तमान में क्रियमाण शुभ-अशुभ कर्म पूर्वजन्म को प्रमाणित करते है। जन्म और मृत्यु की परम्परा तब तक चलती है, जब तक जीव शुभ और अशुभ कर्मो संग्रह करता है। गृहीत कर्मो का क्षय और नये कर्मो का ग्रहण—इस स्थिति में व्यक्ति परम समाधि अवस्था को प्राप्त होता है। मुक्ति, मोक्ष आदि शब्द उस स्थिति को अभिव्यक्ति देने वाले हैं। सम्यक् ज्ञान, सम्यक् दर्शन और सम्यक् चरित्र मोक्ष-प्राप्ति में प्रकृष्ट साधन है। मुक्त होने के साथ बंधनो की शृंखला टूट जाती है। अनंत आनन्द और अनन्त शक्ति

का स्रोत प्रवाहित होने लगता है । मुक्त जीवन किसी भी स्थिति में पुनः संसार में अवतरित नहीं होते ।

आत्म-दर्शन के परिप्रेक्ष्य मे भगवान महावीर ने अहिंसा, अपरिग्रह और अनेकांत–त्रिसूत्री योजना दी । इन तीनों सूत्रों ने भगवान् महावीर को दर्शन की ऊंचाइयों से व्यवहार के धरातल पर उतारकर रख दिया । अप्रयुक्त सत्य और अनुपलब्ध तथ्य जिस समय प्रयुक्त और उपलब्ध होते हैं– व्यवहार की भूमिका पर उतरते है, दर्शन विज्ञान बन जाता है । साधारण लोग दार्शनिक तथ्यों को समझने में कठिनाई का अनुभव करते हैं । दर्शन का विषय वास्तव में जटिल है । जटिल को जटिल मानना सबसे बड़ी जटिलता है । दर्शन भी सरल और सुबोध बन सकता है, यदि उसके पीछे जमी हुई जटिलता की धारणा बदल जाए ।

भगवान् महावीर ने साधनाकाल के प्रारम्भ में केवल वैयक्तिक जीवन जीया। व्यक्ति अकेला होता है, वहां व्यवहारिक सीमाएं अकिंचित्कर होती है । समूह चेतना की स्वीकृति अनायास ही व्यक्ति को कुछ मर्यादाओं मे बांध देती है । सामूहिक जीवन की सफलता का राज है सहिष्णुता । सहिष्णु व्यक्ति अनुकूलताओं और प्रतिकूलताओं मे अपना संतुलन नहीं खो सकता । सहिष्णुता विकसित करने के लिए क्षमा, ऋजुता, मृदुता आदि का विकास बहुत अपेक्षित है । दस धर्मो मे क्षमा को पहला स्थान प्राप्त है । आर्जव और मार्दव क्षमा की परिधि मे ही फलित हो सकते है ।

भगवान् महावीर की व्यावहारिकता का आधार उनका समतावादी सिद्धान्त है । उन्होंने साधना-मार्ग के बीच एक विभाजन रेखा खीच दी । साधना के प्रति सर्वात्मना समर्पित साधक अहिंसा, सत्य, अचौर्य, ब्रह्मचर्य और अपरिग्रह की सम्पूर्ण साधना करते है । दूसरी श्रेणी के व्यक्ति यथासंभव इन व्रतों की परिपालना करते है । प्रथम व्रत में घात न करना, किसी के साथ क्रूरतापूर्ण व्यवहार न करना, अपने आश्रित प्राणियों का वध, बंधन आदि अमानुषिक काम नहीं करना आदि विधियो का समावेश है । दूसरे व्रत के अनुसार व्यापार और व्यवहार में सत्य की साधना अपेक्षित है । कपटपूर्ण, क्रूरतापूर्ण भाषा आत्म-हनन की प्रतीक है । वचन देकर नकारना, व्यंग्यात्मक भाषा का प्रयोग करना आत्म विमुखता की स्थिति है । तीसरा व्रत चौर्यवृत्ति को प्रोत्साहन देने वाली वृत्तियों में संशोधन की बात करता है । चौथे व्रत मे अतिकामुकता पर नियमन करने की बात है । इस व्रत के अनुसार वेश्यावृत्ति को बढ़ाना बहुत पाप है । समाज द्वारा स्वीकृत विवाह संस्था एक स्थिति है । इसका अतिक्रमण व्यक्ति को गलत मार्ग की ओर ले जाता है । पांचवा व्रत अपरिग्रह का है । आवश्यकतापूर्ति के लिए अर्थ का अर्जन और संग्रह होता है, किन्तु शोषण

और अतिरिक्त अर्थ-संग्रह समाज की पीड़ा है। अर्थ जीवन का साधन है, साध्य नही। साधन में साध्य का भाव उत्पन्न होने से अनेक उलझनें खड़ी हो जाती हैं। भगवान् महावीर में आस्था रखने वाले, उनके सिद्धान्तो को आदर्श मानने वाले, आदर्श जीवन जीने के पक्षपाती और मानवीय मूल्यो की प्रतिष्ठा चाहने वाले व्यक्ति यदि एक बात स्वीकार करते हैं कि वे अनैतिक पद्धति से अर्थ का अर्जन नहीं करेंगे, किसी का शोषण नहीं करेंगे तो संभवतः बहुत-सी कठिनाइयों का हल निकल जाएगा।

मै भगवान् महावीर की पावन जन्म-जयंती के उपलक्ष्य में उनकी उज्ज्वल आत्मा को सविनय नमन करता हूं। उनके जीवन की दार्शनिकता का मेरे मन पर बहुत प्रभाव है। इसी प्रकार मै उनके व्यावहारिक चिंतन को भी आदर्श मानता हूं। दर्शन और व्यवहार की समन्विति से हम अपना और इस पूरे मानव-समाज का समुचित विकास करके ही उनके सच्चे अनुयायी बन सकेंगे।

चेतना के केन्द्र में विस्फोट

मनुष्य स्वतंत्र जीवन का अभीप्सु है। उसके प्राण-प्रान्तर में स्वतंत्रता की लौ लगी रहती है। जिस व्यक्ति की चेतना जितनी विकसित होती है, वह स्वतंत्रता की उपलब्धि के लिए उतनी ही तीव्रता से प्रयत्न करता है। राजकुमार वर्धमान के प्राणों में स्वतंत्र होने की अमिट प्यास जगी। यौवन की दहलीज पार कर वे अपने जीवन का तीसरा दशक पूरा कर रहे थे। घर, परिवार और राज्य की सीमाओ में उनका मन छटपटाने लगा। असीम की ओर प्रयाण करने के लिए उन्होंने अहंकार और ममकार के तटबंधों को तोड़कर स्वयं को समय के अथाह सागर में छोड़ दिया। तीस वर्ष की पूर्ण युवावस्था में राजभवन से अभिनिष्क्रमण कर राजकुमार वर्धमान क्षत्रियकुण्डपुर के उद्यान में पहुंचे। वहां सामायिक चारित्र स्वीकार कर सर्वात्मना साधना के लिए समर्पित हो गए। उनका वह समर्पण समय विशेष या परिस्थिति विशेष के प्रति नहीं था। अनुकूल और प्रतिकूल हर परिस्थिति में वे तब तक देह का व्युत्सर्ग करते रहे, जब तक केवलज्ञान की विमल आभा से अभिमंडित नहीं हो गए। ये राजकुमार वर्धमान ही आगे चलकर भगवान् महावीर के नाम से विश्रुत हुए।

भगवान् महावीर कल्पना की तरलता को कोई महत्त्व नहीं देते थे। उनके चिन्तन में यथार्थ का ठोस धरातल ही कार्यकारी था। उनका महावीर नाम भी परिवेश से दूर नही है। साधना का पथ स्वीकार करने के बाद वे अनवरत कष्टों से जूझते रहे। उन्होंने कभी मुड़ना नहीं सीखा। कष्टों की धधकती ज्वाला और उफनते सागर में भी वे अकम्प खड़े रहे। उनकी अभय की साधना चौकाने वाली है तो समागत कष्टो की कहानी रोमांचित कर देने वाली है। उसका एक हल्का-सा चित्र मै यहां प्रस्तुत कर रहा हूं।

साधनाकाल के प्रथम वर्ष में शूलपाणि यक्ष ने भगवान् महावीर को कसौटी पर कसा। अस्थिक ग्राम का मंदिर, रात्रि का भयोत्पादक समय और चेतना को प्रकम्पित करने वाला यक्ष का अट्टहास। अपने इस प्रयोग को विफल देखकर उसने

कभी वन्य हाथी का रूप बनाया और कभी विषधर नाग का। महावीर तो महावीर थे। उन पर इन सबका क्या असर होता ? यक्ष थक गया, पर महावीर को विचलित नहीं कर सका। आखिर वह उनके चरणों में विनत होकर रहा।

साधनाकाल के दूसरे वर्ष में महावीर दक्षिण वाचाला से उत्तर वाचाला जा रहे थे। कनकखल आश्रम के मध्य से जाने वाले मार्ग पर वे खड़े थे। दर्शकों ने उनको रोकना चाहा, किन्तु उनके गतिशील चरण रुके नही। चण्डकौशिक सर्प का भय उनके मन का स्पर्श नही कर सका। वे उसी के आकर्षण से खिचे हुए चले। देवालय के मंडप में महावीर की ध्यान-साधना चल रही है और उधर हो रहा है चण्डकौशिक का प्रयोग। उसने अपनी विषभरी आंखों से महावीर को देखा, बार-बार देखा, सूर्य के तेज से विष को अत्युग्र बनाकर देखा, अंगूठे को डसा, शरीर से लिपटा और विषयुक्त दंशों से शरीर को क्षतविक्षत कर दिया, लेकिन महावीर निष्कम्प थे। उन्होंने आंखें खोलीं। चण्डकौशिक ने उन आंखो मे उमड़ते हुए स्नेह को पाकर अपने मन और शरीर का विष धो डाला। अब वह निर्विष होकर आत्मरमण में लीन हो गया।

कष्टों के बीहड़ जंगल में घूमते-घूमते महावीर लाट देश में प्रविष्ट हुए। साधनाकाल के पांचवें वर्ष में वे वज्र भूमि में गए और नौवे वर्ष मे सुह्म भूमि पहुंचे। वहां के आदिवासी लोगों ने उनकी जो कसौटी की, अवर्ण्य है। मनुष्य की पाशविक वृत्ति जब उग्र रूप धारण कर लेती है, तब प्राकृतिक और दैविक उपद्रवों को भी छोटा कर देती है। मन और प्राणों को उद्वेलित करने वाले उन उपसर्गों में महावीर की शांति, समता और अभय आदि तत्त्व बेजोड़ थे।

साधनाकाल के ग्यारहवें वर्ष तक पहुंचते-पहुंचते महावीर की विश्रुति बहुत अधिक व्यापक हो गयी। जनश्रुति है कि देवों की सभा में इन्द्र ने महावीर की प्रशस्ति में कुछ शब्द कहे। इन्द्र के कथन का सारांश था—इस समय मै भूलोक के महातपस्वी प्रभु महावीर से साक्षात्कार कर रहा हूं। वे महान् योगीश्वर महाध्यान में लीन है। उनकी ध्यानस्थ चेतना इतनी स्थिर है कि कोई भी देवता असुर, यक्ष, राक्षस या मनुष्य अपनी किसी भी शक्ति से उनको विचलित नहीं कर सकता।

देवसभा में एक सदस्य संगमदेव इस स्तुति को सहन नहीं कर सका। उसने इंद्र के कथन को चुनौती दी और निमिषमात्र में महावीर को विचलित करने का स्वप्न देखता हुआ उनके समीप जा पहुंचा। यह घटना पेढाल ग्राम के पेढाल उद्यान में स्थित पौलास चैत्य की है।

महावीर की ध्यानस्थ चेतना ने अपने शरीर पर भीषण रजोवर्षा का दबाव अनुभव किया, सिर पांवों तक लाल चीटियों के दंशों का अनुभव किया और देखा

मच्छरों, दीमकों, नेवलों, सांपों तथा चूहों की संख्याहीन सेना का आक्रमण । उसको विफल करते हुए, महावीर अन्तर्जगत की यात्रा करते रहे । उस यात्रा में विघ्न उपस्थित करने के लिए एक जंगली हाथी का उपद्रव शुरू हुआ । हाथी की असफलता पर सफलता की मुद्रा लगाने के लिए सिंह ने अपने ढंग से अभिनय किया । पिशाच की विकरालता अकिंचित्कर प्रमाणित हुई तो तूफान ने अपना रूप दिखाया । एक के बाद एक विभीषिका के नये-नये रूप सामने आए किन्तु महावीर की अभय चेतना का एक भी तार शिथिल नहीं हुआ ।

प्रतिकूल उपसर्गो की व्यूह-रचना में महावीर को बन्दी बनाकर संगमदेव अपने उद्देश्य में सफल नही हुआ । अब वह अनुलोम उपसर्गो का प्रयोग कर रहा है । छहों ऋतुओं के अपार वैभव का प्रदर्शन देख महावीर का मन मुग्ध नहीं हुआ तो सहस्रों अप्सरा-सी रूपसियों का घेराव देखकर भी उनका मन स्पन्दित नहीं हुआ । सुन्दरियों के कामार्त स्वर उनकी चेतना को विगलित नहीं कर सके और न ही उन्हे अपने पथ से हटा सका त्रिशला और सिद्धार्थ का करुण क्रनूदन । देवशक्ति प्रतिहत हुई । महावीर के जयनिनादों से आकाश अनुध्वनित हो उठा ।

उक्त विश्लेषण के आधार पर जाना जा सकता है कि भगवान् महावीर का संकल्प कितना दृढ़ था । उनकी इस दृढ़ संकल्पी साधना के दो रूप थे—उपवास और ध्यान। उपवास की शृंखला में उन्होंने छह मास तक निरन्तर अन्न-जल का परिहार किया तो ध्यान की दृष्टि से वे कई-कई दिनों तक अनवरत एक ही आलम्बन पर प्राणधारा को केन्द्रित कर खड़े रहते थे। कुछ व्यक्ति भगवान् महावीर की तपःसाधना से ही परिचित है । उनका कथन है कि महावीर ने ध्यान के प्रयोग नही किये । किन्तु मुझे ऐसा प्रतीत होता है कि ध्यान शून्य तपःसाधना की स्थिति उनके जीवन में आयी ही नही । साधनाकाल में संप्राप्त उपसर्गो को उन्होंने आत्मा और शरीर के भेद-विज्ञान का साक्षात् अनुभव कर निरस्त कर दिया । इस अनुभूति मे भी उनकी ध्यान-साधना ही मुख्य रूप से सहायिका रही ।

साधनाकाल के बारह वर्ष सम्पन्न हो गये, पर साधना का उद्देश्य फलित नही हुआ । इसलिए इतनी लम्बी अवधि के बाद भी महावीर रुके नहीं । वे सत्य दर्शन और आत्मदर्शन की अभीप्सा से चलते रहे । उनकी इस गति को विराम मिला वैशाख शुक्ला दशमी के दिन । उस दिन वे जंभिकग्राम की ऋजुबालिका नदी के पास पहुंचे। वहां श्यामाक गाथापति के खेत में शाल वृक्ष के नीचे वे गोदोहिका आसन में सूर्य का आतप झेलने लगे । अपने भीतर तिरोहित कैवल्य सूर्य के उदय हेतु उनकी यह प्रक्रिया चल रही थी । वे शुक्ल ध्यान की अंतरिका में लीन थे । दिन के चतुर्थ प्रहर में विजय-मुहूर्त और उत्तरा-फाल्गुनी नक्षत्र का योग मिला । चेतना के केन्द्र

में एक विस्फोट हुआ और मोहकर्म की श्रृंखला टूटकर एकदम अलग हो गयी। उसके साथ ही ज्ञान और दर्शन के आवरण हटे तथा आत्मोपलब्धि की सारी बाधाएं दूर हो गयीं। भगवान् महावीर भीतर और बाहर दोनों ओर से आलोकित हो उठे। कैवल्य सूर्य की सारी आभा दूर-दूर तक फूट पड़ी। वैशाख शुक्ला दशमी का वह दिन कृतार्थ हो गया। हम भी इस दिन को मानकर कृतार्थता का अनुभव करते है और आशा करते है कि भगवान् महावीर द्वारा निरूपित साधना पद्धति का अनुसरण करते हुए अपने कैवल्य सूर्य को लोकशीर्ष पर उदित करने में अवश्य सफल होंगे।

महावीर के पदचिह्न

भगवान् महावीर अहिसा के सूत्रधार माने जाते है। क्यो ? किसी भी धर्मपुरुष ने यह नही कहा कि जीवो को मारो, जीवो को सताओ। प्रत्येक महापुरुष ने अहिसा पर बल दिया है फिर महावीर ही अहिसा के सूत्रधार क्यो ? इस प्रश्न के गहरे में उतरकर इसका उत्तर खोजना होगा।

महावीर अहिसा के कोरे व्याख्याकार नही थे। वे प्रयोगकार थे। उन्होने अपने जीवन मे अहिसा के सम्भवतः सर्वाधिक प्रयोग किए। अहिसा के प्रयोगों मे अपना पराक्रम और शौर्य-वीर्य प्रदर्शित किया, इसीलिए वे महावीर बने। वे क्षत्रियपुत्र थे। उनके पिता लिच्छवि गणराज्य के एक शासक थे। शासककुल मे जनमे राजकुमार को एक बार भी लड़ाई लड़ने का मौका नहीं मिला, फिर वे महावीर कैसे बने? उस समय वे वर्धमान ही थे और वर्धमान ही रहे। उनके जन्मकाल से कुल की सम्पदा बढ़ती गई। माता पिता ने कुमार को वर्धमान नाम से सबोधित किया। वे अहिसा के प्रयोग करते-करते महावीर बने। उन्हे ज्ञात हो गया कि शरीर अतिम सचाई नही है। उसके भीतर कुछ और है। वह परम सत्य है। वे आत्मा से जुड़ गए। शरीर यात्रा का साथी मात्र रह गया। हम सोचते है कि महावीर ने शरीर को बहुत कष्ट दिए। यह चिंतन अहिसा की भूमिका का नहीं है। अहिंसक किसी को कष्ट दे ही नही सकता– न अपने को और न दूसरे को। जो समाधि मे जाता है उसके प्राणवायु की जरूरत कम हो जाती है। दूसरा सोचता है कि अमुक प्राणवायु के विना कैसे जीता है ? पर जो समाधि मे है उसके लिए वैसे जीना बहुत स्वाभाविक है। जो चेतना-केन्द्रित हो जाता है, उसके भोजन की जरूरत कम होती जाती है। हम सोचते है कि महावीर ने दीर्घकालीन तपस्याए की, शरीर को बहुत सताया। पर महावीर के लिए वह बहुत स्वाभाविक था। वह अहिसा का पहला प्रयोग था। जो चेतना-केन्द्रित नही होता, वह देह के प्रति अनासक्त नही हो सकता। जो देह के प्रति अनासक्त नहीं होता, वह अहिसक नही हो सकता। व्यवहार की भाषा में इसे हम कहते है शरीर को सताना और अहिसा की गहराई मे उतर कर इसे कहते हैं चैतन्य के साथ एकरस हो जाना।

महावीर कुलपति के आश्रम मे रहे। झोपड़ी की सुरक्षा नही की। कुलपति ने उलाहना दिया। महावीर का मन क्षुब्ध नहीं है। उन्होने सोचा–कुलपति के लिए आश्रम का जितना मूल्य है, उतना मेरा नही हुआ। आश्रम पर उसका स्वामित्व है, मुझ पर उसका स्वामित्व नहीं है। स्वामी अपने स्व की रक्षा पर जितना ध्यान देगा उतना उस पर नही देगा, जो उसका स्व नही है। इसलिए मेरी अहिंसा कहती है कि मेरी उपस्थिति जहां दूसरे मे अप्रीति उत्पन्न करे वहां मुझे नही रहना चाहिए। वे आश्रम को छोड़ चले गए, फिर बहुत बार वे शून्य घरो में रहे। उन्होने यह उपदेश दिया कि अहिसक मुनि उन घरों मे भिक्षा के लिए न जाए, जहां जाने से अप्रीति उत्पन्न होती हो, उन स्थानो में न रहे, जहां रहने से अप्रीति उत्पन्न होती हो। अहिसा विराट् प्रेम है। अहिंसक की प्रेमपूर्ण दृष्टि का अभिषेक पाकर हिसा की क्रूरता धुल जानी चाहिए। फिर अहिसक अपनी उपस्थिति को अप्रीति का हेतु कैसे बना सकता है ?

धार्मिक होने का अर्थ यह नही कि जीवन मे कष्ट न आए। धार्मिक होने का अर्थ है कि जीवन मे आने वाले कष्टो को वह हस-हस कर सहे, सतुलन न खोए। महावीर ने कष्टों को हसते-हंसते सहा, इसलिए मनुष्यो ने कहा– यह महावीर है, देवो ने कहा– यह महावीर है। चारो ओर से आग फैलती गई। घास-फूस जलता गया। महावीर ध्यान मे खड़े थे। लोगो ने कहा... आग की लपटे भागी आ रही है। आप यहा से चले जाए। वे वही खड़े रहे। एक इच भी नही सरके। उन्होने सोचा– भय हिंसा का मूल है। जिसे मौत का भय है वह अहिसक नही हो सकता। वह कैसा आत्मवादी है जो जीवन और मृत्यु में एकत्व का अनुभव नही करता। जीवन को प्रिय और मृत्यु को अप्रिय मानने वालो ने भय को पाला-पोसा है और भय ने शस्त्र, लड़ाई और सहार की परम्परा को आगे बढ़ाया है जीवन की आशंसा और मौत का भय दोनों हिसा के मूल बीज है। महावीर की अहिसा ने मृत्यु से भयभीत होकर आग की ज्वाला से पलायन करने की स्वीकृति नही दी। उनके पैर जल गए। पर वे अपनी साधना से विचलित नही हुए।

पौराणिक अनुश्रुति है कि इन्द्र ने अपनी परिषद मे कहा– महावीर जैसा कष्ट सहिष्णु मनुष्य इस पृथ्वी पर कोई नही है। उन्हें कोई देव भी अपने पथ से विचलित नही कर सकता। परिषद के सदस्य देवों ने इन्द्र की बात का अनुमोदन किया। किन्तु संगम नाम का देव इन्द्र की बात से सहमत नही हुआ। उसने कहा– कोई भी मनुष्य इतना कष्टसहिष्णु नही हो सकता, जिसे देवता अपनी शक्ति से विचलित न कर सकें। यदि आप मेरे कार्य मे बाधक न बनें तो मै उन्हें विचलित कर सकता हूं। इन्द्र को वचनबद्ध कर संगम मनुष्य लोक में आया। उसने महावीर को कष्ट

देना शुरू किया । केवल एक रात्रि में बीस बार मारक कष्ट दिए । उसने हाथी बनकर महावीर को आकाश में उछाला, वृश्चिक बनकर काटा, वज्र चीटियों का रूप धारण कर उनके शरीर को लहुलुहान किया फिर भी महावीर के मन में कोई प्रकंपन नहीं हुआ । विचलन तब होता है जब व्यक्ति हिंसा से प्रताड़ित होता है। हिसा की प्रताड़ना तब होती है । जब वह संवेदन के साथ ध्यान को जोड़ता है और यह मानने लग जाता है कि कोई दूसरा मुझे सता रहा है । अहिंसा का सूत्र है कि ध्यान को संवेदन के साथ न जोड़ें और किसी दूसरे को कष्टदाता न मानें। महावीर अपने कर्म-संस्कारों के सिवाय किसी दूसरे को दुःख देने वाला नहीं मानते थे और अपने ध्यान को चैतन्य से विलग नहीं करते थे । इसलिए संगम भयंकर कष्टों का वातावरण पैदा करके भी अपने लक्ष्य को पूरा नहीं कर सका।

संगम ने महावीर को विचलित करने का दूसरा रास्ता अपनाया। उसने रूपसियों की कतार खड़ी की । उन्होंने महावीर को अपने प्रेम जाल में फंसाने का प्रयत्न शुरू किर दिया । अहिसक को प्रतिकूल और अनुकूल दोनों परिस्थितियों पर समान रूप से विजय प्राप्त करनी होती है । अनुकूल वातावरण में अविचलित रहना प्रतिकूल वातावरण की विजय से अधिक कठिन है । पर चैतन्य की महाज्वाला के प्रदीप्त होने पर प्रतिकूल और अनुकूल दोनो ईधन उसमें भस्म हो जाते हैं, उसे भस्म कर नहीं पाते ।

संगम का धैर्य विचलित हो गया। उसने महावीर के पास आकर कहा– 'भंते ! अब आप सुख से रहें । मैं जा रहा हूं। आपकी अहिंसा विजयी हुई है, मेरी हिसा पराजित । मै आपको कष्ट दे रहा था और आप मुझ पर करुणा का सुधा सिंचन कर रहे थे । मैं आपको वेदना के सागर में निमज्जित कर रहा था और आप यह सोच रहे थे कि संगम मुझे निमित्त बनाकर हिंसा के सागर में डूबने का प्रयत्न कर रहा है । आपके मन मे एक क्षण के लिए भी मुझ पर क्रोध नहीं आया । मुझे इसका दुःख है कि मैंने आपको बहुत सताया, किन्तु मुझे इस बात का गर्व भी है कि समत्व की अनुपम प्रतिमा को मैने अपनी आंखों से देखा ।'

महावीर की अहिंसा जीवों को न मारने तक सीमित नहीं थी । उसकी सीमा सत्य शोध के महाद्वार का स्पर्श कर रही थी । वे साधनाकाल में अधिकांश समय मौन रहे । उनके मौन का अर्थ था कि सत्य का अनुभव किया जा सकता है, वह भाषा के द्वारा जाना नहीं जा सकता, कहा नहीं जा सकता । महावीर के पास अनेक श्रमण और ब्राह्मण आते, गृहस्थ, परिव्राजक और संन्यासी आते । वे अनेक प्रकार के प्रश्न पूछते । महावीर उनके प्रश्नों का उत्तर अनेकान्त की भाषा में देते । अनेकान्त का अर्थ है कि भाषा द्वारा सत्य का समीचीन प्रतिपादन नहीं हो सकता, इसलिए

हर वचन विकल्प के साथ 'स्यात्' शब्द का प्रयोग करना चाहिए । 'स्यात्' शब्द इसकी सूचना देता है कि जो कहा जा रहा है वह पूर्ण सत्य नहीं कहा जा रहा है । सोमिल ब्राह्मण ने पूछा– भंते ! आप एक हैं या अनेक ? महावीर ने कहा–मै एक भी हूं और अनेक भी हूं । मेरा चैतन्य सदा चैतन्य ही है । वह कभी अचेतन नहीं होता, इसलिए मै एक हूं । मैने अतीत में असंख्य अवस्थाओं को भोगा है और वर्तमान में भोग रहा हूं, इसलिए मै अनेक हूं ।

धर्म के क्षेत्र में सत्य के निरूपण को लेकर बड़े-बड़े विवाद होते रहे है । महावीर बहुत मृदु थे । वे विवाद को कभी पसंद नहीं करते थे । वे अपने अनुभव की बात बताकर मौन हो जाते थे, तर्क के द्वारा किसी को उलझाते नहीं थे । उन्होंने श्रमणों से कहा सबको धर्म का उपदेश दो । अमीर और गरीब दोनों को धर्म कहो । श्रोता को ठेस लगे वैसी बात मत कहो । सत्य के लिए भी यदि विवाद हो जाए तो मौन हो जाओ । मौन स्वयं सत्य है । उतना ही बोलो, जितना बोलना सत्य पर असत्य का आवरण न डाले । महावीर निर्ग्रंथ थे । भीतरी और बाहरी सभी ग्रन्थियों से मुक्त । मूर्छा की ग्रन्थि से मुक्त हुए बिना कोई भी अहिंसक नही हो सकता । उनके पास न कोई वस्त्र था और न पात्र । शरीर ही साधन था और वही उपकरण । वही वेश और वही सब कुछ । उन्होंने बहुत बार नीरस भोजन किया । सरस आहार पर मूर्च्छा होना जरूरी नही है, किन्तु जहां भी मूर्च्छा होती है वह परिग्रह बन जाता है । इसीलिए वे भोजन के विविध प्रयोग करते रहे । उन्होंने अस्वाद को स्वतंत्र व्रत नही बताया । वह अपरिग्रह का ही एक अंग है। अपरिग्रह की साधना के लिए अस्वाद की साधना अनिवार्य है । और अहिंसा की साधना के लिए अपरिग्रह की साधना अनिवार्य है ।

कभी न बुझने वाला दीप

दीपावली एक ऐतिहासिक पर्व है। इसके साथ अनेक परम्पराएं जुड़ी हुई है। अनेक महापुरुषों का जीवन इस पर्व से संश्लिष्ट है। अनेक महापुरुषों ने इस दिन अपनी जीवन-यात्रा परिसपन्न कर निर्वाण पद प्राप्त किया। श्रमण भगवान् महावीर का परिनिर्वाण दीपावली के दिन ही हुआ। वह दिन कार्तिक कृष्णा अमावस्या का दिन था। उस दिन दीपक की एक लौ बुझने से पहले अमिट हो गई, एक सूरज डूबने से पहले स्थिर हो गया। एक महामानव अपने समग्र अस्तित्व के साथ सिमटकर लोकशीर्ष पर अवस्थित हो गया। दीपक की वह लौ, सूर्य का वह प्रकाश और महामानव की वह चेतना आज भी अपनी उज्ज्वलता से विश्व-मानस को अवभासित कर रही है।

सामान्यतः व्यक्ति की मृत्यु पर शोक मनाया जाता है, पर निर्वाण होने से शोक नही, उल्लास होता है। क्योंकि निर्वाण आत्मा की अमरता है, आत्मा की दिव्य-ज्योति का पूर्ण रूप से प्रकटीकरण है। भगवान् महावीर का निर्वाण हुआ, लोगो ने दीपक जलाये। अमावस्या का सघन अंधकार प्रकाश में रूपायित हो गया। अधकार का कण-कण प्रकाश को समर्पित हो गया। दीपक के उस आलोक मे हम एक प्रतीक को पढ़ते है। वह प्रतीक है जीवन मे व्याप्त शाश्वत सत्य का। जिस व्यक्ति के जीवन में शाश्वत सत्य का महासूर्य उदित हो जाता है, वह व्यक्ति निर्वाण को उपलब्ध करता है। यह निर्वाण ही परम शान्ति है।

भगवान् महावीर ने सत्य की साधना की। साधना द्वारा उन्होने अपनी चेतना को अनावृत किया। चेतना पर जमी हुई आवरण की परते हटी और सत्य से साक्षात्कार हो गया। सत्य से साक्षात्कार ही नही हुआ, सत्य उन्हें उपलब्ध हो गया। सत्योपलब्धि के वाद वे लोक-मानस मे सत्य का अवतरण करने के लिए अनुक्षण कटिबद्ध रहे। उन्होने परम्परित और रूढ़ विश्वासो का उन्मूलन कर सत्य का साक्षात्कार करने के लिए एक महत्त्वपूर्ण सूत्र दिया, वह है सापेक्षता। कोई भी मनुष्य एकागी दृष्टि से ध्रुव सत्य का साक्षात्कार नही कर सकता। आजकी सबसे बड़ी समस्या है—एकागी

दृष्टिकोण और पूर्ण सत्य का अस्वीकार। सापेक्ष दृष्टिकोण सत्य की तर्क-संगत सत्ता है। इस सत्ता से असहमति का अर्थ है सत्य के साथ असहमति। सत्य के साथ असहमति प्रकट करने वाला न निर्वाण को उपलब्ध होता है और न परम शान्ति को।

भगवान् महावीर का सम्पूर्ण जीवन सापेक्षता का जीवंत प्रतीक है। उन्होंने किसी भी पक्ष से अनुबंधित होकर इस प्रतीक को धूमिल नही होने दिया। ज्ञान की अपूर्णता या एकांगिता में सत्य खंडित होता है। भगवान् महावीर ने ऐसे सत्य का कभी समर्थन नही किया।

भगवान् महावीर के ज्येष्ठ शिष्य गणधर गौतम उपासक आनन्द की पौषधशाला में गए। आनन्द उस समय 'मारणान्तिक संलेखन व्रत' की आराधना कर रहा था। आनन्द ने गणधर गौतम की वन्दना की और गौतम ने आनन्द की चित्त-समाधि के सबंध में जानकारी ली। आनन्द ने पुनः विनम्रतापूर्वक वन्दना कर प्रश्न किया— भन्ते! इस गृहस्थ को अवधि ज्ञान प्राप्त हुआ है। मै पूर्व-पश्चिम और दक्षिण दिशा में लवण समुद्र को पांच सौ योजन तक जान रहा हूं, देख रहा हूं। उत्तरदिशा में चुल्लहेमवन्त पर्वत तक जान रहा हूं देख रहा हूं। ऊपर प्रथम सौधर्म देवलोक तक और नीचे प्रथम नरक के लोलुच नरकावास तक जान रहा हूं, देख रहा हूं।

गणधर गौतम आनन्द के इस कथन से सहमत नही थे। वे बोले— आनन्द तुम भूल कर रहे हो। श्रावक को अवधिज्ञान हो सकता है, पर इतना बड़ा नहीं। आनन्द! इस समय तुम अनशन में हो। श्रावक को अनशन मे असत्य-संभाषण का त्याग होता है। तुमने त्याग खंडित किया है, इसलिए उसकी आलोचना करो— प्रायश्चित स्वीकार करो।

श्रावक आनन्द ने गणधर गौतम की बात सुनकर विनम्रता से कहा—भन्ते! आलोचना सत्य भाषण की होती है या असत्य भाषण की? यदि असत्य संभाषण की आलोचना होती है तो वह आपको ही करनी होगी।

आनन्द के इस कथन ने गणधर गौतम को संदिग्ध बना दिया। वे भिक्षा लेकर सीधे भगवान् महावीर के पास पहुंचे और आनन्द उपासक से संबंधित वह सारा प्रसंग दोहरा दिया। भगवान् महावीर के सामने एक ओर उनका प्रथम शिष्य गणधर गौतम था और दूसरी ओर था एक गृहस्थ उपासक आनन्द। उन्होंने गौतम को संबोधित कर कहा— गौतम! अक गृहस्थ को इतना बड़ा अवधिज्ञान हो सकता है। आनन्द का कथन सही है। उसे इतना बड़ा अवधिज्ञान उपलब्ध हुआ है। तुम वापस जाओ और आनन्द से क्षमा याचना करो। उस दिन गणधर गौतम के दो दिन के उपवास का पारणा था। वे पारणा किए बिना ही उलटे पांव लौटे।

आनन्द के घर पहुंचकर उन्होंने अपने आग्रह और अयथार्थ भाषण के लिए क्षमा याचना की ।

भगवान् महावीर का यह जीवन-प्रसंग सापेक्षता का दर्शन देता है । इस घटना के संदर्भ में की गई क्षमा-याचना किसी कटुता के लिए नही थी । इसमें गौतम ने अपनी प्रज्ञा के अपराध को स्वीकृत किया, भूल को स्वीकृति दी, अपूर्णता को स्वीकृति दी और एकांगी दृष्टिकोण को स्वीकृति दी । भगवान् महावीर ने यहां न गौतम का पक्ष लिया और न आनन्द का । उन्होने सत्य को अभिव्यक्ति दी । गौतम स्वयं सत्य के साधक थे । उन्हें अपने अपूर्ण सत्य के प्रतिपादन का अनुताप हुआ और उसी समय उनके पांव उठ गए अपूर्णता को पूर्णता में परिणत करने के लिए ।

इस घटना के संदर्भ में वर्तमान भारतीय मानस का अध्ययन किया जाए तो सामाजिक और राजनैतिक क्षेत्र की सबसे बड़ी भूल या भ्रान्ति समझ में आ जाती है । आज की सारी समस्या का मूल है– पक्षपात । जहॉ व्यक्ति किसी पक्ष मे बध जाता है और उस पक्ष की भूल स्वीकारने के लिए तैयार नहीं होता, वह सत्य को कैसे पा सकता है ? भगवान् महावीर मे किसी प्रकार का पक्षपात नही था । इस संदर्भ में उनके जीवन का एक दूसरा घटना-प्रसग ज्ञातव्य है ।

श्रावस्ती नगरी के उद्यान मे भगवान् महावीर समवसृत थे । वहां के प्रमुख उपासक शख, पोक्खलि आदि हजारो व्यक्ति समवसरण मे उपस्थित थे । प्रवचन संपन्न होने के बाद शख ने अपने साधर्मिक भाइयो के सामने सहभोज का प्रस्ताव रखा । प्रस्ताव स्वीकृत हो गया । शहर मे भोजन की तैयारी हो गई । सब लोग पहुंच गए, पर शख नही आए ।

इधर शंख जब अपने घर लौटे तो उन्हे याद आया कि आज पाक्षिक पर्व का दिन है इसलिए मुझे उपवास और पौषध कर आत्माराधना करनी चाहिए । घर पहुंच अपनी पत्नी उत्पला को सूचित कर वे पौषधशाला मे कायोत्सर्ग और ध्यान का प्रयोग कर आत्मलीन हो गए ।

उधर लोग काफी समय तक तो श्रावक शंख की प्रतीक्षा करते रहे, फिर पोक्खलि श्रावक को उसे लिवा लाने के लिए भेजा । पोक्खलि को उत्पला के द्वारा सूचना मिली कि शंख पौषध मे है । वह उन्हे उपालम्भ देकर चले और श्रावकों के पास पहुंचकर उन सबको स्थिति से अवगत करा दिया ।

प्रातःकाल शंख पौषध पूरा कर भगवान् महावीर के दर्शन करने पहुचे । उधर वे सभी श्रावक भी पहुंच गये । भगवान् के पास शख को देखकर वे अपना रोष प्रकट करते हुए बोले– वाह शंखजी ! हमारे साथ अच्छी मजाक की । आपको पौषध

करना था तो पहले कह देते । हमें धोखे में रखकर आपका धर्म करना कहां तक उचित है ?

शंख ने सब कुछ सुना, पर वे शांत रहे । उस समय भगवान् महावीर ने सब श्रावकों को संबोधित कर कहा– श्रावको ! तुम शंका की अवहेलना मत करो। इसके मन में वंचना का कोई भाव नही है । यह प्रियधर्मी है, दृढ़धर्मी है और सुद्रष्टा की जागरिका से जागृत है । इसके प्रति अन्यथा चिन्तन करना उचित नहीं है । श्रावक भगवान् के शव्दों से समाहित हो गए ।

इस घटना को वर्तमान राजनीति के संदर्भ मे पढ़े तो अल्पमत और बहुमत को लेकर बहुत बड़ा पक्षपात हो सकता है । पर भगवान् महावीर ने यह नही सोचा कि मै इतने लोगो को नाराज कर एक व्यक्ति की सही स्थिति का स्पष्टीकरण कैसे दे सकता हूं । ऐसी बात सोचने का उनका मानस ही नही था । क्योंकि वे किसी पक्ष से नही, सत्य से बंधे हुए थे । सत्य का प्रतिपादन करते समय वे कभी प्रकम्पित नही हुए । उनकी सत्य-शोध उस बिन्दु पर पहुंच चुकी थी, जहा वे स्वयं सत्य बन गए ।

आज की सिद्धातहीन और पक्षपातपूर्ण राजनीति के सामने एकमात्र लक्ष्य है सत्ता की सुरक्षा । सत्ता को बनाये रखने के लिए अपने पक्ष का प्रबल होना जरूरी है । पक्ष की प्रबलता के सामने औचित्य और अनौचित्य का सारा विवेक समाप्त हो जाता है । इस स्थिति मे व्यक्ति अपनी भूलों पर ही नही, अपने पक्ष की भूलो पर भी आवरण डालने का प्रयत्न करता है । उसे प्रतिपक्ष की अच्छी बाते भी बुरी लगती है और स्वपक्ष की गलत नीतियो मे भी सत्य का दर्शन होता है । ऐसी स्थिति मे राजनीति का आकाश पक्षपात की नीति से धूमिल हो उठता है । इस सघन अधकार मे एकमात्र प्रकाश-किरण है सत्यग्राही दृष्टि । यह दृष्टि हाथ लग जाए तो केवल राजनैतिक ही नही, पारिवारिक और सामाजिक समस्याए भी समाहित हो सकती है ।

उक्त समस्याओ से भी ज्वलंत समस्या है सत्योपलब्धि की बाधा । वह बाधा क्या है ? और उसे नियन्त्रित कैसे किया जा सकता है ? इस समस्या के मूल मे झाका जाए तो वहां उभरकर आती है राग और द्वेष की आकृतिया । राग और द्वेष को नियन्त्रित करने की प्रक्रिया समझे बिना जीवन मे तटस्थता नही आ सकती। यद्यपि सामाजिक-राजनैतिक स्तर पर राग-द्वेष को जीतने की साधना मुनि की भांति नही हो सकती, फिर भी इस संबध में उपेक्षा करना किसी के हित मे नही है । महामात्य कौटिल्य ने लिखा है कि राजा को भी जितेन्द्रिय होना चाहिए। अजितेन्द्रिय राजा अपनी प्रजा को न्याय नही दे सकता । वह प्रजा के धन का हरण कर सकता

है और कुलवधुओं पर अत्याचार कर सकता है । अजितेन्द्रिय राजा विलासिता मे डूबा रहता है । उसके कारण राज्य का पतन हो जाता है ।

प्राचीन समय के राजाओं का स्थान आज के राजनेताओं और अधिकारियो ने ले रखा है । उनके लिए भी एक सीमा तक इन्द्रिय-विजय और राग-द्वेष को नियन्त्रित करना जरूरी है । जब तक राग-द्वेष विजित या नियन्त्रित नही होते है, सत्य उपलब्ध नही हो सकता । भारतीय राजनीति में जब तक सत्य का सूरज उदित नहीं होता है तब तक उसके भविष्य पर छाए हुए अंधकार के बादल हट नहीं सकते । आज भारत के भविष्य को लेकर कितनी आशंकाएं है । कोई भी व्यक्ति आश्वस्त नही है । राष्ट्रीय हितों पर व्यक्तिगत स्वार्थ-चेतना हावी हो रही है । राग और द्वेष की ग्रंथियां अधिक उलझती जा रहीं है । पक्षपात की नीति काम कर रही है । इस सदर्भ में भगवान् महावीर को पढ़ा जाए तो नया प्रकाश मिल सकता है । प्रकाश का पर्व है दीपावली । यह आने वाली पीढ़ी के लिए रोशनी का नया स्रोत बहाए, उसके लिए अपेक्षा है बाहरी दीप की तरह भीतर का दीप जलाने की । जिस क्षण भीतर का दीप प्रज्ज्वलित होता है, सत्य पर जमी हुई राग-द्वेष की परते स्वयं हट जाती है । उन परतो के हटते ही सत्य अनावृत हो जाता है । अनावृत सत्य को पाना ही भीतर को आलोकित करना है । भीतर के दीप का जलना ही भगवान् महावीर को जानने, मानने और पाने की सार्थकता है ।

भगवान् महावीर और सदाचार

मानव सस्कृति के विकास मे सदाचार का मूल्यवान् योग रहा है। किसी भी सस्कृति का अभ्युदय उसके परिवेश मे पनपने वाले आचार विषयक मूल्यो से ही हो सकता है। भारतीय सस्कृति अध्यात्म-प्रधान सस्कृति है। इसकी सास्कृतिक चेतना का विकास लगभग तीन हजार वर्ष प्राचीन माना जाता है। तव से अब (ईसा-पूर्व एक हजार से ईसवी सन् १९७७) तक अनेक ऋषि-महर्षियो और मनीषियो ने अपनी सूझ-वूझ से अपने-अपने समय में नयी-नयी आचार-संहिताए प्रस्तुत की है। उन सब आचार-सहिताओ का ऐतिहासिक और तुलनात्मक अध्ययन किया जाए तो सदाचार के संबध मे एक वृहत् शोध-ग्रथ तैयार हो सकता है। भगवान् महावीर भारतीय अन्तरिक्ष मे एक विशिष्ट नक्षत्र के रूप मे उदित हुए और उन्होने अपने उज्ज्वल आलोक से लोक-जीवन को आलोकित किया। सदाचार के सबध मे उनका जो मन्तव्य था और जिस पद्धति से उन्होने उसको जन-जीवन मे अवतरित किया, उसकी सक्षिप्त चर्चा प्रस्तुत निबन्ध का उद्देश्य है।

भगवान् महावीर ईसा-पूर्व छठी शताब्दी के महान् क्रातचेता धर्मप्रवर्तक थे। उनके चिन्तन मे किसी प्रकार का पूर्वाग्रह और रूढ धारणाए नही थीं। उन्होने सत्य से साक्षात्कार करने के बाद तत्त्व-प्रतिपादन किया था, इसलिए लोकधारणा से प्रतिगामी मूल्यो को प्रस्थापित करने मे उन्हे किसी प्रकार की हिचकिचाहट नही हुई। उन्होने अपने ज्ञान के दर्पण में मनुष्य की उन शाश्वत प्रवृत्तियो के प्रतिबिम्बों को पकड़ा, जो मानव जाति को नैतिक पतन की ओर अग्रसर कर रहे थे। उनके अन्तःकरण में आध्यात्मिक मूल्यो के उत्कर्ष का सुदृढ़ संकल्प था। उसी संकल्प से प्रेरित होकर उन्होने एक सार्वभौम और सार्वकालिक आचार-सहिता दी जो ढाई हजार वर्ष बाद भी अपनी उपयोगिता को उसी प्रकार प्रमाणित कर रही है।

भगवान् महावीर किसी भी समस्या के मूल और परिणाम—दोनो को देखते थे और असत् परिणाम से अपना बचाव करते हुए उसका मूलोच्छेद करने का पथ दिखाते थे। उनका निर्देश था—'अग्गं च मूलं च विगिच धीरे'—धीर वह होता है

जो बुराई के मूल और अग्र दोनों को काट देता है। उनकी दृष्टि में बुराई के संस्कारो को मिटाने का मूल्य अधिक था। क्योकि संस्कार मिटने के बाद व्यक्ति कठिन-से-कठिन परिस्थिति में भी वह काम करने के लिए उद्यत नही होता।

भगवान् महावीर ने सदाचार के जो सूत्र दिए वे सबके लिए उपयोगी थे, वर्तमान में हैं, और भविष्य में रहेंगे। उनकी समग्र चिन्तनधारा मुख्यत. पांच स्रोतों से प्रवाहित हुई। वे पांच स्रोत है—अहिंसा, सत्य, अचौर्य, ब्रह्मचर्य और अपरिग्रह। इन पांचों सूत्रों की सर्वांगीण साधना का पथ भगवान् महावीर को इष्ट था, इसलिए वे स्वयं इसी मार्ग पर चले। किन्तु इसके साथ उन्होंने यह भी देखा कि हर व्यक्ति सदाचार की इस ऊंची भूमिका तक पहुंचने में सक्षम नहीं है। यदि जन-साधारण को उसकी क्षमता के अनुरूप पथ नहीं मिला तो वह आगे बढ़ने में सफल नही हो सकेगा। लोक-कल्याण की इसी मंगलमय भावना से संप्रेरित होकर उन्होने उक्त पांच सूत्रों की व्याख्या दो प्रकार से की। जो व्यक्ति मन, वचन और कर्म से हिंसा, झूठ, चोरी, अब्रह्मचर्य और परिग्रह से विरत होना चाहते थे उन्हें विशिष्ट साधना का पथ दिखाया। जो व्यक्ति एक साथ इतनी छलांग नहीं भर सकते थे, उन्हें यथाशक्ति सदाचार का पालन करने की दिशा उपलब्ध हुई। यथाशक्ति का सीमाकन व्यक्ति अपनी सुविधा के अनुसार मनमाना न कर ले, इस दृष्टि से भगवान् महावीर ने कुछ व्यावहारिक मानदंड स्थापित कर दिए, जिनके आधार पर सदाचार की मूलभूत किन्तु प्रारम्भिक जानकारी हो सके।

सदाचार का पहला सूत्र है 'अहिंसा'। इसकी परिभाषा है—चलने-फिरने-वाले निरपराध प्राणियों की संकल्पपूर्वक हिंसा नहीं करना। इसका विश्लेषण है—

मनुष्य या पशुओं को रज्जु आदि के गाढ़ बन्धन से नही बांधना।

- मनुष्य या पशु पर मारक प्रहार नहीं करना।
- मनुष्य या पशु के अवयवों को विच्छिन्न नही करना।
- मनुष्य या पशु पर अधिक भार नहीं लादना।
- अपने आश्रित प्राणियों के आहार-पानी आदि का विच्छेद नही करना।

सदाचार का दूसरा सूत्र है 'सत्य'। व्यवहार और व्यवसाय मे सत्य की साधना करने वाला व्यक्ति किसी अन्य व्यक्ति पर दोष का आरोपण नही करता।

- किसी व्यक्ति की गुप्त मंत्रणा का भेद नही देता।
- किसी व्यक्ति को असत्य संभाषण के लिए प्रेरित नही करता।
- झूठा हस्ताक्षर नही करता।
- विवाह, विक्रय आदि के प्रसंग में, धरोहर लौटाने तथा साक्षी देने के सम्बन्ध मे असत्य का सहारा लेकर किसी को धोखा नही देता।

सदाचार का तीसरा सूत्र है 'अचौर्य ।' नीतिकारों ने चोरी को सात दुर्व्यसनों में एक व्यसन के रूप में स्वीकार कर सज्जन नागरिकों के लिए इसको सर्वथा हेय बताया है । भगवान् महावीर ने इस संदर्भ में मार्गदर्शन देते हुए कहा–तस्करी में प्राप्त वस्तु को खरीदना, तस्करी की प्रेरणा देना, राष्ट्र द्वारा निर्धारित व्यवसायिक सीमाओं का अतिक्रमण करना, झूठा माप तोल करना, मिलावट करना, असली वस्तु को दिखाकर नकली देना आदि प्रवृत्तियां मनुष्य के आचरण को दूषित करती है, अतः सदाचारी व्यक्ति को इन सबसे अपना बचाव करना चाहिए ।

सदाचार का चौथा सूत्र है 'ब्रह्मचर्य' । जीवन भर ब्रह्मचर्य की परिपूर्ण साधना चेतना के ऊर्ध्वारोहण की प्रशस्त दिशा है, पर व्यक्ति के लिए साधना का यह क्रम इतना सरल नहीं है । इसलिए इस विषय में उन्मुक्त यौन-सम्बन्धों और कामोत्तेजक प्रवृत्तियों पर अंकुश लगाने के लिए कुछ नियम बना दिए गए जो इस प्रकार हैं–

- विवाहित पति या पत्नी के अतिरिक्त किसी भी स्त्री-पुरुष के प्रति वासनापरक चिन्तन, वाणी और चेष्टा का परिहार करना ।
- कुछ समय के लिए वेतन देकर किसी के साथ अनैतिक सम्बन्ध नही रखना ।
- अपरिगृहीत स्त्री या पुरुष के साथ गलत सम्बन्ध नहीं रखना ।
- पारिवारिक व्यवस्था के अतिरिक्त किसी दूसरे व्यक्ति को कामभोग के लिए प्रेरित नहीं करना ।
- इन्द्रियों के विषय में तीव्र आसक्ति का परिहार करना ।

सदाचार का पांचवां सूत्र है 'अपरिग्रह' । समाज और परिवार से अनुबंधित रहने वाला व्यक्ति परिग्रह को सर्वथा छोड़ नही सकता, पर उसका अल्पीकरण अवश्य कर सकता है । इसलिए इस सदाचार को अपना आदर्श माननेवाला व्यक्ति भूमि, मकान, सोना-चादी, पशु-पक्षी, धनधान्य तथा अन्य घरेलू उपकरणो की सीमा करता है और कृत सीमा का अतिक्रमण नही करता । इससे सग्रह और शोषणमूलक वृत्तियो का परिष्कार होने के साथ विलासिता की वृत्ति भी नियत्रित होती है ।

भगवान् महावीर मानवीय मूल्यों के महान् मंत्रदाता थे । उन्होंने इन पांच मौलिक सूत्रो को पोषण देने के लिए अनेक सूत्र दिए । कही विस्तार और कहीं संक्षेप मे उन सूत्रो का विश्लेषण हमें साहित्य में उपलब्ध है । इस साहित्यिक उपलब्धि मात्र से जन-जीवन सदाचार से लाभान्वित नहीं हो सकता । सदाचार का लाभ सदाचारी बनने से ही मिल सकता है । भगवान् महावीर ने उस समय सदाचार की जो मौलिक बातें बताई वे आज भी उतनी ही मौलिक है । वे उस समय समस्याओं का जितना समाधान देती थी, आज भी उतना ही देती है । वे उस युग में मानव-जाति को जिस निराबाध और स्थायी शान्ति का आश्वासन देती थी, आज भी देती है ।

इसलिए उस सदाचार-संहिता को जीवनगत कर पल-पल उसके प्रति सजग रहने की अपेक्षा है ।

भगवान् महावीर की उसी सदाचार-संहिता को हमने युग की भाषा में अणुव्रत के नाम से प्रस्तुति दी है । धर्म, जाति, वर्ग, राष्ट्र, प्रान्त, भाषा, वर्ण, लिग आदि संकीर्ण वीथियों से मुक्त विशाल राजपथ की तरह अणुव्रत उन सब लोगों के लिए है जो सदाचार के बीज– आस्था और क्रिया के समुचित योग से पल्लवित, पुष्पित होकर ईप्सित फलदायी होगे, ऐसा विश्वास है ।

भारतीय समाज को भगवान् महावीर की देन

भगवान् महावीर ने शाश्वत सत्य की खोज की और उसी का प्रतिपादन किया। वे कोरे युगद्रष्टा नहीं थे। युगद्रष्टा केवल सामयिक सत्य को देखता है। शाश्वतदर्शी त्रैकालिक सत्य को देखता है। जो शाश्वतदर्शी होता है, वह युगदर्शी होता ही है, किन्तु युगातीत-दर्शी भी होता है। शाश्वत सत्य का प्रस्फुटन युग के संदर्भ में भी होता है और उससे परे भी होता है। महावीर भारत की मिट्टी में जन्मे। भारतीय समाज उनका अपना समाज था। उनके पिता लिच्छविगण के एक सदस्य थे। वैशाली का विपुल वैभव और प्रभुत्व उनके आसपास परिक्रमा कर रहा था। वे जिस समाज मे पले-पुसे, वह समाज उन दिनों भारतीय समाज कहलाता था और आज वह हिन्दू समाज कहलाता है। उस समाज में धर्म की दो धाराएं प्रवाहित हो रही थीं—वैदिक और श्रमण। महावीर ने दोनो धाराओं का निकटता से परिचय प्राप्त किया। तीस वर्ष की अवस्था मे श्रमण बने। साढ़े बारह वर्ष तक उन्होंने दीर्घ तपस्या और ध्यान-साधना की। उसके बाद उन्हे कैवल्य प्राप्त हुआ। उन्होने बताया—समता धर्म है। राग और द्वेष—ये दोनो विषमता के बीज है। अन्तर्जगत् की जितनी समस्याए है, उनका मूल हेतु राग- द्वेष ही है। सामाजिक और राजनैतिक स्तर पर भी जो समस्याएं उभरती है, उनके पीछे भी राग-द्वेष का बहुत बड़ा हाथ होता है। राग-द्वेष पर विजय पाए बिना समता नहीं सध सकती और समता की सिद्धि हुए बिना धर्म प्राप्त नहीं हो सकता। जहां जितनी और जो विषमता है, वह सब अधर्म है। जहां जितनी और जो समता है, वह सब धर्म है। इस कसौटी पर उन्होंने धर्म को कसा और समाज की प्रचलित धारणाओं में जहां-जहां विषमता दिखी, उसका प्रतिरोध किया। कुछ विद्वान् कहते है कि वैदिक धर्म में जहा-जहां विषमता दिखी, उसका प्रतिरोध किया। कुछ विद्वान् कहते है कि वैदिक धर्म मे प्रचलित रूढ़ियों का विरोध करने के लिए महावीर समाज के सम्मुख एक सुधारक के रूप मे प्रस्तुत हुए। उनकी प्रवृत्तियों और धार्मिक प्रेरणाओ के आधार पर यह निष्कर्ष निकाला जाता है किन्तु मेरी दृष्टि में यह यथार्थ नही है। उन्होने अवश्य ही विषमतापूर्ण रूढ़ियों का

किया, पर वे प्रतिरोध करने के लिए एक सुधारक के रूप में प्रस्तुत नहीं हुए और प्रासंगिक रूप मे प्रतिरोध भी उनके लिए अनिवार्य हो गया। समाज का बहुत बड़ा भाग जन्मना जाति में विश्वास करता था। वह विषमतापूर्ण सिद्धांत था। जाति से यदि आदमी ऊंचा और नीचा है तो फिर वह अच्छा आचरण करने पर भी नीचा ही रहेगा और उच्च जातिवाला बुरा आचरण करने पर भी ऊंचा रहेगा। इस व्यवस्था में पुरुषार्थ और आचरण शून्य हो जाते है। जाति ही सब कुछ हो जाती है। इस व्यवस्था के पीछे छिपा हुआ जो पक्षपात था वह समता धर्म के अनुकूल नहीं हो सकता। धर्म से मनुष्य तटस्थता की अपेक्षा रखता है। वही धर्म यदि पक्षपात और राग-द्वेष का पाठ पढ़ाए तो धर्म की प्रयोजनीयता ही समाप्त हो जाती है। महावीर ने प्रचलित जातियों को अस्वीकृत नही किया। जाति-व्यवस्था के पीछे रहे हुए मनोवैज्ञानिक कारणों की उपेक्षा नही की। उन्होंने केवल जन्मना जाति के सूत्र को बदलकर कर्मणा जाति का सूत्र प्रस्तुत किया। इसके अनुसार एक ही मनुष्य एक ही जन्म मे ब्राह्मण भी हो सकता है, क्षत्रिय भी हो सकता है और कुछ भी हो सकता है। पिता क्षत्रिय और पुत्र वैश्य हो सकता है। वैश्य पिता का पुत्र शूद्र भी हो सकता है। कर्मणा जाति की इस परिवर्तनशील व्यवस्था मे ऊंच-नीच और छुआछूत का भेद नही पनप सकता।

समता के दो मुख्य प्रतिफलित है– अहिंसा और अपरिग्रह।

अहिंसा का सिद्धान्त अपनी आत्मा के प्रति जागरूक रहने का सिद्धान्त है अपनी आत्मा के प्रति जागरुक वही रह सकता है जो आत्मा के परमात्म-स्वरूप को जानता है। ऐसा व्यक्ति दूसरे के प्रति विषमतापूर्ण व्यवहार नही कर सकता। इसी आधार पर भगवान् महावीर ने पशु-बलि का अनौचित्य ठहराया और अनिवार्य हिसा को भी हिसा बताया। धर्म के नाम पर हिसा विहित नही हो सकती।

वनस्पति का आहार जीवन की अनिवार्यता है या हो सकती है किन्तु मांस का भोजन जीवन की अनिवार्यता नहीं है। उससे सात्विक वृत्तियों का उपघात भी होता है। भगवान् महावीर ने मांसाहार के प्रति जनता मे अवांछनीयता की भावना पैदा की और भारतीय समाज मे मांसाहार-विरोधी दृष्टिकोण प्रभावशाली हो गया।

भगवान् महावीर ने कर्मकाण्डों को आध्यात्मिक रूप दिया है। उस समय यज्ञ-संस्था बहुत प्रभावशाली थी। भगवान् ने यज्ञ के प्रति होने वाले जनता के आकर्षण को समाप्त नहीं किया, किन्तु यज्ञ की आध्यात्मिक योजना कर उसे रूपान्तरित कर दिया।

हिसा का विधान स्वर्ग के लिए किया गया था। भगवान् महावीर ने निर्वाण के विचार को इतनी प्रखरता से प्रस्तुत किया कि स्वर्ग की आकाक्षा और स्वर्ग के

लिए की जाने वाली हिंसा–दोनों के आसन हिल गए । हिसा का अर्थ केवल प्राण-हरण ही नहीं है । घृणा भी हिसा है । स्वतन्त्रता का अपहरण भी हिंसा है । तत्कालीन समाज-व्यवस्था में स्त्रियों और शूद्रों को संघ में दीक्षित कर भगवान महावीर ने उनको समानता के आसन पर प्रतिष्ठित किया उन्हें अन्य वर्गो की स्वतन्त्रता का समभागी बना मानवीय एकता की आधारभूमि प्रशस्त की ।

उस समय वैचारिक हिंसा का भी दौर चल रहा था । अपने से भिन्न विचार रखने वाले पर प्रहार करना, उनके विचारो की असत्यता प्रमाणित करना धर्म-सम्प्रदायों में भी मान्य था । एक धर्म के लोग दूसरे धर्म वालो पर कटाक्ष करते थे । भगवान् महावीर ने अनेकान्त का दर्शन प्रस्तुत कर जनता को समझाया कि सत्य की उपलब्धि समन्वय और सापेक्षता के द्वारा ही हो सकती है । एकांगी दृष्टि से प्रस्तुत किया जाने वाला कोई भी विचार पूर्ण सत्य से विछिन्न होने के कारण सत्य नही हो सकता । इस अनेकान्त की धारा ने साम्प्रदायिक संकीर्णता के स्थान पर उदार विचार, सर्वग्राही दृष्टिकोण और समन्वय की प्रतिष्ठा की ।

ढाई हजार वर्ष पहले समाज को आर्थिक स्वतंत्रता अधिक प्राप्त थी । कोई व्यक्ति चाहे जितना धन अर्जित कर सकता था । राजकीय कर भी बहुत कम थे । कुछ व्यक्ति धनकुबेर थे । कुछ बहुत दरिद्र भी थे । आर्थिक विषमता के प्रति कोई सामाजिक चिंतन विकसित नही हुआ था । सामान्य जनता मे यह धारणा थी कि जो धनी बना है उसने पूर्वजन्म में अच्छे कर्म किए है । जो गरीब है, उसने पूर्वजन्म के बुरे कर्म किए है । अपने-अपने किए हुए कर्मो का फल भुगतना पड़ता है । इस धारणा के आधार पर गरीब के मन मे अमीर के प्रति आक्रोश नही था । सामाजिक स्तर पर भी वह विषमतापूर्ण व्यवस्था मान्य थी । किन्तु समता की कसौटी पर वह खरी नही उतर रही थी । इसीलिए भगवान् महावीर ने अपरिग्रह का सिद्धान्त समझाया । उन्होने कहा–प्रत्येक गृहस्थ को व्रती बनना चाहिए और जो अर्जन करे, उसमें परिग्रह की सीमा अवश्य करनी चाहिए । अर्जन के साधनो की शुद्धि, परिग्रह की सीमा और उपभोग का संयम– इन तीनों को शृखलित कर धर्म की एक नई दिशा का उद्‌घाटन किया, जिसकी व्यावहारिक परिणति आर्थिक समता में होती है ।

उस युग की समाज-व्यवस्था में धन की भांति मनुष्य का भी परिग्रह होता था । स्त्री-पुरुष बिकते थे । बिका हुआ आदमी दास होता था और उस पर स्वामी का पूर्ण अधिकार रहता । भगवान् महावीर ने इस प्रथा को हिंसा और परिग्रह दोनों दृष्टियो से अनुचित बताया और जनता को इसे छोड़ने के लिए प्रेरित किया। प्रथा-उन्मूलन, अपरिग्रह, मानवीय एकता, स्वतन्त्रता, समानता, उपेक्षित वर्ग

आदि समता के विभिन्न पहलुओ की मूलधारा भगवान् महावीर के वचनो तथा प्रयत्नो मे खोजी जा सकती है। उन्होने जन-भाषा मे अपनी बात कही और उनकी बात सीधी जनता तक पहुची। जनता ने उसे अपनाया पर कोई भी पुराना संस्कार एक साथ नही टूट जाता। ढाई हजार वर्षो के बाद हम अनुभव कर रहे हैं कि महावीर-वाणी के वे सारे स्फुलिंग आज महाशिखा बनकर न केवल भारतीय समाज को, किन्तु समूचे मानव-समाज को प्रकाश दे रहे है।

वर्तमान समाज-व्यवस्था के मूल्य और महावीर के सिद्धान्त

पचीस सौ वर्ष पूर्व भारत की भूमि पर एक मानव ने जन्म लिया था । वह मानव था और अत तक मानव ही रहा । उसने मानव और मानवता को इतनी प्रतिष्ठा दी कि मानव का मूल्य सर्वोपरि हो गया । वह थे महावीर । उन्होने कहा–"मानव स्वयं अपना भाग्य विधाता है । वह किसी दैवी सत्ता के द्वारा सचालित और शासित नही है । सत्य का स्वयं प्रमाण मानव का आंतरिक अनुभव है । वह किसी ग्रन्थ या शास्त्र के द्वारा नियन्त्रित नही है । उसका पुरुषार्थ भाग्य का निर्माण करता है और उसका अनुभव शास्त्र का निर्माण करता है । भाग्य और शास्त्र उसके अधीन है । वह भाग्य और शास्त्र के अधीन नही है ।" इस मानवतावादी दृष्टिकोण के कारण ही वर्द्धमान महावीर बने । उनके पराक्रम की शिखा प्रज्वलित रही । वे वासनाओ और सस्कारो के साथ संघर्ष करते रहे । उनका सघर्ष किसी दूसरे के प्रति नही था । इसलिए जैसे-जैसे संघर्ष शक्तिशाली हुआ वैसे-वैसे उनकी वीतरागता और मैत्री प्रखर होती गयी । वह मैत्री किसी दूसरे के प्रति नही थी । सार्वभौम मैत्री वही होती है, जो किसी के प्रति न हो, किंतु सहज हो । वे अपनी वीतरागता और मैत्री के द्वारा धर्म की उस भूमिका पर प्रतिष्ठित हुए जहां सम्प्रदाय और सकीर्णता की सीमा शेष रह जाती है ।

महावीर ने कैवल्य प्राप्त कर जिस धर्म का प्रतिपादन किया उसकी आत्मा है–समता । उनके धर्म की उत्पत्ति समता से होती है और उसकी निष्पति भी समता से होती है । अहिंसा, अपरिग्रह, सह-अस्तित्व, समन्वय, सापेक्षता और अनेकात–ये सब उसी समता के अंग है । महावीर की अहिसा में विषमता के लिए कोई स्थान नही है । ढाई हजार वर्ष पहले कुछ लोग धन के आधार पर बड़े-छोटे माने जाते थे । कुछ लोग जातीयता के आधार पर बड़े-छोटे माने जाते थे । कुछ लोग शास्त्रीय ज्ञान के आधार पर बड़े-छोटे माने जाते थे । किन्तु महावीर ने इन मान्यताओ

को अवास्तविक बतलाया और उन्होने कहा–"मनुष्यजाति में कोई छोटा या बड़ा नहीं होता। उसमें मौलिक एकता है, समता है। उसे इन काल्पनिक मूल्यो द्वारा विखंडित नहीं करना चाहिए। बड़ा वह नही है जो धनी है। बड़ा वह है जिसमें त्याग देने की क्षमता है। बड़ा वह नहीं है, जो तथाकथित उच्च कुल मे जन्मा है। बड़ा वह है जो सच्चरित्र है। बड़ा वह नही है जो शास्त्रों का पंडित है। बड़ा वह है जो संयमी है। बड़प्पन और छुटपन, ये सापेक्ष मूल्य हैं। सच्चाई यह है कि सही अर्थ में मनुष्य वही है जिसमें त्याग की शक्ति, सच्चरित्रता और संयम है।"

महावीर के समता के सिद्धान्त ने भारतीय मानस को प्रभावित किया। ढाई हजार वर्ष के बाद वह प्रभाव बढ़ा है, उसमें कोई कमी नही आयी है। आज का मनुष्य समता के सिद्धान्त को जितना मूल्य देता है, उतना ढाई हजार वर्ष पहले का मनुष्य नही देता था। यह सिद्धान्त शाश्वत सिद्धान्त है। जो शाश्वत होता है, उसमे युगीन होने की क्षमता होती है। महावीर ने ढाई हजार वर्ष पहले जिन सिद्धान्तो का प्रतिपादन किया, वे सिद्धान्त वर्तमान युग के लिए भी बहुत मौलिक और उपयोगी है। उनकी उपयोगिता ही महावीर की पचीसवी निर्वाण शताब्दी मनाने की अपेक्षा प्रस्तुत करती है।

महावीर की अहिंसा के तीन मुख्य आधार है–

१. सहअस्तित्व–इसके अनुसार परस्पर-विरोधी प्रतीत होने वाले तत्त्व एक साथ रह सकते है।

२. समन्वय–इसके अनुसार कोई भी वस्तु एक दूसरे से निरपेक्ष नही है। एक को मुख्यता और दूसरे को गौणता दिए बिना सत्य का यथार्थ अंकन नही हो सकता, वास्तविकता को प्राप्त नहीं किया जा सकता।

३. स्वतंत्रता– हर वस्तु अपने आप मे स्वतंत्र है। इन तत्त्वों की दार्शनिक भित्ति पर महावीर की अहिंसा का प्रासाद खड़ा हुआ।

महावीर ने अहिंसा का विस्तार करते हुए कहा–

किसी को मत मारो,
किसी को मत सताओ,
किसी को मत पीटो,
किसी पर हुकूमत मत करो,
किसी को दास मत बनाओ।

उनकी अहिंसा मे केवल वैराग्य के बीज नहीं है, सामाजिक क्रान्ति की चिनगारियां भी हैं।

वर्तमान लोकतन्त्र का आधार ये ही तत्त्व हो सकते है। अहिंसा के बिना लोकतन्त्र के स्वरूप का निश्चय ही नही किया जा सकता। क्या अहिसा के बिना लोकतन्त्र सफल हो सकता है ?

लोकतंत्र की बुनियाद : महावीर का दर्शन

भगवान् महावीर की पचीसवी निर्वाण शताब्दी की चर्चा आज देशव्यापी बन रही है। भिन्न-भिन्न क्षेत्रो में अपनी-अपनी योग्यता और क्षमता के आधार पर भिन्न-भिन्न प्रकार के कार्यक्रम आयोजित करने की तैयारियां भी प्रारम्भ हो चुकी है।

प्रश्न हो सकता है कि भगवान् महावीर की निर्वाण शताब्दी क्यो मनाया जाए हम भी मानव है। महावीर भी मानव थे। फिर ऐसी कौन-सी विशेषता है जिसके कारण महावीर की निर्वाण शताब्दी मनायी जा रही है ? हम महावीर का निर्वाण महोत्सव इसलिए मनाते है कि उन्होंने जो दर्शन दिया, जो मूल्य स्थापित किए और जो सिद्धांत निश्चित किए, वे सर्वजनहिताय थे। उनमें युग की समस्या का सम्यक् समाधान निहित है।

महावीर ने अहिंसा, अपरिग्रह, अनेकांत, संयम और समता के जो सूत्र दिये, वे अध्यात्म की दृष्टि से तो असाधारण है ही, राजनैतिक दृष्टि से भी उनके महत्त्व को नकारा नहीं जा सकता। वास्तव में वे लोकतन्त्र शासन-प्रणाली के आधारभूत सूत्र है।

भारत के भूतपूर्व राष्ट्रपति डॉ० सर्वपल्ली राधाकृष्णन् ने, जो न केवल राष्ट्रपति थे अपितु भारतीय और पश्चिमी दर्शनों के मर्मज्ञ विद्वान् भी थे, एक प्रसंग मे कहा था—'स्वतंत्र भारत का लोकतन्त्रात्मक सविधान पूर्णतः अनाक्रमण, सह-अस्तित्व, समता और सयम पर आधारित है।' ये तत्त्व महावीर के मौलिक और व्यावहारिक सिद्धात है। अत· हम कह सकते है कि भारतीय संविधान महावीर के सिद्धांतो से प्रभावित है अथवा महावीर के सिद्धातो ने भारतीय लोकतत्र को मौलिक और वास्तविक दिशा-दर्शन दिया है।

भारतीय संविधान ने अनाक्रमण-नीति को स्वीकार किया है। आज से ढाई हजार वर्ष पहले भगवान् ने यही कहा था—'तुम आक्रान्ता मत बनो। किसी पर आक्रमण कर उसकी सार्वभौम स्वतत्रता का अपहरण मत करो।

आज इस अनाक्रमण नीति के पक्ष में समूचे विश्व की जनभावना जागृत हो रही है। कोई किसी पर आक्रमण करता है तो सबकी अंगुली उसकी ओर उठती है। इससे आक्रमण के लिए एकाएक किसी का साहस नहीं होता। युद्ध की भयानक और विनाशकारी समस्या के समाधान मे अनाक्रमण-नीति सफल और कारगर सिद्ध हुई है। विश्व-शांति की दिशा में इसे महावीर के सिद्धांतों का मूल्यवान योग कहा जा सकता है।

सह-अस्तित्व भगवान् महावीर का ही सिद्धांत है। इस सिद्धात का ही सुपरिणाम है कि अत्यन्त विरोधी विचारधारा वाले व्यक्ति भी एक मंच पर बैठकर विश्व-समस्याओं का समाधान खोजते है और मिल-जुलकर उस दिशा में प्रयास करते हैं।

महावीर के अपरिग्रह दर्शन का फलित है—वर्तमान का समाजवाद। उन्होंने कहा—'अर्थ का अतिसंग्रह मत करो। गलत तरीको से अर्जन मत करो।' अर्जन के साथ विसर्जन का सूत्र भी उन्होंने दिया। क्योकि पूंजी का केन्द्रीकरण सामाजिक विषमता को बढ़ावा देता है और विषमता ही वर्ग-संघर्ष का उत्स है। तत्कालीन समाज-व्यवस्था मे व्याप्त विषमता के विरुद्ध महावीर ने समता का सिद्धांत प्रतिष्ठित किया। उन्होने कहा—'मनुष्य जाति एक है।' जातीयता, प्रातीयता, राष्ट्रीयता, साम्प्रदायिकता तथा भाषा आदि के आधार पर अखंड मानव-जाति को विभक्त करना, भयंकर भूल और मानवता के लिए अभिशाप है।

भारतीय संविधान में भी जाति, धर्म, लिग, रग आदि के परिप्रेक्ष्य में पलने वाले भेद-प्रभेदो को कोई स्थान नही है। नागरिकता के मूलभूत अधिकार सबके लिए समान रूप से सुरक्षित है। हर व्यक्ति अपनी प्रतिभा, व्यक्तित्व और कर्तृत्व के बल पर राष्ट्र के सर्वोच्च पद पर प्रतिष्ठित हो सकता है, भले ही वह किसी जाति या धर्म से संबंधित हो। यह आदर्श केवल सविधान तक ही सीमित नही है अपितु भारत ने समय-समय पर इसको व्यावहारिक रूप भी प्रदान किया है। यह उदार दृष्टिकोण भगवान् महावीर के समतावादी सिद्धांत का ही क्रियान्वयन् है।

संयम भगवान् महावीर द्वारा प्रदत्त मौलिक और महत्त्वपूर्ण सूत्र है। जीवन की जटिलताओं और कठिनाइयो से राहत पाने का दिशा-दर्शन इससे प्राप्त होता है। अभाव, मंहगाई आदि समस्याओं का समाधान भी सयम से प्राप्त हो सकता है।

भगवान् महावीर के निर्वाण समारोह के उपलक्ष मे आगामी वर्ष को 'संयमवर्ष के रूप में मनाने का निर्णय लिया गया है। इससे व्यक्तिगत लाभ के साथ राष्ट्रगत लाभ भी प्राप्त होगा।

आज राष्ट्र जिन संकटपूर्ण स्थितियों से गुजर रहा है उनके समाधान के लिए न केवल जैन अपितु समस्त देशवासियों के लिए संयम की साधना अत्यंत आश्यक है। संयम अनेक प्रकार का हो सकता है। अन्न, पानी, वस्त्र, विद्युत, यातायात आदि विभिन्न प्रकार से उसका प्रयोग हो सकता है। जो जितना संयम करेगा, वह उतना ही अधिक समाधान और राहत प्राप्त करेगा। आज के युग में सत्ता और सम्पत्ति का व्यामोह भी क्रमशः बढ़ता जा रहा है। ये दोनों इतने मीठे प्रलोभन हैं कि इनके आकर्षण से बच पाना और स्वयं को सुरक्षित रख पाना बहुत कठिन है। जन-सामान्य के लिए अनुकरणीय और प्रशंसनीय वही व्यक्ति हो सकता है जो इनसे दूर रहता है।

आज तक का इतिहास यह बतलाता है कि सत्ता और सम्पत्ति के पीछे दौड़ने वाला अपनी प्रतिष्ठा और गरिमा को कभी सुरक्षित नहीं रख पाता।

एक संन्यासी था। वह सदा अपनी तपःसाधना में लीन रहता था। उसकी साधना की सुवास दूर-दूर तक फैल गई। उसके अन्तःकरण से बहने वाली मैत्री, प्रेम और करुणा की धाराओं ने वायुमंडल और निकटवर्ती प्राणी-हृदयों को इतना प्रभावित किया कि जन्म से शत्रुता रखने वाले प्राणी भी अपना पारस्परिक वैर भाव भूलकर प्रेम से रहते थे।

संन्यासी की प्रसिद्धि और बढ़ते हुए प्रभाव के कारण एक दिन देवराज इन्द्र का आसन डोल उठा। इन्द्र घबराया और सोचने लगा--कहीं यह तपस्वी मेरा आसन न छीन ले। अपने आसन को सुरक्षित रखने के लिए आवश्यक है कि तपस्वी को उसकी साधना से विचलित करूं। उसे एक उपाय सूझा। उसने ब्राह्मण का रूप बनाया। हाथ में एक तलवार ली और संन्यासी की कुटिया के पास से गुजरा। जाते-जाते उसने कहा– बाबा! मुझे आगे जाना है। इस तलवार को साथ रखकर क्या करूंगा? आपके पास रख दूं, लौटते वक्त ले लूंगा। मै अभी-अभी आता हूं।

संन्यासी ने बहुत देर तक उसकी प्रतीक्षा की किन्तु ब्राह्मण तो फिर लौटा ही नही। उसे लौटना भी नही था। संन्यासी अब तलवार को कहां रखे? वह उसे अपने पास रखने लगा। इससे पास रहने वाले अन्य पशु भयभीत होने लगे। सबकी भावनाएं भी बदलने लगीं। प्रेम, करुणा और अहिंसा का स्रोत सूखने लगा। हिसा और प्रतिहिसा की भावनाएं जागने लगी। तपस्वी का प्रभाव भी समाप्त होने लगा। उसकी शांति और समाधि खडित हो गयी। मन विचलित हो गया। इससे इन्द्र का आसन पुन जम गया। वह तलवार सत्ता की प्रतीक थी। जो इसमे उलझ

जाता है वह अपना सब कुछ खो देता है। भारतीय संस्कृति ने सत्ता और संपत्ति के स्थान पर सदा त्याग, तपस्या और संयम को महत्त्व दिया है। इस महत्त्व को सम्यक् रूप से समझकर महावीर के मूलभूत सिद्धांतों पर बल दिया जाए और तदनुरूप आचरण किया जाए—यही भगवान् महावीर के प्रति सच्ची श्रद्धांजलि हो सकेगी।

आज फिर एक महावीर की जरूरत है

लगभग तेरह वर्ष पूर्व (सन् १९६६ मे) मै भटिंडा आया था। तेरह वर्षो के इस अन्तराल मे सब कुछ नया-नया लगता है। उस समय न ऐसी सड़के थी, न कारखाने थे, न फर्टीलाइजर्स थे, न थर्मल प्लांट्स थे, न झील थी और न ही थे ये मेरे सामने बैठे प्रबुद्ध युवा चेहरे। इन परिवर्तित परिस्थितियो के संदर्भ मे कहा जा सकता है कि हम भटिंडा पहली बार आए है।

परिवर्तन सृष्टि का निश्चित क्रम है। कोई तत्त्व इसका अपवाद नही है। परिवर्तन के इस सिद्धात का निरूपण किया भगवान महावीर ने। उन्होने कहा—पदार्थ मात्र सत् है। सत् वह है जो उत्पाद, व्यय और ध्रुवत्व की परिक्रमा करता रहता है। उसमे नयी अवस्थाओ का आविर्भाव होता है, प्राचीन अवस्थाओ का विलयन होता है और मूल सत्ता की अवस्थिति रहती है। केवल उत्पाद सत् नही है, केवल विनाश सत् नही है और केवल ध्रुवत्व भी सत् नही है किन्तु इन तीनो का मिला-जुला रूप सत् है। परिणामी नित्यवाद का यह सिद्धांत एक परमाणु से लेकर समग्र लोक पर लागू होता है। आत्मा और परमात्मा भी इस सिद्धांत की सीमा से बाहर नही है। ऐसे सार्वभौम और सार्वकालिक सिद्धात के निरूपक भगवान् महावीर को आज मै अपना प्रणाम करता हूं।

'णमोत्थुण समणस्स भगवओ महावीरस्स सहसबुद्धस्स' मेरा यह प्रणाम इसलिए नहीं है कि वे मेरे श्रद्धेय है या उनके साथ मेरा कोई निकट का रिश्ता है। मै क्या, मेरी सात पीढ़ियों ने भी महावीर को नही देखा। फिर मै तो एक बौद्धिक व्यक्ति हूं, उस युग मे जीने वाला व्यक्ति हू जिसमे परम्परित मूल्यों की सत्ता डावाडोल हो रही है, मै भला एक परम्परागत महावीर को कैसे मान सकता हू ? मेरे महावीर जीवन्त महावीर है। मैने उनको कसौटी पर कसा है, परखा है और किसी भी पारम्परिक व्यामोह के विना उनको स्वीकार किया है। आचार्य हेमचन्द्र ने कहा है—

न श्रद्धयैव त्वयि पक्षपातो,
न द्वेषमात्रादरुचिः परेषु ।
यथावदाप्तत्व -परीक्षया तु,
त्वामेव वीरप्रभुमाश्रिताः स्मः ॥

महावीर ! परम्परित श्रद्धा के कारण आपके प्रति हमारा कोई पक्षपात नहीं है और किसी द्वेष-भाव के कारण औरों के प्रति हमारी अरुचि नहीं है । हमने तो परीक्षा करना सीखा है । परीक्षण में हमें आप आप्त लगे, इसलिए हमने आपकी शरण स्वीकार की है ।

आप्त कौन होता है ? आप्त वह होता है जिस पर पूर्ण विश्वास हो, पूर्ण आस्था हो । ऐसी आस्था और विश्वास या तो माता-पिता के प्रति होता है या गुरु के प्रति होता है और या होता है वीतराग-पुरुष के प्रति । महावीर वीतराग हैं, आप्त है, जन-जन के श्रद्धेय है, आराध्य है, उन्होने सत्य का साक्षात्कार किया और उस सत्य को हम तक पहुचाया है, इसलिए हम उन्हें नमस्कार करते है ।

महावीर ने क्या किया ? वे राज्य और वैभव को छोड़कर निकल पड़े, मुनि बने, तपस्वी बने, ध्यानी बने, अरण्यवासी बने । उन्होने सम्बोधि प्राप्त की, केवलज्ञान प्राप्त किया और परिनिर्वाण को प्राप्त किया, पर इससे क्या ? उनकी अपनी उपलब्धियों से संसार को क्या मिला ? उन्होंने अपने युग की मानव-जाति को क्या दिया ?

महावीर जिस परिवेश मे रहे, उससे वे सर्वथा निरपेक्ष नही थे । अपनी साधना के द्वारा विशिष्ट ज्ञान की उपलब्धि कर वे धनकुबेरो के बीच में गए । आनंद और शकडाल जैसे धनाधीशो के पास गए । लोगों मे एक फुसफुसाहट हुई—महावीर को गरीबो के पास जाना चाहिए, अमीरो से इन्हें क्या लेना है ? महावीर ने इसका प्रतिवाद करते हुए कहा—मुझे इन लोगों के पास जाना है, अवश्य जाना है । क्यों ? क्योकि ये लोग विलासी है, उन्मादी है, बहिर्मुख है, अपना आपा भूले हुए है । मुझे इनको जगाना है । सही पथ दिखलाना है, लोगों की आलोचनाओं के तीरों को हसते-हंसते झेलकर वे उन धनकुबेरो के पास पहुंचे । उन्हें ललकारा, झकझोरा, प्रतिबोध दिया और सही रास्ता दिखलाया । दोनो धनकुबेर मानों सोते से जाग उठे । उन्हे तत्त्व मिल गया । उन्होंने अपने स्वरूप को पहचाना । उन्हें सम्यक्त्व-रत्न उपलब्ध हो गया । वे महावीर के सहगामी नही बन सके, पर अनुगामी बन गए । वे पूर्ण अकिंचन नही बन पाए, पर अर्थ के प्रति उनके मन मे जो आसक्ति थी, लगाव था, स्वामित्व की भावना थी, उसका विसर्जन कर दिया । वे समझ गए थे कि यह जो धन वैभव है, वह हमारा नही है । हम तो इसके संरक्षक है, ट्रस्टी है, मालिक नही । ढाई-हजार वर्ष पहले महावीर ने यह ट्रस्टीशिप का सिद्धांत दिया । इसी

संदर्भ में उन्होने कहा—कोई व्यक्ति संसार में सबसे बड़ा धनी बन सकता है, पर उसको दो बातों पर ध्यान देना जरूरी है—१. अर्थार्जन के साधन गलत न हो। २. अर्जित धन पर मानसिक दृष्टि से भी स्वामित्व न हो।

महावीर के इस दर्शन ने लोगों को अपील किया। वे उनके आलोचकों की पंक्ति से निकलकर श्रद्धालुओं की श्रेणी में आ गए। उनकी यह श्रद्धा किसी व्यक्ति महावीर के प्रति नहीं, पर महावीर के उस शाश्वत सत्य के प्रति थी।

महावीर उन दिनों प्रायः जंगलों में परिव्रजन करते थे। एक दिन वे किसी निर्जन वन की ओर बढ़े चले जा रहे थे। न कोई पथ था और न पगडंडी, पर महावीर को कोई परवाह नही थी। पीछे से किसी ग्वाले ने आवाज दी—बाबा! वापिस लौट आओ। यह रास्ता नहीं है। इधर जो भी गया है, जीवित नही बचा है। क्यों जानबूझकर अपने-आपको मौत के मुंह में धकेलो ? उधर मत जाओ, बाबा !

ग्वाले के ये बोल महावीर के कानों में टकरा वापस लौट आए, पर महावीर नहीं लौटे। उनके मन पर उस सूचना का कोई असर न हुआ। वे उस बीहड़ जंगल में बने एक चैत्य के पास पहुंचे, जो अब खंडहर हो चुका था। उसके पास एक सर्प की बांबी थी। महावीर वहा ध्यानस्थ हो गए। वहां जो सर्प था, नाम था उसका चंडकौशिक। जैसा नाम प्रकृति से वैसा ही क्रूर। उसने महावीर को देखा और विस्मय के साथ क्रोध की ज्वाला धधक उठी। उसने अपने आग्नेय नेत्रों से महावीर को देखा, वे निश्चल खड़े रहे। वह उनके निकट गया और फुफकारने लगा। महावीर अब भी निष्प्रकम्प थे। उसने पांव में काटा। एक बार नही, दो-तीन बार। उष्ण रक्त की धारा बह निकली। दूध-सा उज्ज्वल और मीठा रक्त, चंडकौशिक के भीतर उफनता हुआ क्रोध एकबारगी आश्चर्य से आवृत हो गया। उसने अपने फण को ऊपर उठाकर देखा। महावीर ने उसको अपनी ध्यान की निर्मल रश्मियों से अभिषिक्त कर दिया। इसके साथ ही महावीर ने सम्बोधित किया—चंडकौशिक ! जागो, अपने-आपको देखो। एक तीव्र ऊहापोह के साथ उसकी ज्ञान-चेतना झंकृत हो उठी। उसने देखा—ये है पतित पावन भगवान् महावीर। ये तो मेरे लिए ही इस बीहड़ जंगल में आए है। हा ! क्या कर दिया मैने ? अनुताप की आग में जलते हुए चंडकौशिक को महावीर की करुणा का अमृत मिला और उसने सदा-सदा के लिए अपना जहर छोड़ दिया। ऐसे अमृतमय महावीर किसके लिए प्रणम्य नहीं होते ?

लगभग छह मास की तपस्या से कृश तेज से दीप्त कायिक परिवेश में महावीर शहर मे घूम रहे थे। घूमते-घूमते उनके कदम एक भवन की ओर बढ़े। लोगो

ने टोकते हुए कहा– तपस्वी ! उधर मत जाओ। अभी उस घर में और कोई नहीं, केवल एक दासी है। दासी के पास जाकर तुम क्या करोगे ? महावीर न रुके और न मुड़े। उन्होंने कहा–मुझे इधर ही जाना है, दासी को मानवी बनाना है, दास-प्रथा का अन्त करना है। जब तक मै इधर नहीं जाऊंगा तुम्हारा दृष्टिकोण नहीं बदलेगा।

महावीर घर के भीतर प्रविष्ट हो गए। उन्होंने देखा– एक आभिजात्य कन्या बड़ी दुर्दशा में खड़ी है। उसका सिर मुंड़ा हुआ है, हाथों मे हथकड़ियां हैं, पांव मे बेड़ी है। पास ही रखे हुए छाज के कोनें में उड़द के बाकुले है और आंखों की कोरो से आंसू छलछला रहे है। महावीर की करुणा-तरंगे प्रवाहित हुई। उन्होंने उसके हाथ से भिक्षा ली और 'अहो दानम्' की दिव्य ध्वनि के साथ उसके बंधन टूट गए। एक क्रीत और सताई कन्या लावण्यमयी राजकुमारी हो गई। उस दिन के बाद भीलनी के बेर की भाँति चंदना के बाकुले भी प्रसिद्ध हो गए। महावीर ने उस एक दासी का उद्धार कर समूची दास-प्रथा पर तीव्र प्रहार किया। प्रहार इतना घातक था कि दास-प्रथा चरमराती हुई टूट गई। हजारों-लाखों पराधीन प्राणों ने सुख की सांस ली। ऐसे महावीर भला किसके लिए प्रतीक्ष्य नहीं होते ?

आज ऐसे ही एक महावीर की अपेक्षा है जो विलासी व्यक्तियो की विलासिता का अन्त करे, क्रूर व्यक्तियों की क्रूरता का शमन करे और दास बने हुए व्यक्तियों को दासता के शिकंजे से मुक्त करे। आप कह सकते है– आज के युग में विलासी व्यक्ति है, क्रूर भी है, पर दास तो कोई नही है। फिर दासता से मुक्ति कैसी ? मै पूछना चाहता हूं, कौन नहीं है दास ? कोई मन का दास है, कोई इन्द्रियों का दास है। कोई वासना का दास है। कोई अपनी वृत्तियों का दास है तो कोई सत्ता का दास है। सत्ता की दासता भोगने वाले व्यक्ति मानसिक रूप से भी कितने अस्थिर और संत्रस्त हो जाते है, आज की परिस्थितियो मे स्पष्ट रूप से देखा जा सकता है। यह दासता उस दासता से अधिक भयंकर है। उस समय तो क्रीत होने के बाद व्यक्ति को दास माना जाता था, आज तो अधिकांश लोग बिना खरीदे दास है। आज ऐसे महावीर की जरूरत है, जो इन लोगो को दासता से मुक्त कर सके।

इस समय हमारे बीच में भगवान महावीर तो नही है, पर हम सब उन्ही का अनुगमन करने का प्रयास कर रहे है। हम गांव-गांव और घर-घर में पहुंचकर भगवान् महावीर के उसी संदेश को आप लोगों तक पहुंचाना चाहते है, जन-जन की विलासिता, क्रूरता और दासता का अन्त करना चाहते है। जिस महावीर ने हमको ऐसा व्यापक और सही दर्शन दिया, एक बार फिर हम अन्त करण की समग्र आस्था से उन्हे प्रणाम समर्पित करते हैं।

निर्वाण-महोत्सव और हमारा दायित्व

हर व्यक्ति कुछ दायित्वों से प्रतिबंधित रहता है। व्यक्ति की सीमाओं का जितना अधिक विस्तार होगा, उसके दायित्व उतने ही बढ़ जायेगे। अकेला व्यक्ति केवल जीवन-विकास और जीविका-निर्वाह का दायित्व ओढ़कर चलता है। परिवार और समाज की सीमाओं मे आबद्ध होने के बाद उसके दायित्व पारिवारिक और सामाजिक स्तर पर बढ़ जाते है। प्रान्त और राष्ट्र की सीमाएं अतिक्रान्त होने के बाद व्यक्ति का दायित्व अन्तर्राष्ट्रीय दृष्टि से बहुत व्यापक हो जाता है। भगवान् महावीर ने अपने परिपार्श्व की सारी सीमाएं तोड़ दी इसलिए उनका दायित्व सार्वजनिक और सार्वभौमिक था। उन्होंने विश्व-हित की दृष्टि से सोचा और उसी परिवेश मे काम किया।

भगवान् महावीर आज विदेह है। ढ़ाई हजार वर्ष पहले उन्होंने सदेह-साधना की थी। काल की इस लम्बी परम्परा के बाद हम उनकी स्मृतियों को ताजा कर रहे है। अथवा उनके अलौकिक व्यक्तित्व और कर्तृत्व से कुछ सीखने का प्रयास कर रहे है। इसी प्रयास की एक शृंखला है—निर्वाण शताब्दी समारोह। इस सम्बन्ध मे हमारे दायित्व की चर्चा में मै अनुभव करता हूं कि जो व्यक्ति भगवान् महावीर से जितना निकट है, उसका दायित्व उतना ही अधिक है।

महावीर किसी वर्ग या सम्प्रदाय के व्यक्ति नही थे। उन्होने जो तत्त्वदर्शन दिया वह केवल जैनों या जैनेतरों के लिए ही नहीं था। फिर भी सब व्यक्तियो पर उनका प्रभाव हो, यह आवश्यक नहीं है। किन्तु जो व्यक्ति उनके विचारो से प्रभावित है, समारोह का दायित्व उन सब पर है। हम अपने दायित्व को समझे और तदनुरूप काम करने के लिए कटिबद्ध हो जाएं, यह पहली अपेक्षा है।

निर्वाण-समारोह की वर्तमान स्थिति के बारे मे जब मै सोचता हूं, अनुभव होता है कि हमारे यहां चर्चा अधिक है, काम कम। कोई काम होता भी है तो उसमे ठोसता कम होती है और औपचारिकता अधिक। नीव बनने के लिए तैयार रहने वाले व्यक्ति कम है पर ध्वजा बनकर फहराने के लिए सब तैयार है। यह

बात भगवान् महावीर के प्रतिकूल है। उन्होंने अपने जीवन में जो कुछ किया, आत्मख्यापन की दृष्टि से नहीं किया। उनके अभिमत से आत्मख्यापन की वृत्ति हीन मनोवृत्तियों की अभिव्यक्ति है। हीन-भावना आत्मोपलब्धि में उतनी ही बाधक है, जितनी कि अस्मिता। आत्मख्यापन का उत्स हीनता है और अभिव्यक्ति अस्मिता। इसलिए भगवान् महावीर ने कहा– 'णो हीणे णो अइरित्ते'–हीनता और अतिरिक्तता दोनों ही अभिशाप है। भगवान् महावीर ने जो तत्त्व दिए, जिस ढंग से दिए, उनके अनुयायी उन्हे उसी रूप में स्वीकृत तथा परिणत करके सफलतापूर्वक अपना दायित्व निभा सकते हैं। फूल सुरभित होता है। किन्तु उसकी सुरभि को दूसरों के लिए सुलभ कर देना वायु का काम है। भगवान् महावीर ने जो मौलिक सिद्धान्त दिये उनको सबके लिए सुलभ करना हमारा कर्तव्य है। महात्मा बुद्ध ने अपने समय में जो उपदेश दिया, बौद्ध विद्वानो ने उसे विश्रुत कर दिया। यही कारण है कि बुद्ध-वाणी से सम्बन्धित साहित्य पर अब तक बहुत काम हुआ है। महावीर-वाणी को सर्वसाधारण तक पहुंचा देना एक महत्त्वपूर्ण काम है। इसके लिए व्यापक रूप में जन-सम्पर्क कर महावीर के मौलिक सिद्धान्तों पर चर्चा-परिचर्चाओं के द्वारा एक वातावरण का निर्माण करना होगा। प्रबुद्ध जनता के लिए महावीर की मूल वाणी सुसम्पादित रूप में सामने आये, यह बहुत बड़ी अपेक्षा है। इसके बाद उसका दूसरी-दूसरी भाषाओं में अनुवाद और समीक्षात्मक विश्लेषण आदि का प्रस्तुतीकरण भी बहुत मूल्यवान् काम है।

भगवान् महावीर ने जो मौलिक और असाधारण दृष्टियां दी हैं, उन्हें समझना, आत्मसात् करना और व्यावहारिक स्तर पर प्रयोग मे लाना महावीर की उपासना का उल्लेखनीय पक्ष है। समता, समन्वय और संयम महावीर के सर्वाधिक प्रिय सिद्धान्तो मे से है। समता का दर्शन देने से पहले उन्होंने प्राणिमात्र के प्रति आत्मोपम्य की अनुभूति की। इसी अनुभूति के आधार पर उन्होंने प्राणिमात्र की चेतना को स्वीकृति दी। समता के इस सिद्धान्त को हम विश्वव्यापी बनाएं। प्राणिमात्र तक हमारी पहुंच न हो सके तो मानवीय समता की सार्थकता सिद्ध करें। जाति, वर्ग आदि को लेकर मनुष्य-मनुष्य के बीच जो दीवार खड़ी हो गयी है, स्पृश्यता और अस्पृश्यता की भावना ने विषमता के जिन अंकुरों को पल्लवित किया, उनको अब भी मिटाया जा सकता है। मानव-समाज का बहुत बडा वर्ग, जो मानवीय अधिकारों से वंचित रहा है, उसे निर्वाण शताब्दी के उपलक्ष्य मे मानवीय धरातल पर लाने का तीव्र प्रयत्न हो तो एक बड़ा काम हो सकता है।

समन्वय की भूमिका पर भगवान् महावीर ने सह-अस्तित्व और समझौतावादी नीति का प्रयोग किया। इस नीति को राजनैतिक क्षेत्र में मान्यता मिली, अन्तर्राष्ट्रीय क्षेत्र में स्वीकृति मिली, पर जैन एकता के लिए इसका उचित उपयोग नहीं हो सका।

विचार-वैविध्य विश्वमानस की अवश्यंभाविता है, सत्य है। इसे मिटाना नहीं किन्तु इसमें सामंजस्य बिठाना है। इसके लिए सक्षम माध्यम है 'स्याद्वाद'। स्याद्वाद दर्शन की जटिल गुत्थी है। इसे भाषा की जटिलता से मुक्त कर सरल भाषा मे प्रस्तुत करना विवाद-संकुल बौद्धिक जगत् को त्राण देना है।

एकान्त अभिनिवेश सत्योपलब्धि में बाधक है। मै कहता हूं वही सत्य है, यह आग्रह मनुष्य को भटका देता है। मै कहता हूं वह सत्य है, पर इससे अतिरिक्त भी सत्य हो सकता है। मेरे घर में सूर्य या विद्युत का जो प्रकाश है वह प्रकाश है, अन्यत्र प्रकाश नही है, यह असत्य का पोषण है। अमुक क्रिया का परिणाम यही होगा, यह तथ्य अवैज्ञानिक है। क्रिया करते समय न जाने क्या प्रक्रिया हो और क्या परिणाम आ जाए। धर्म से सुख मिलता ही है, यह एकान्त कथन मनुष्य को निराश बना सकता है। धार्मिक व्यक्ति का कष्टमय जीवन धर्म के प्रति मनुष्य की आस्था को समाप्त कर सकता है। अतः हमारे चिन्तन का क्रम यह हो कि धर्म पवित्रता का साधन है। सुख-दुःख कर्म, वातावरण और परिस्थिति सापेक्ष है। यह चिन्तन स्याद्वाद का फलित है। स्याद्वाद का अर्थ संशयवाद नही, सापेक्षवाद है। एक वस्तु को भिन्न-भिन्न दृष्टिकोणों से समझ कर उसके अनेक धर्मो का अस्तित्व प्रमाणित किया जा सकता है। स्याद्वाद आग्रह को समाप्त कर सामूहिक जीवन को सरस बनाता है। आग्रही मनोवृत्ति अकारण ही उलझन खड़ी कर देती है। इन बातों को सही रूप मे समझकर युग की भाषा मे युगबोध देना भगवान् महावीर के अनुयायियों का दायित्व है।

संयम वर्तमान युग की सबसे बड़ी अपेक्षा है। हिसा, असन्तोष, संग्रह, शोषण, अन्याय–ये सब असंयत मन की निष्पत्तिया है। असंयम के अणु मनुष्य के अवचेतन मन में संक्रान्त है। इस संक्रमण को रोकने के लिए आत्म-सयम का सिद्धान्त सजग प्रहरी का काम करता है। संयम को दमन का रूप न देकर अन्तःप्रेरणा से स्वीकृत करना अधिक लाभप्रद है। समन्वय, स्वतन्त्रता, अहिसा और अपरिग्रह आत्म-सयम के फलित है। संयम भी रूढ़ न हो इस दृष्टि से इस सम्बन्ध में विशेष शोध की अपेक्षा है। शोध के बाद प्रशिक्षण और प्रयोग का क्रम भी चालू रखना है। ऐसा करके ही हम भगवान् महावीर को सही रूप से मना सकेंगे।

इस वर्ष दीपावली से पूरा वर्ष निर्वाण समारोह के रूप में मनाया जाने वाला है। इस अवसर पर प्रचार, प्रसार, आयोजन, गोष्ठियां, सांस्कृतिक कार्यक्रम, साहित्य-पठन, तपस्या, विशिष्ट साधना आदि माध्यमों से आत्मोन्मुखता की प्रेरणा पाना है। जैन धर्म को जन-धर्म बनाने का प्रयास करना है। तथा जैन शासन की प्रभावना करने के लिए हर सम्भव प्रयत्न करने के लिए तैयार रहना है।

२५०० वां निर्वाण-महोत्सव कैसे मनाएं ?

भगवान् महावीर युग-चेतना के सजग प्रहरी थे। अहिसा, अपरिग्रह और अनेकांत के माध्यम से उन्होंने लोकमानस में अध्यात्म-ज्योति प्रज्वलित की। ढाई हजार वर्ष की लम्बी अवधि के बाद भी उनके ये सिद्धान्त जन-समस्याओ को समाधान देने मे समर्थ है। हिसा, संग्रह और वैचारिक द्वन्द्व से संत्रस्त ससार के सामने उन सिद्धान्तों को प्रभावी ढंग से रखने की अत्यन्त अपेक्षा है।

भगवान् महावीर का २५०० वां निर्वाण महोत्सव वर्ष दीपमालिका १३ नवम्बर, १९७४ से प्रारम्भ हो रहा है। राष्ट्रीय और अन्तर्राष्ट्रीय स्तर पर इस समारोह को मनाने की योजनाएं बन रही है। भारत सरकार और प्रान्तीय सरकारें इसमें सचेष्ट है। केन्द्रीय महासमिति तथा क्षेत्रीय समितिया अपना-अपना दायित्व पूरा करने में सलग्न है। सभी सम्प्रदायों के गणमान्य व्यक्ति सामूहिक या स्वतंत्र रूप से भगवान् महावीर के प्रति श्रद्धांजलि समर्पित करने के लिए उत्साहित है। यह जैन शासन की गौरव-वृद्धि के लिए शुभ अवसर है। अब केवल चितन नहीं, प्रबल पुरुषार्थ की अपेक्षा है।

तेरापथ धर्म-सघ एक संगठित और प्रगतिशील संघ है। प्रारम्भ से ही इसकी अपनी एक विशिष्ट परम्परा है। आचार्य के इंगित और निर्देश को आत्म धर्म समझकर उसे सफल बनाने के लिए चतुर्विध संघ सदा अग्रणी रहा है।

इस अवसर पर राष्ट्रीय, सामाजिक एवं आध्यात्मिक स्तर पर विभिन्न कार्यक्रम आयोजित होगे। राष्ट्रीय एवं सामाजिक कार्यक्रमो मे तो लोगो का सहज झुकाव होता है पर अध्यात्म की बात अंतरंग है, अत. उसको क्रियान्वित करने के लिए महती प्रेरणा और मार्गदर्शन की आवश्यकता है।

हम निर्वाण-महोत्सव वर्ष को 'संयम वर्ष' के रूप में प्रस्तुत करना चाहते है। अत. आत्म-संयम के इस महान् यज्ञ में प्रत्येक व्यक्ति का योगदान किस रूप में और कैसे हो, इसके लिए यह संक्षिप्त रूपरेखा है–

१. पचीस सौ पृष्ठों का स्वाध्याय

किसी भी दर्शन की गहराई में पहुंचने के लिए उसका तलस्पर्शी ज्ञान आवश्यक होता है। उसके बिना सत्य का साक्षात्कार असंभव है। अतः प्रत्येक जिज्ञासु जैन दर्शन के मौलिक ग्रन्थों का स्वाध्याय करे। उसके लिए कम-से-कम पचीस सौ पृष्ठों की सीमा निर्धारित की गई है। यह स्वाध्याय व्यक्तिगत या सामूहिक रूप से भी किया जा सकता है। स्वाध्याय के लिए कुछ निर्धारित ग्रन्थ ये हैं–'भगवान् महावीर : जीवन और दर्शन', सत्य की खोज : अनेकान्त के आलोक में', जैन दर्शन : मनन और मीमांसा', 'जैन दर्शन और आधुनिक विज्ञान', 'तेरापंथ का इतिहास', 'भिक्षु विचार दर्शन', 'जैन सिद्धान्त दीपिका', 'जीव-अजीव'। इसके अतिरिक्त अन्य ग्रन्थों का भी स्वाध्याय किया जा सकता है।

२. तत्त्व-ज्ञान प्रशिक्षण

जैन तत्त्व विद्या हृदयंगम करने के लिए कुछ कंठस्थ ज्ञान आवश्यक होता है। इसके लिए पचीस बोल, प्रतिक्रमण (व्रत और अतिचार) आदि अधिक से अधिक व्यक्तियों को कंठस्थ कराए जाएं।

३. ज्ञानशाला

बालक-बालिकाओं में संस्कार-निर्माण की दृष्टि से ज्ञानशाला का क्रम बहुत उपयोगी सिद्ध हुआ है। साधु-साध्वियों के प्रवासकाल में किया गया श्रम इस माध्यम से स्थायी रह सकता है। अतः प्रत्येक क्षेत्र इसकी उपयोगिता को समझे और अपने यहां इस क्रम को चालू करे।

४. समन्वय के पांच सूत्र

अनेकान्त की दृष्टि का फलित समन्वय और सद्भाव है। इसके लिए समन्वय के पांच सूत्रों का अधिक से अधिक प्रसार किया जाए। पांच सूत्र इस प्रकार है–

१. मण्डनात्मक नीति बरती जाए। अपनी मान्यता का प्रतिपादन किया जाए। दूसरो पर मौखिक अथवा लिखित आरोप न किया जाए।
२. दूसरों के विचारो के प्रति सहिष्णुता रखी जाए।

३. दूसरे सम्प्रदाय और उसके अनुयायियों के प्रति घृणा और तिरस्कार की भावना का प्रचार न किया जाए ।
४. कोई सम्प्रदाय-परिवर्तन करे तो उसके साथ सामाजिक बहिष्कार आदि अवांछनीय व्यवहार न किया जाए ।
५. धर्म के मौलिक तथ्यों—अहिसा, सत्य, अचौर्य, ब्रह्मचर्य और अपरिग्रह को जीवन-व्यापी बनाने का सामूहिक प्रयत्न किया जाए ।

५. अणुव्रत-दीक्षा

अणुव्रत नैतिक जागरण का आन्दोलन है । राष्ट्र के चरित्र-निर्माण में इसकी प्रमुख भूमिका रही है । इसने असाम्प्रदायिक भाव से सभी वर्गो मे समान रूप से महत्त्वपूर्ण कार्य किया है । इस कार्य में ओर अधिक गति लाने के लिए इस वर्ष कम-से-कम २५०० अणुव्रती बनाए जाए ।

६. सम्यक्त्व-दीक्षा एवं संस्कार-निर्माण

दृष्टि-विशुद्धि के बिना आत्म-साक्षात्कार कैसे हो सकता है ? इसके लिए भगवान् ने सम्यक् दर्शन को प्राथमिकता दी है । सम्यक् दर्शन के लिए सभी सम्यकत्वदीक्षा आवश्यक है । सम्यक्त्व-दीक्षा का मतलब है—आत्म-जागरण । इसके लिए अधिकाधिक व्यक्तियो को सम्यक्त्व दीक्षा एवं संस्कार-निर्माण के लिए प्रेरित करे ।

७. व्रत-दीक्षा

चरित्र जीवन-विकास की आधारशिला है । उसका जीवन के हर क्षेत्र पर प्रभाव पड़ता है । उन्नत चरित्र ही विभिन्न समस्याओ के समाधान की कुंजी है । इसके लिए यह आवश्यक है कि अधिकाधिक व्रत-दीक्षा हो । भगवान् महावीर के तीन लाख बारह व्रती श्रावक थे । व्रत के माध्यम से उन्होने समाज को एक नयी दिशा दी थी । वर्तमान के संदर्भ में उन व्रतों की अत्यधिक उपयोगिता है । अतः उन्हें आधुनिक भाषा मे प्रस्तुत किया गया है । प्रत्येक क्षेत्र में व्रत-दीक्षा के हार्द को समझाया जाए और सलक्ष्य प्रचार-प्रसार किया जाए । कम-से-कम इस वर्ष पचीस सौ व्र.-दीक्षा हो, यह हमारा लक्ष्य है ।

८. व्यसन मुक्ति-अभियान

आधुनिकता के नाम पर नयी पीढ़ी व्यसनों में फंसकर अपनी संस्कृति एवं परम्परा को भूलती जा रही है । उसमें संस्कार-जागरण के लिए व्यसन-मुक्ति का अभियान चलाया जाए ।

९. उपासना-कक्ष

उपासना कक्ष के माध्यम से वैयक्तिक और पारिवारिक समस्याओं का सहज समाधान हो सकता है और धार्मिक संस्कारों के साथ दिनचर्या भी व्यवस्थित बन जाती है । अतः प्रत्येक क्षेत्र मे अधिकाधिक उपासना-कक्ष हों, उनमें नियमित रूप से स्वाध्याय, ध्यान एव मंगल-धुन आदि का अभ्यास किया जाए ।

१०. साधक-उपासक-योजना

साधना मे विशेष रुचि रखने वाले श्रावक-श्राविकाओ के लिए साधक और उपासक योजना के प्रशिक्षण का कार्य अणुव्रत विहार, नयी दिल्ली मे जैन विश्व भारती द्वारा प्रारम्भ कर दिया गया है । उसके लिए विशेष प्रेरणा दी जाए ।

११ विसर्जन का अभ्यास

ममत्व-मुक्ति के लिए विसर्जन का सूत्र अत्यन्त उपयोगी है । इसके माध्यम से परिग्रह-त्याग की एक विशेष भावना बनती है, अत. विसर्जन का हार्द समझकर प्रत्येक व्यक्ति इसका संकल्प करे ।

१२. ब्रह्मचर्य

ब्रह्मचर्य पवित्रता का अमोघ साधन है । उससे जीवन मे अद्भुत शक्ति का संचार होता है । भगवान् महावीर ने इसको सर्वोपरि स्थान दिया है । इस अवसर पर कम-से-कम पचीस दम्पति आजीवन ब्रह्मचर्य तथा २५०० व्यक्ति निर्वाण वर्ष तक ब्रह्मचर्य स्वीकार करें ऐसा प्रयत्न किया जाए ।

१३. तपःसाधना

तपस्या का कर्म-विशुद्ध के लिए अपना विशेष महत्त्व है। भगवान् महावीर तपोमूर्ति थे। उनकी स्मृति में त्याग और तपस्या पर विशेष बल दिया जाए। उपवास आदि की बारी तो प्रत्येक क्षेत्र में अवश्य चलनी चाहिए। आदर्श साहित्य संघ की विज्ञप्ति के द्वारा सभी क्षेत्रों मे इसकी सूचना पहुंच चुकी है। अब आवश्यकता है उसे क्रियान्वित करने की। कहां कितनी लम्बी तपस्याएं, अठाइयां, तेले तथा उपवास, आयंबिल और एकासन की बारियां चालू हो रही है, इसकी व्यवस्थित सूचना केन्द्र तक पहुंचना जरूरी है।

प्रारम्भ

यद्यपि पचीसवी निर्वाण शताब्दी का समारोह दीपावली से प्रारम्भ हो रहा है किन्तु यह चातुर्मास इस शताब्दी वर्ष का है, इसलिए त्याग-प्रत्याख्यान आदि उपक्रम तेरापथ दिवस (आषाढ़ पूर्णिमा) से ही प्रारम्भ कर दिया जाए।

विशेष बात

साधु-साध्वियों का विशेष उत्तरदायित्व है कि वे निर्धारित कार्यक्रम के अनुसार अपने-अपने सिघाड़े मे और प्रदत्त क्षेत्रो मे क्या-क्या कार्य कर सकते है, इसकी तालिका बनाए।

हर सिघाड़े को कम-से-कम पचीस अणुव्रत-दीक्षा, पचीस सम्यक्त्व दीक्षा, पचीस वर्ष भर के लिए ब्रह्मचारी, पचीस मद्य-मांस परिहारी, पचीस उपवास आदि की बारियां, पचीस अठाइयां आदि के लिए व्यक्तियो को तैयार करना है।

यदि जनसंख्या की दृष्टि से क्षेत्र छोटा हो तो अपने क्षेत्र के हिसाब से हर चार परिवार के पीछे एक-एक व्यक्ति को अवश्य तैयार करें।

तेरापथ युवक परिषद्, तेरापंथ महिला मडल, तेरापथ कन्या मंडल तथा तेरापथ किशोर मंडल के सदस्यों को भगवान् महावीर से संबंधित गीत, भजन, परिसवाद, परिचर्चा, एकांकी आदि सास्कृतिक कार्यक्रमो का भी प्रशिक्षण दिया जाए। समारोह सम्पूर्ण वर्ष चलेगा। अतः अनेक क्षेत्रों में व्यवस्थित मडलियां हो, तो उनका उपयोग दूसरे स्थानो पर भी किया जा सकता है।

स्थानीय तेरापंथी सभाओ, तेरापंथ युवक परिषदों आदि का भी यह कर्तव्य है कि वे साधु-साध्वियों के पूर्ण सहयोगी बने और जहां पर साधु-साध्वियां नही है, वहां स्वयं इस उत्तरदायित्व को वहन करे।

निर्वाण शताब्दी के सन्दर्भ में

जैन धर्म बहुत ही प्राचीन और वैज्ञानिक यानी यथार्थवादी धर्म है। भारतीय धर्मो की दो मुख्य धाराएं रही है–वैदिक और श्रमण। जैन धर्म श्रमण परम्परा का धर्म है। यह आर्हत, निर्ग्रन्थ आदि अनेक नामों से अभिहित होता रहा है। भगवान् महावीर के बाद आठवें आचार्य तक यह निर्ग्रन्थ धर्म के नाम से प्रसिद्ध रहा, फिर यह जैन धर्म के नाम से प्रचलित हुआ। भगवान् महावीर निर्वाण के कुछ शतको बाद जैन शासन, दिगम्बर और श्वेताम्बर इन दो मुख्य धाराओ मे विभक्त हो गया। काल की लम्बी अवधि में ये धाराएं उपधाराओं में विभक्त हो गई। वि० स० १८१७ में आचार्य भिक्षु द्वारा तेरापंथ प्रवर्तित हुआ।

जैनशासन चौबीस तीर्थकरो द्वारा पल्लवित हुआ है। वर्तमान शासन भगवान् महावीर का चल रहा है। यद्यपि इसमें अनेक सम्प्रदाय हो गए है। उनमें परम्परा भेद और आचारभेद भी है। फिर भी मौलिक तत्त्व की एकता है। भगवान् महावीर की अनेकान्त दृष्टि और उससे फलित समन्वय दर्शन में समन्वय की अद्भुत क्षमता है। भारत के महान् विचारक आज यह चाहते है कि अनेकान्त-दर्शन का विश्व में अधिक-से-अधिक प्रचार हो। उससे विश्व की अनेक समस्याएं सुलझ सकेगी।

आचार्य भिक्षु ने सत्य को व्यापक संदर्भ में देखा और धर्म को संप्रदाय की सीमा से मुक्त कर दिया। भगवान महावीर के धर्म की आत्मा आचार्य भिक्षु के माध्यम से बहुत ही शक्तिशाली रूप में प्रकट हुई है। उनके उत्तराधिकारी आचार्यो ने इस विचार को आगे बढ़ाया। वर्तमान युग मे उसे विकसित करने का मुझे और अवसर दिया। मुझे प्रसन्नता है कि आज तेरापथ धर्मसघ भगवान् महावीर के समन्वय-दर्शन का सही-सही प्रतिनिधित्व कर रहा है। पूज्य जयाचार्य ने साहित्य की धारा को प्रवाहित किया। पूज्य कालूगणी ने आधुनिक विधाओं का बीज वपन किया। मुझे उन्हे पल्लवित, पुष्पित और फलित करने का सौभाग्य मिला। आज हमारा धर्मसंघ प्राच्य और अर्वाचीन विधाओं का संगम बन रहा है।

वि० सं २००५ फाल्गुन शुक्ला द्वितीया को अणुव्रत-आन्दोलन का प्रवर्तन हुआ। धर्म का प्रायोगिक रूप जनता के सामने प्रस्तुत हो गया।

(१) धर्म के व्यापक दृष्टिकोण को समझाने के लिए मैने धर्मसंघ के साथ लम्बी पदयात्राएं कीं। हम पंजाब से कन्याकुमारी तक लगभग ४० हजार मील घूमे। जनता ने व्यापक दृष्टिकोण का हार्दिक स्वागत किया। यह उदार, व्यापक और समन्वय प्रधान दृष्टिकोण हमें जैनधर्म से मिला, भगवान् महावीर के दर्शन से मिला।

(२) अभी हमारे सामने एक बड़ा अवसर है। स० १९७४ ई० की दीपावली से भगवान् महावीर की पचीसवी निर्वाण शताब्दी मनाई जा रही है। भारत सरकार ने राष्ट्रीय समिति गठित की है। अन्य प्रान्तीय सरकारो ने भी अपने-अपने राज्य मे समितिया गठित की है। राष्ट्रीय समिति मे जैन समाज के चारो सम्प्रदायों–[illegible], मूर्तिपूजक, स्थानकवासी और तेरापंथ– का समान प्रतिनिधित्व है।

भगवान की इस निर्वाण शताब्दी के उपलक्ष्य मे जैन समाज द्वारा अनेक कार्य हो रहे है। हमारे धर्मसघ की ओर से जैन-विश्वभारती का समायोजन [illegible]। इसमें जैन विद्या और जैन तत्त्वविषयक अनुसंधान के साथ जैन [illegible] जैन योग को भी पुनर्जीवित करने की परिकल्पना है। धर्म के [illegible] या योग-विद्या के अवतरण का अभिनव प्रयोग समूचे विश्व [illegible]। [illegible] धर्मसंघ भी इस दिशा मे वर्तमान विश्व के साथ चल [illegible] इन सब प्रवृत्तियो का महान् केन्द्र होगा। इसे विकसित [illegible] अपनी-अपनी मर्यादा और क्षमता के अनुसार समूचा धर्मसघ [illegible]।

जैनविश्वभारती का सूक्ष्म शरीर वि० सं० [illegible] निर्मित हो गया था। उस दिन मैने पारमार्थिक [illegible] जैन विद्या के अध्ययन का पहला पाठ दिया था। [illegible] है।

जैन विश्वभारती का स्थूल शरीर [illegible] को निर्मित हो रहा है। इस महान् [illegible] स्थूल शरीर निर्माण मे श्रावकसघ [illegible] होता है। इसका भविष्य आने वाले [illegible]। [illegible] विश्व को ज्ञान, समन्वय, साधना [illegible]

भगवान् महावीर के युग [illegible] हो रहे है और होगे–सिद्ध [illegible]।

वर्तमान युग में [illegible] साधक बने है, बन रहे हैं [illegible]

[illegible]

१. अणुव्रत के माध्यम से समाज ने नया मोड़ लिया। रूढ़ियों को छोड़ आगे बढ़ा।

२. साहित्य के क्षेत्र में हमारे धर्मसंघ ने अच्छी प्रगति की। संघ का साहित्य अनेक दिशाओं में प्रभावी बना।

गत दो दशको से आगम-संपादन का कार्य चल रहा है। देवर्द्धिगणी के बाद एक अर्थ में बृहत् आगमवाचना हो रही है। यह तेरापंथ की ओर से भगवान् महावीर के प्रति महान् श्रद्धांजलि होगी।

शाश्वत स्वर

मानव-संस्कृति का आधार : अहिंसा

भारतीय सस्कृति अध्यात्म-प्रधान संस्कृति है। अध्यात्म की आत्मा है अहिंसा। अहिसा सब धर्मो का सार है। जिस धर्म के साथ अहिसा का अनुबंध नही होता, वह किसी को त्राण नही दे सकता। अहिसा-शून्य धर्म प्राण-विहीन शरीर के समान है। अहिसा की इतनी गरिमा होने पर भी इसके फलस्वरूप मे बहुत अधिक विप्रतिपत्ति है। इसकी परिभाषाओ की परिधि इतनी विस्तृत है कि कही-कही केन्द्र भी अदृश्य हो जाता है। एक दृष्टि से यह विशाल राजपथ है, दूसरी दृष्टि इसे एक संकरी पगडडी से उपमित करती है। यह ऐसी पगडडी है जिसके दोनों ओर गहरी घाटियां है। पर्वतारोही जब पगडंडी के सहारे ऊपर चढ़ता है तब दोनो पार्श्व की गहरी घाटियो में उसे क्षण-क्षण खतरो की सभावना बनी रहती है। थोड़ा-सा ध्यान बटते ही पैर फिसल सकता है, फिर व्यक्ति के अस्तित्व की भी सूचना नही मिल पाती। अहिसा का पथ तो तलवार की धार से अधिक सकरा है। इस स्थिति मे कोई भी व्यक्ति इस पर चलने का साहस कैसे कर सकता है?

यह बात सही है कि अहिसा का मार्ग बहुत जटिल है, पर यह भी उतना ही सच है कि इस पथ पर बढ़े बिना कोई भी महान् नही बन सकता। विश्व का इतिहास इस तथ्य का साक्षी है कि जो भी व्यक्ति महान् बने उन्हे अहिसा का आश्रय लेना ही पड़ा है। बिना इस आलबन के महत्ता का स्पर्श भी नही हो सकता। अहिसा की इस महनीयता और उपयोगिता की प्रेरणा है कि उसके स्वरूप का एक सार्वभौम मौलिक विश्लेषण हो, जो उसे समुचित रूप से परिभाषित कर सके।

अहिसा को परिभाषित और विश्लेषित करने से पहले मै उसके वाचक कुछ शब्दो को भी देना चाहता हूं। अहिंसा के पर्यायवाची शब्दों की एक लबी शृंखला है। हर शब्द अपने-आप में अहिसा की समग्र आर्थी गरिमा का संवाहक है।

प्रस्तुत संदर्भ में मुझे केवल शब्दों की ही यात्रा नहीं करनी है, इसलिए उन शब्दों पर संक्षिप्त टिप्पणी कर रहा हूं, जिन्होंने भीतर और बाहर दोनों ओर से मेरे मन को प्रभावित किया है ।

अहिंसा का एक नाम है—'निर्वाण' । भारतवर्ष की निर्वाणवादी परम्परा में यह मनुष्य का चरम लक्ष्य है । इस स्थिति में सारी दुःख परम्परा छूट जाती है । और ऐकांतिक, आत्यन्तिक तथा अव्याबाध शांति उपलब्ध हो जाती है ।

दूसरा नाम है—'समाधि' । मानव समाज समस्याओं से आक्रांत है, इसलिए वह समाधान चाहता है । मनुष्य की कुछ समस्याएं आंतरिक है और कुछ बाह्य। अहिंसा उन सबको समाहित कर व्यक्ति को स्वस्थता देती है, इसलिए इसका नाम समाधि है ।

'शक्ति' अहिंसा का वाचक है । अहिंसा को कायर व्यक्तियों का अस्त्र समझने वाले व्यक्ति इसकी प्रतिरोधात्मक शक्ति से परिचित नहीं हैं । अहिंसा की शक्ति अप्रतिहत और अनिर्वचनीय है ।

अहिंसा मनुष्य को तृप्ति देती है । इस दृष्टि से इसका एक नाम है 'तृप्ति'। हिंसा से आकांक्षाओं का विस्तार होता है जो व्यक्ति को अंतहीन दु:ख की दिशा में अग्रसर करता है । तृप्ति आत्म-शांति की उपलब्धि का सूचक है ।

'दया' शब्द में निहित अनुकम्पन का भाव किसी प्राणी की शरीर-रक्षा तक सीमित नहीं है । यह उसके आत्मिक अभ्युदय का प्रतीक है ।

अहिंसा जीवन की सबसे बड़ी उपलब्धि है; यही कारण है कि उसके 'लब्धि' नाम की सार्थकता को प्रमाणित करता है । जिस व्यक्ति को अहिंसा उपलब्ध हो गयी, उसके लिए सारी उपलब्धियां कृतकृत्य है ।

'उत्सव' एक विशेष मानसिक प्रसत्ति का वाचक शब्द है । अहिंसक व्यक्ति अहिंसा के मार्ग में कहीं विषाद का आभास ही नही कर पाता । इसलिए अहिंसा का 'उत्सव' नाम अधिक व्यावहारिक है ।

'आश्वास' शब्द अहिंसा की उस शक्ति की अभिव्यक्ति है, जो अनन्त-अनन्त प्राणियों को आलम्बन देकर उनकी निरीह चेतना को अध:पाती प्रवाह से त्राण देती है ।

अहिंसा पारस्परिक संदेह की दीवारों को तोड़कर उस अटूट विश्वास का सृजन करती है, जो उसे आगे बढ़ने की प्रेरणा देता है । इस दृष्टि से उसका नाम 'विश्वास' है ।

भय सबसे बड़ी हिंसा है । भयाक्रांत व्यक्ति न स्वयं स्वस्थ रह सकता है और न अपने परिवेश को स्वस्थ रख सकता है । भय की स्थिति मे उचित और

अनुचित का विवेक भी खो जाता है। इसलिए अभय की साधना अपेक्षित है। यह अभय ही अहिंसा है।

अहिंसा के पर्याय-बोधक कुछ शब्दों की चर्चा से स्पष्ट हो जाता है कि वह मानव-समाज के लिए कितनी महत्त्वपूर्ण उपलब्धि है। मानवीय संस्कृति का पल्लवन अहिंसा की भूमिका पर ही हो सकता है। इसलिए इसको एक जीवन व्यापी मूल्य देने की अपेक्षा है।

अहिंसा की शक्ति

अहिंसा सत्य का द्वार है। इसमें प्रविष्ट हुए बिना कोई भी व्यक्ति सत्य तक नहीं पहुंच सकता। इसका द्वारपाल है– संयम। असंयमी साधक जीवन-भर प्राण-वध से विरत रहकर भी क्षण-क्षण हिंसा करता है। उसकी चित्तवृत्ति भाव-हिंसा से अनुप्राणित रहती है। वह व्यक्ति हर समय स्वयं को असुरक्षित अनुभव करता है। क्योंकि वह अहिंसा के देश-कालातीत संरक्षण से वंचित है। अहिंसा की शक्ति का थाह पाना उसके लिए असंभव है,/जो हिंसा की शक्ति में विश्वास करता है।

अहिंसा के संरक्षण से छूटा हुआ व्यक्ति चारों ओर से अरक्षित हो जाता है उसे अपने आपसे भी भय होने लगता है। उसका मानस-अस्त्र इतना मारक हो जाता है कि वह उसकी तीक्ष्ण धार पर चढ़े अपने अस्तित्व की सुरक्षा के प्रति भी आशंकित हो जाता है। भय, आशंका और असुरक्षा का एकमात्र समाधान है अहिंसा। इसकी क्षमता का विश्लेषण करते हुए आगम पुरुषों ने कहा है –

भियाणं पिव सरणं

जैसे कोई भयाक्रान्त व्यक्ति शरण की खोज में भटकता है। भटकन के क्षणों में वह देखता है कि शत्रु के सैनिकों की नजर उसी पर टिकी हुई है। वह दुगुना बल लगाकर दौड़ता है। दौड़ते-दौड़ते उसकी सांस फूल जाती है, शरीर पसीने से तर-ब-तर हो जाता है, पांव श्लथ हो जाते है और जीवन की आशा छूट जाती है। ऐसे विकट समय में एक सक्षम राजा की शरण और हर मूल्य पर सुरक्षा का आश्वासन पाकर वह निश्चिन्त हो जाता है। इसी प्रकार अहिंसा सब प्रकार के भयों से आक्रान्त व्यक्ति के लिए सुरक्षित शरण-स्थल है।

पक्खीणं पिव गगणं

पक्षी को सोने के पिंजरे में बंद कर दिया है। उसके सामने मधुर फल रखे हुए है। चांदी के पात्र में मीठा और स्वच्छ जल है। स्वामी मनुहारें कर रहा है,

फिर भी पक्षी अपनी चोंच नहीं खोलता है। वह अपने पंख फड़फड़ा रहा है और देख रहा है कातर दृष्टि से मुक्त गगन के सीमाहीन विस्तार को। स्वामी की लड़की ने उसकी पीड़ा को समझा और खोल दिया पिंजरे का द्वार। वह उसके प्रति कृतज्ञ भाव ज्ञापित करता हुआ नीलगगन का उन्मुक्त यात्री बन गया। आंखों में चमक और मुख पर स्वतंत्र विहार का अनिर्वचनीय सुख। शरीर के पिंजरे में कैद प्राण-पक्षियों को मुक्त आकाश देने वाली एक मात्र जो शक्ति है, वह अहिंसा ही है।

तिसियाणं पिव सलिलं

जेठ की तपती दुपहरी। सूर्य अपने उदग्र यौवन के तेज से दीप्त है। लम्बी पदयात्रा की थकान और प्यास से व्याकुल प्राण। अब दो कदम आगे चलना भी सम्भव नहीं है। ऐसे प्राणान्तक समय में ठंडा और मीठा पानी जाती-जाती सांस को वापस लौटा लाता है। गति में नयी ताजगी आ जाती है। ऐसी ही प्राण दायिनी शक्ति है अहिंसा के स्नेहिल संप्रेषण में।

खुहियाणं पिव असणं

पौष की ठिठुरन भरी सर्द हवाओं में भूख का कष्ट कितना असह्य हो जाता है। भोजन की आशा छूट जाने पर चेहरे पर उभरा हुआ बेबसी का भाव, अंग-अंग की शिथिलता, आंखों के आगे छाया अन्धेरा और बार-बार बेहोशी के दौरे। ऐसी द्रावक स्थिति में मनोज्ञ भोजन पाकर व्यक्ति सचेत हो उठता है। इससे भी अधिक सचेतता उपलब्ध होती है अहिंसा की सजग आराधना मे

समुद्दमज्झे व पोतवहणं

उफनते हुए समुद्र में डूबता-उतरता व्यक्ति उन मचलती लहरों के साथ कब तक जूझ सकता है? ज्यों-ज्यों तट की दूरी बढ़ती है, उसका मन बुझा-बुझा-सा हो जाता है। उस समय अपने निकट जलपोत की उपस्थिति व्यक्ति को कितना सुख देती है? अहिंसा की सन्निधि प्राणी को इससे भी अनन्त गुना अधिक सुख और आनन्द दे सकती है।

चउप्पयाणं व आसमपदं

जंगल के हिंसक पशुओं से संत्रस्त मृग आदि पशु किसी तापस के आश्रमपद में पहुंच जाते है तो निर्भीक होकर विहार करते है। वहां उनका संत्रास और भय

टूट जाता है । इसी प्रकार अहिंसा की अनुपालना व्यक्ति को अभय और निर्द्वन्द्व बना देती है ।

दुहट्टियाणं व ओसहिवलं

लम्बी और असाध्य बीमारी, चिकित्सकों की उपेक्षा, औषध और पथ्य का अभाव व्यक्ति को अपने जीवन से सर्वथा निराश बना देता है । निराशा के उन क्षणों में किसी अनुकम्पित वैद्य की ओषधि संजीवनी के रूप में अपना प्रभाव दिखाती है । तब रोगी को कितना बड़ा आलम्बन मिलता है ? इससे भी अधिक सशक्त आलम्बन अहिंसा का होता है ।

अडवीमज्झे व सत्थगमणं

भीषण अरण्यानी में अमावस की काली रात । न पथ, न पाथेय और न साहस । अहिंसक पशुओं का भय और अनचीन्ही मजिल । पथिक पराजित हो जाता है । पर उसी समय एक सार्थ का साथ पाकर वह अपने यात्रा-पथ को सुगम कर लेता है । इसी प्रकार जीवन के सफर में अहिंसा का सार्थ उपलब्ध हो जाने से हर बीहड़ अटवी सरलता से पार हो सकती है ।

अहिंसा के अमाप्य व्यक्तित्व में योग-क्षेम की जो क्षमता है वह अतुल और अनुपमेय है । भयभीतों के लिए शरण-स्थल, पक्षियों के लिए उन्मुक्त आकाश, प्यास से आकुल प्राणों के लिए जल, भूख से तड़पते लोगों के लिए भोजन, सागर मे डूबते व्यक्तियों के लिए जलपोत, निरीह पशुओं के लिए आश्रमपद, रोगी के लिए ओषधि-पान और अरण्यानी में भटके राही के लिए एक सार्थ का जितना मूल्य होता है उससे भी अधिक मूल्य है भगवती अहिंसा का । क्योकि वह इन सबसे अधिक सम्बल और शरण-स्थल है ।

अहिंसा का स्वरूप

सामान्यत. अहिसा को निषेधार्थक माना जाता है। 'न हिंसा--अहिंसा'--हिसा का अभाव अहिसा है, यह इसकी एकागी परिभाषा है। इसको सर्वागीण रूप से परिभाषित करने के लिए इसके विधेयार्थ और निषेधार्थ दोनों को समझना जरूरी है। किसी प्राणी के प्राणों का वियोजन नहीं करना, इस सूत्र का अहिंसा के संदर्भ में जितना मूल्य है, उससे भी अधिक मूल्य है किसी भी प्राणी के प्रति अनिष्ट चिन्तन के बहिष्कार का। असत् विचार हिंसा है। असत् वचन हिसा है। जितना कुछ झूठ बोला जाता है, वह हिसा की प्रेरणा से ही बोला जाता है। असत् चिन्तन और असत् वाणी की तरह असत् व्यवहार मात्र हिंसा है, चाहे वह किसी के भी प्रति हो मनुष्य की प्रवृत्ति सत् और असत् दोनो प्रकार की होती है। जिस प्रवृत्ति के साथ असत् शब्द का योग हो जाता है। वह हिसा-सवलित ही होती है।

दूसरो के प्रति द्वेष की भावना, ईर्ष्या, उन्हें गिराने का मनोभाव और उनकी बढ़ती हुई प्रतिष्ठा को रोकने के सारे प्रयत्न हिसा मे अन्तर्गर्भित हैं। दूसरो के मन मे भय उत्पन्न करना, उनके सामने दु खद परिस्थितिया उभार देना, उनके विकास के मार्ग मे बाधा पहुचाना आदि प्रवृत्तिया भी हिसा की परिधि में समाविष्ट है . इन प्रवृत्तियो का सर्वथा निरोध अहिंसा का आदर्श है। यह अहिसा का नेगेटिव पक्ष है।

अपने पॉजिटिव पक्ष में 'अहिसा' समता, मैत्री, संयम आदि उदात्त वृत्तियों से अनुबन्धित है। यहां अहिसा का वाच्यार्थ न मारने तक की सीमा में आबद्ध नही है। जहा यह प्रतिबद्धता जुड़ जाती है, अहिसा का व्यापक अर्थ एक छोटे-से संदर्भ मे समा जाता है। समता का धरातल असीम है। मैत्री की पौध इसी धरातल पर फली-फूली रह सकती है। इससे आत्मौपम्य की भावना जागृत होती है। आत्मतुला की बुद्धि से प्रेरित व्यक्ति ही अहिसा को समझ सकता है और उसका पालन कर सकता है।

जो व्यक्ति छोटे और बड़े, अनुकूल और प्रतिकूल हर प्राणी के प्रति समत्व बुद्धि का विकास करता है, वह अहिंसक होता है। जिस व्यक्ति की चेतना द्वन्द्वों से मुक्त हो जाती है, आत्मभाव और परभाव में राग एवं द्वेष की परिकल्पना नही होती, वह अहिंसक होता है।

एक अहिंसक व्यक्ति न किसी का हनन करता है, न किसी पर उपद्रव करता है, न किसी को अपने अधीन बनाता है और न किसी को संतप्त ही करता है। वह अपने मन, वाणी और कर्म तीनों की असत् प्रवृत्ति का निरोध करता है। या उसे सत् में रूपान्तरित करता है।

अहिंसा जीवन का परम आदर्श है। इसके परिवेश में अन्य अनेक आदर्श स्वयं उपस्थित हो जाते है। सत्य अहिंसा की परिक्रमा करता है। अचौर्य इसकी सहज परिणति है। ब्रह्मचर्य इसका सहचर है और अपरिग्रह इसका सहोदर है। अहिंसा की उत्कृष्ट आराधना करने से शेष तत्त्व स्वयं आराधित हो जाते हैं।

अहिंसा वह सुरक्षा-कवच है जो घृणा, वैमनस्य, विद्वेष, प्रतिशोध, भय, आसक्ति आदि घातक अस्त्रों के प्रहार को निरस्त कर देता है। यह जिसे उपलब्ध होता है, वह सदा निश्चिन्त जीवन जीता है। अतीत की स्मृति और भविष्य की आशंका उसके मन को विक्षुब्ध नहीं कर सकती। अपने अस्तित्व की सुरक्षा और स्वत्व के विस्तार की भावना से प्रेरित होकर वह कोई अनुचित निर्णय नही ले सकता।

अहिंसा की अनुपालना स्व और पर दोनों के लिए हितावह है। जिस भू-भाग में अहिंसा प्रतिष्ठित होती है वहां जन्मना वैर-भाव रखने वाले प्राणियो की शत्रुता समाप्त हो जाती है। तीर्थकरों का समवसरण इसका स्वयंभू साक्ष्य है। विरोधी विचार वाले लोगों का सहावस्था न अहिसा की पृष्ठभूमि पर ही घटित हो सकता है।

जिस देश या समाज में अहिंसा का मूल्य नहीं है, वहा मानवीय मूल्यों को कोई प्रतिष्ठा नहीं मिल सकती। मानवता के लिए त्रांण, शरण, गति और प्रतिष्ठा एकमात्र अहिंसा ही है। जो व्यक्ति अहिंसक होता है वह–'जागरवेरोवरए' जागृत होता है और वैर से उपरत होता है।

अहिंसा जागृति है, हिंसा सुषुप्ति है। अहिंसा प्रकाश है, हिसा अंधकार है। अहिंसा अमृत है, हिंसा विष है, अहिसा जीवन है। हिंसा मृत्यु है। अहिंसा मुक्ति है, हिसा संसार है। अहिंसा आनन्द का द्वार है और हिंसा है विषाद, संक्लेश एव परताप की परछाया। अहिसा के स्वरूप को समझना और उसे आत्मगत करना ही जीवन की उपलब्धि है।

अहिंसा का प्रयोग : असंदीन द्वीप

अहिंसा शब्द में ऐसी मधुर मिठास है, जो मनुष्य के पोर-पोर को मधुरिमा से भर देती है। इसकी मिठास का प्रभाव किसी व्यक्ति या वर्ग विशेष पर नही, समग्र संसार पर है। यही कारण है कि विश्व के सभी लोगों ने इसका प्रयोग किया और सुफल पाया है। धार्मिक लोग अहिंसा की गरिमा गाये या अपनी समस्या का समाधान इसी से पाए, इसमें आश्चर्य जैसा कुछ भी नही है। किन्तु जब वे व्यक्ति अहिसा के प्रयोग की बात करते है, जिनका धर्म या अहिंसा के साथ सीधा कोई सम्बन्ध ही नही होता, तब सुखद आश्चर्य होता है।

इस युग की राजनीति में अहिंसा का प्रयोग करने वालों में गांधीजी का नाम शीर्षस्थानीय है। उन्होने भारतीय राजनीति के सन्दर्भ मे एक नयी क्रान्ति की। शताब्दियों से परतन्त्र राष्ट्र को अहिंसा की शक्ति से स्वतन्त्र करने के लिए वे कर्मक्षेत्र में उतर पड़े। विदेशी सत्ता चरमरा उठी। उसने अहिसा के समक्ष घुटने टेक दिये। भारत स्वतन्त्र हो गया। आज भी गाधीजी के अनुयायी राजनीति में अहिंसा का प्रयोग कर रहे है। इस प्रयोग के पीछे उनकी आस्था कितनी है, यह प्रश्न तो अब तक अनुत्तरित रहा है। पर सैद्धान्तिक रूप से अहिसा की मूल्यवत्ता निर्विवाद रूप से स्वीकृत की जा रही है।

अन्तर्राष्ट्रीय समस्याओं को आज अहिसा के मंच से सुलझाने का प्रयास किया जा रहा है, यह भी अपने आप में एक नया प्रयोग है। शास्त्रास्त्रनिर्माण की प्रति स्पर्धा में निःशस्त्रीकरण के जो स्वर सुनायी दे रहे है, वह अहिसक चिंतन की ही फलश्रुति है। विरोधी विचारों वाले व्यक्तियों का सामंजस्यपूर्ण सहावस्थान अहिसा की भूमिका पर ही हो सकता है। इसी दृष्टि से संयुक्त राष्ट्रसंघ जैसे अन्तर्राष्ट्रीय सस्थान अहिंसात्मक मूल्यो में विश्वशाति की कल्पना कर रहे है।

अपराध जगत में आज अहिंसा के विशेष प्रयोग हो रहे है। प्राचीन समय मे कारावास यंत्रणा-गृह के रूप में प्रसिद्ध थे। वहां अपराधियों को घोर शारीरिक और मानसिक यातनाएं दी जाती थीं। इससे उनका विद्रोह अधिक प्रबल होता

वे जेलों से मुक्त होते ही पहले से भी भयंकर अपराधों में संलग्न हो जाते। दमन की नीति अपराध कम करने मे सफल नहीं हो पायी, तव कुछ लोगों ने अहिसात्मक दृष्टिकोण अपनाया। अपराधी को यातना देने के स्थान पर उसे रचनात्मक क्षेत्र दिया गया। अधिकारियो की आत्मीयता, वातावरण की स्वस्थता और सम्मानपूर्ण जीवन जीने की चाह ने व्यक्ति को बहुत अधिक रूपांतरित कर दिया। इस सुफल को देख इस दिशा मे नयी शोध हुई, नये प्रयोग हुए और आज अहिसा के प्रयोक्ताओ मे इस वर्ग को सहज रूप से सम्मिलित किया जा रहा है।

एक युग था जब सामाजिक सघर्ष की स्थिति में जाति-बहिष्कार जैसी परम्पराए प्रचलित थीं। जन-जीवन मे आतक और प्रतिशोध के भाव व्याप्त थे आज ऐसा कुछ नही है, यह बात तो नही है। फिर भी अहिसा के प्रति आस्थांशील कुछ व्यक्ति सामाजिक सघर्षो को अहिसा के धरातल पर समाप्त करने का प्रयत्न कर रहे है। ऐसे प्रयोगो से भी अहिसा का वर्चस्व बढ़ा है।

परिवार समूह-चेतना की दृष्टि से सबसे छोटी सस्था है। एक परिवार के सदस्य भी कभी-कभी विचार-भेद के तीव्र आक्रमण से आक्रान्त हो जाते है। पिता-पुत्र के मध्य सघर्ष छिड़ जाता है। मा-बेटी मे अनबन हो जाती है। भाई-भाई में दुराव हो जाता है। पति-पत्नी में बोल-चाल तक बन्द हो जाती है . ऐसे विषम वातावरण मे अहिंसा के प्रयोक्ता शांति स्थापित कर देते है। इससे आग्रह की दीवारे टूट जाती है और जीवन सरस बन जाता है। सदेह की उभरती हुई रेखाए सम हो जाती है और पारस्परिक विश्वास प्रगाढ़ हो जाता है।

अपने व्यक्तिगत जीवन मे भी अहिसा के प्रयोग करने वालो की संख्या कम नही है। जिन लोगों की आध्यात्मिक रुचि परिष्कृत है, जो कर्मणा धार्मिक है, जो धर्म को जीवन के रूपान्तरण की प्रक्रिया मानते है, उन्हे अहिसा के प्रयोग करने ही होते है। इस प्रकार व्यक्ति से शुरू हुए ये प्रयोग अन्तर्राष्ट्रीय क्षितिज तक लोक-जीवन को प्रभावित करते है और आनन्द का अनाबाध मार्ग प्रशस्त करते है।

जिन लोगों ने अपने जीवन मे अहिसा का प्रयोग किया है, उनके लिए यह असंदीन द्वीप के समान है। असंदीन द्वीप मे रहने वालो के सामने कभी जल का खतरा नही रहता। वे सदा निश्चिंत रहते है। भयंकर तूफान भी उन्हें आतकित नही कर पाता। अहिसा की अर्हता तो इससे लाखगुना अधिक है। इसलिए इसकी छत्रछाया में रहने वाले व्यक्ति किसी भी क्षण सत्रस्त नही हो सकते।

अहिंसा का आलोक

अहिसा जीवन की विशिष्ट निधि है। यह भीतरी जागरुकता से उपलब्ध होती है और सतत अप्रमाद से सुरक्षित रहती है। इसकी सुरक्षा का दायित्व कुछ विशिष्ट व्यक्तियो पर है। वे व्यक्ति असीम ज्ञान-दर्शन से सम्पन्न है। विनय, तप और संयम के उन्नायक है। विश्वात्मा के प्रति वात्सल्य भाव से भरे हुए है। तीनों लोक मे पूज्य है। ऐसी अर्हताओं से उपेत तीर्थकरों ने अहिसा को जाना, देखा और जीया। उनके द्वारा निरूपित अहिंसा अवधिज्ञानी मुनियो द्वारा विज्ञात है। मन पर्यवज्ञानी मुनियो द्वारा विदित है। श्रुतधर मुनियों द्वारा अधीत है। वैक्रियलब्धिधर मुनियो द्वारा अनुपालित है तथा विशष्ट लब्धि-सम्पन्न मुनियों द्वारा आसेवित है।

उन लब्धिधर मुनियो मे कुछ मुनि ऐसे है जिनके स्पर्श मात्र से असाध्य रोग प्रतिहत हो जाते है। उनके शरीर से सपृक्त किसी भी पदार्थ को औषधि के रूप मे प्रयुक्त किया जाता है। वे मुनि बीज-बुद्धि और कोष्ठ-बुद्धि से सम्पन्न है। वे पदानुसारी लब्धि और संभिन्नस्रोतो-लब्धि से सुशोभित है। वे क्षीराश्रव, मध्वाश्रव तथा सर्पिराश्रव लब्धि से उपेत है। अक्षीणमहानस लब्धि से वे अपने हजारों-हजारों साधर्मिको को आहार उपलब्ध कराने मे समर्थ है।

अहिसा के उपासकों में ज्ञान, दर्शन और चारित्र के आराधक तो है ही, उनके साथ तपस्वियो की भी लम्बी श्रृंखला है। उनमे चतुर्थ भक्त (उपवास), षष्ठ भक्त (बेला), अष्टम भक्त (तेला), यावत् पक्ष, मास, दो मास, चार मास और छह मास तक की तपस्या करने वाले मुनि है। कुछ मुनि आयम्बिल, एकाशन, नीवी, पुरिमार्द्ध आदि तप.साधना मे निरन्तर संलग्न रहते है। कुछ मुनि विशेष योगासनो का प्रयोग करने वाले है। कुछ ग्रीष्म ऋतु की मध्याह्नकालीन धूप में आतापना लेने वाले है तथा कुछ अन्य विशिष्ट अभिग्रहों (प्रतिज्ञाओं) से अभिसम्पन्न है।

अहिंसा की आराधना करने वालों में विशिष्ट बुद्धि-सम्पन्न मुनि भी है। वे औत्पत्तिकी, वैनयिकी, कार्मिकी, पारिणामिकी आदि बुद्धियो का उपयोग कर अ॰ के वर्चस्व को सहस्रगुणित करने के लिए तत्पर रहते हैं। अहिंसा की श॰

में विश्राम पाने के लिए वे सभी व्यक्ति उत्सुक रहते है, जो सत्य का साक्षात्कार करना चाहते हैं ।

अहिंसा का क्षेत्र व्यापक है । यह सूर्य के प्रकाश की भांति मानव मात्र और उससे भी आगे प्राणी मात्र के लिए अपेक्षित है । इसके विना शांतिपूर्ण सहअस्तित्व की बात केवल कल्पना बनकर रह जाती है ।

अहिसा का आलोक जीवन की अक्षय सम्पदा है । यह सम्पदा जिन्हें उपलब्ध हो जाती है, वे कालसौकरिक के पुत्र सुलस और कबीर के पुत्र कमाल की तरह नये इतिहास का सृजन करते हैं । वे उन बंधी-बंधाई परम्पराओं से दूर हट जाते है, जिनकी सीमाएं हिंसा से स्पृष्ट होती है । परिस्थितिवाद का बहाना बनाकर वे हिंसा को प्रश्रय नहीं दे सकते ।

अहिंसा की चेतना विकसित होने के अनन्तर ही व्यक्ति की मनोभूमिका विशद बन जाती है । वह किसी को कष्ट नही पहुंचा सकता । इसके विपरीत हिसक व्यक्ति अपने हितों को विश्व-हित से अधिक मूल्य देता है । किन्तु ऐसा व्यक्ति भी किसी को सताते समय स्वयं संतप्त हो जाता है । किसी को स्वायत्त बनाते समय उसकी अपनी स्वतन्त्रता अपहृत हो जाती है । किसी पर अनुशासन थोपते समय वह स्वयं अपनी स्वाधीनता खो देता है । इसीलिए हिसक व्यक्ति किसी भी परिस्थिति मे संतुष्ट और समाहित नहीं रह सकता । उसकी हर प्रवृत्ति में एक खिंचाव-सा रहता है । वह जिन क्षणों में हिंसा से गुजरता है, एक प्रकार के आवेश से बेभान हो जाता है । आवेश का उपशम होते ही वह पछताता है, रोता है और संताप से भर जाता है ।

हिंसक व्यक्ति जिस क्षण अहिंसा के अनुभाव से परिचित होता है, वह उसकी ठडी छांह पाने के लिए मचल उठता है । उसका मन बेचैन हो जाता है । फिर भी पूर्वोपात्त संस्कारो का अस्तित्व उसे बार-बार हिंसा की ओर धकेलता है । ये संस्कार जब सर्वथा क्षीण हो जाते है तब ही व्यक्ति अहिसा के अनुत्तर पथ मे पदन्यास करता है और स्वयं उससे संरक्षित होता हुआ अहिसा का संरक्षक बन जाता है । अहिसा के संरक्षक इस संसार के पथ-दर्शक बनते है और हिसा, भय, सत्रास, अनिश्चय, संदेह तथा असंतोष की अरण्यानी में भटके हुए प्राणियों का उद्धार करते है ।

अनेकान्त और स्याद्वाद

दर्शन के क्षेत्र में ज्ञान और ज्ञेय की मीमांसा चिरकाल से होती रही है। आदर्शवादी और विज्ञानवादी दर्शन ज्ञेय की स्वतन्त्र सत्ता स्वीकार नही करते। वे केवल ज्ञान की ही सत्ता को मान्य करते है। अनेकान्त का मूल आधार यह है कि ज्ञान की भांति ज्ञेय की भी स्वतन्त्र सत्ता है। द्रव्य ज्ञान के द्वारा जाना जाता है, इसलिए वह ज्ञेय है। ज्ञेय चैतन्य के द्वारा जाना जाता है, इसलिए वह ज्ञान है। ज्ञेय और ज्ञान अन्योन्याश्रित नही है। ज्ञेय है, इसलिए ज्ञान है और ज्ञान है इसलिए ज्ञेय है, इस प्रकार यदि एक के होने पर दूसरे का होना सिद्ध हो तो ज्ञेय और ज्ञान दोनों की स्वतन्त्र सत्ता सिद्ध नही हो सकती। द्रव्य का होना ज्ञान पर निर्भर नही है और ज्ञान का होना द्रव्य पर निर्भर नही है। इसलिए द्रव्य और ज्ञान दोनो स्वतन्त्र है। ज्ञान के द्वारा द्रव्य जाना जाता है, इसलिए उनमें ज्ञेय और ज्ञान का सम्बन्ध है।

ज्ञेय अनन्त है और ज्ञान भी अनन्त है। अनन्त को अनन्त के द्वारा जाना जा सकता है। जानने का अगला पर्याय है कहना। अनन्त को जाना जा सकता है, कहा नहीं जा सकता। कहने की शक्ति बहुत सीमित है। जिसका ज्ञान अनावृत होता है, वह भी उतना ही कह सकता है, जितना कोई दूसरा कह सकता है। भाषा की क्षमता ही ऐसी है कि उसके द्वारा एक बार मे एक साथ एक ही शब्द कहा जा सकता है। हमारे ज्ञान की क्षमता भी ऐसी है कि हम अनन्तधर्मा द्रव्य को नही जान सकते। हम अनन्तधर्मात्मक द्रव्य के एक धर्म को जानते है और एक ही धर्म का प्रतिपादन करते है। एक धर्म को जानना और एक धर्म को कहना नय है। यह अनेकान्त और स्याद्वाद का मौलिक स्वरूप है। उनका दूसरा स्वरूप है प्रमाण। अनन्त-धर्मात्मक द्रव्य को जानना और उसका प्रतिपादन करना प्रमाण है। हम अनन्तधर्मा द्रव्य को किसी एक धर्म के माध्यम से जानते है। इसमें मुख्य और गौण दो दृष्टिकोण होते है। द्रव्य के अनन्त धर्मो मे से कोई एक धर्म मुख्य हो जाता है और शेष धर्म गौण। नय हमारी वह ज्ञान-पद्धति है, जिससे हम

धर्म को जानते हैं, धर्मो को नहीं जानते। प्रमाण हमारी वह ज्ञान पद्धति है, जिससे हम एक धर्म के माध्यम से समग्र धर्मो को जानते हैं। हम अंधेरे में बैठे है। कोई आदमी गुलाब के फूल ले आता है। हम नही देख पाते कि उसके पास क्या है। पर सुगन्ध से पता चल जाता है कि उसके पास गुलाब के फूल है। गुलाब के फूलों में केवल सुगन्ध ही नहीं है। उनमें रंग भी है, स्पर्श भी है, और भी अनेक धर्म है। यदि प्रकाश होता तो हम उन्हें आँखों से देखकर जान लेते। अनेक धर्मो में से जो भी धर्म मुख्य होकर सामने आता है, वही उसके आधारभूत द्रव्य को जानने का माध्यम बन जाता है। इस ज्ञान-पद्धति में द्रव्य और धर्म की अभिन्नता का बोध बना रहता है। यह प्रमाणात्मक अनेकान्त है। द्रव्य और धर्म (या पर्याय) सर्वथा अभिन्न नहीं हैं। उनकी अभिन्नता एक अपेक्षा या एक दृष्टिकोण से सिद्ध है। इस अपेक्षा के सूत्र को ध्यान में रखकर धर्मी और धर्म की अभिन्नता को स्वीकार करने वाली ज्ञान-पद्धति का नाम अनेकान्त है। एकान्त ज्ञान से हम उन की अभिन्नता को स्वीकार नहीं कर सकते। धर्मी एक द्रव्य है और धर्म उसमें होने वाले पर्याय है, वे दोनों अभिन्न नहीं हो सकते। अनन्तधर्मात्मक द्रव्य का किसी एक धर्म के माध्यम से प्रतिपादन करना स्याद्वाद या प्रमाणवाक्य है।

ज्ञान-पद्धति अनेकान्त है और प्रतिपादन पद्धति स्याद्वाद। अनेकान्त के दो रूप हैं–प्रमाण और नय। प्रतिपादन की दो पद्धतियां है–समग्र द्रव्य के प्रतिपादन का नाम स्याद्वाद है और एक धर्म के प्रतिपादन का नाम नय है।

वस्तु के जितने धर्म होते है, उतने ही नय होते है। जितने नय होते हैं, उतने ही वचन के प्रकार हो सकते है। किन्तु कहा उतना ही जाता है, जितना कालमान होता है। अनेकान्त का पहला फलित है अनाग्रह, सत्य के प्रतिपादन की अक्षमता का बोध। सब लोगों मे सत्य (द्रव्य) के समग्र रूप को जानने की क्षमता नही होती। हम इस बात को छोड़ भी दें। सत्य को जानने का अधिकार सबको है, सब उसे जान सकते है, यह मानकर चलें। फिर भी हम इस तथ्य को अस्वीकार नहीं कर सकते कि सत्य के समग्र रूप को कहने की क्षमता किसी मे भी नहीं होती। इसीलिए सत्य की सारी व्याख्या नय के आधार पर होती है। हम अखण्ड को खण्ड रूप में ही जानते है और खण्ड रूप में ही उसका प्रतिपादन करते है अत. किसी खण्ड को जानकर उसें अखण्ड कहने का आग्रह हमें नही करना चाहिए। खण्ड का आग्रह न बने इसलिए भगवान् महावीर ने सापेक्षदृष्टि का सूत्र दिया। सोना पीला है, यह सोने का एक धर्म है। उसमें और भी अनेक धर्म है। सोना पीला है, यह प्रत्यक्ष देखते हुए भी हमे नहीं कहना चाहिए कि सोना पीला ही है। पीला रंग व्यक्त है, इसलिए हमे सोना पीला दिखाई देता है। अव्यक्त में न जाने और

क्या-क्या है। उसके सूक्ष्म रूप में प्रवेश किए बिना केवल स्थूल रूप के आधार पर हम कैसे कह सकते है कि सोना पीला ही है . क्या इससे व्यवहार का अतिक्रमण नही होगा ? सोना जब प्रत्यक्ष पीला दिखायी दे रहा है, हरा-काला दिखायी नहीं दे रहा है, तब हमे क्यों नहीं कहना चाहिए कि सोना पीला ही है ? व्यक्त पर्याय में सोना पीला ही है, यह हम कह सकते है किन्तु त्रैकालिक और अव्यक्त पर्यायों को दृष्टि में रखते हुए हम नहीं कह सकते कि सोना पीला ही है। इसलिए सोना पीला ही है, यह निरूपण सापेक्ष हो सकता है, निरपेक्ष नहीं। सोने में विद्यमान अनेक धर्मो को दृष्टि में रखते हुए ही हम यह कह सकते है कि सोना पीला ही है। शब्द का प्रयोग यह सूचित करता है कि सोने का पीला होना संदिग्ध नही है। कुछ लोग मानते हैं कि स्याद्वाद संदेहवाद है। किन्तु यह वास्तविकता नहीं है। संदेह अज्ञान की दशा मे होता है। हम जानते है कि सोना पीला है, किन्तु साथ-साथ यह भी जानते है कि वह केवल पीला ही नही है, कुछ और भी है। सापेक्षता की दृष्टि से हम कहते है—सोना पीला है। सोना पीला है, यह कहना संदिग्ध नहीं है। व्यक्त पर्याय की दृष्टि से यह असंदिग्ध है, इसलिए स्याद्वाद की भाषा में हम कहते है कि सोना पीला ही है।

अनेकान्त में नय का स्थान प्रधान रहा है। आगम-साहित्य में प्रमाण की अपेक्षा नय का अधिक व्यापक प्रयोग मिलता है। न्यायशास्त्र के विकास के साथ प्रमाण की चर्चा प्रारम्भ होती है। प्राचीन-साहित्य में पांच ज्ञान उपलब्ध होते है। उनमें मति, अवधि, मनः पर्यव और केवल— ये चार ज्ञान स्वार्थ होते है। श्रुत ज्ञान स्वार्थ और परार्थ दोनो होता है। नय श्रुत ज्ञान के विकल्प है। अन्य दार्शनिक प्रमाण को मानते थे पर नय सिद्धान्त किसी भी दर्शन मे निरूपित नही है। प्रमाण की चर्चा के प्रधान होने पर यह प्रश्न उठा कि नय प्रमाण है या अप्रमाण ? यदि अप्रमाण है तो उससे कोई अर्थ-सिद्धि नही हो सकती। यदि वह प्रमाण है तो फिर प्रमाण और नय एक ही हो जाते है, दो नहीं रहते। जैन तार्किकों ने इसका समाधान प्रमाण और नय के स्वरूप को ध्यान में रखते हुए किया। उन्होंने कहा—ज्ञानात्मक नय न अप्रमाण है और न प्रमाण। वह प्रमाण का एक अंश है। अनेक धर्मो में प्रवृत्त होने वाला ज्ञान जैसे प्रमाण होता है, वैसे ही एक धर्म (एक पर्याय) में प्रवृत्त ज्ञान नय होता है। केवल प्रमाण को मानने वाले तार्किक इसीलिए एकान्तवादी है कि वे नय को नही मानते। अनेकान्त का मूल आधार नय है। द्रव्य के अनन्त धर्मो या पर्यायों को सापेक्ष दृष्टि से देखे बिना ऐकान्तिक आग्रह से मुक्ति नही मिल सकती। द्रव्य के अनन्त धर्मो में यदि अपेक्षासूत्र न हो तो वे एक-दूसरे के प्रतिपक्ष में खड़े हो जाते हैं। नित्यता अनित्यता के प्रतिपक्ष मे खड़ी है। और अनित्यता

नित्यता के प्रतिपक्ष में । आमने-सामने खड़ी होने वाली इस सैनिक मनोवृत्ति को नय दृष्टि के द्वारा ही टाला जा सकता है ।

द्रव्यार्थिक नय ध्रुव अंश का निरूपण करता है, इसलिए उसके मतानुसार द्रव्य नित्य है। पर्यायर्थिक नय परिवर्तन अंश का निरूपण करता है, इसलिए उसके मतानुसार पर्याय अनित्य है । यदि द्रव्य नित्य और पर्याय अनित्य हो तो एक-दूसरे के प्रतिपक्ष में खड़े हो सकते है । पर द्रव्यार्थिक नय इस अपेक्षा को नही भूलता कि पर्याय के बिना द्रव्य का कोई अस्तित्व नही है और पर्यायार्थिक नय इस बात को नही भूलता कि द्रव्य के बिना पर्याय का कोई अस्तित्व नहीं है। तब नित्यता और अनित्यता सापेक्ष हो जाती हैं । द्रव्य और पर्याय सर्वथा भिन्न नही है, इसलिए नित्य और अनित्य भी सर्वथा भिन्न नहीं है, वे दोनों परस्पर सापेक्ष है। सापेक्षता के मूल सूत्र ये है–

१. द्रव्य अनन्तधर्मात्मक है ।
२. द्रव्य में ध्रौव्य और परिवर्तनीय दोनों धर्म होते है । उन्हें कभी पृथक् नही किया जा सकता ।
३. ध्रौव्य और परिवर्तनीय धर्म अभिव्यक्त होते हुए भी अपने-अपने स्वभाव मे रहते है इसलिए द्रव्य की नित्यता और अनित्यता में कोई विरोध नही है।
४. अस्तित्व और नास्तित्व भी सापेक्ष है । वे एक-दूसरे के विरोधी नहीं है ।
५ हम द्रव्य को एक धर्म के माध्यम से जानते है, समग्र द्रव्य को नही जान सकते ।
६. हम एक क्षण मे द्रव्य के एक ही धर्म का प्रतिपादन कर सकते है ।
७ धर्मो की निरपेक्षता मानने से विरोध की प्रतीति होती है। सापेक्षता से विरोध का परिहार हो जाता है ।

इन सूत्रों के आधार पर हम इस निष्कर्ष पर पहुंच सकते है कि अनेकान्त और स्याद्वाद का जितना दार्शनिक मूल्य है, उतना ही आध्यात्मिक और अहिंसात्मक मूल्य है ।

अनेकान्त क्या है ?

एक चींटी चलती है। उसकी गति बहुत मंद है। गरुड़ की गति में तीव्रता है। गति की दृष्टि से इनमें कभी प्रतिस्पर्धा की संभावना ही नही रहती। एक दिन गति-प्रतियोगिता का आयोजन निश्चित हुआ। एक ओर गरुड़ खड़ा था। इसके साथ प्रतिद्वन्द्विता मे खड़े होकर पराजय स्वीकार क्यों करे—इस भावना से अनेक पशुपक्षी पीछे हट गए। गरुड़ दर्प से झूम उठा। 'इस संसार में उसका प्रतिद्वन्द्वी कोई नही है।' यह घोषणा करके वह लौटना चाहता था। सहसा एक चीटी आगे आयी। गरुड़ के समर्थको ने व्यंग्यभरी मुस्कान से उसको देखा। दूसरे जन्तुओ ने भी इस दुस्साहस के लिए उसको सतर्क किया, पर चीटी का आत्म-बल प्रबल था। वह बोली—"मै पराजित तो हूं ही, अपने आपको दाव पर लगाकर परीक्षण कर लूं।" चीटी की इस बात पर सब मौन थे। चीटी और गरुड़ की गति-प्रतियोगिता मे गरुड़ की विजय निश्चित थी। विजय के अहं मे वह अट्टहास कर बोला—"चीटी रानी! तुम चलो, तुम्हारे साथ मेरी शक्ति का क्या परीक्षण होगा। तुमने इतना साहस किया है, इसके लिए बधाई। अच्छा चलो, मै एक क्षण में तुम्हें लाघकर आगे बढ़ जाऊगा।"

चीटी ने चलना शुरू किया और गरुड़ अपने मित्रों के साथ बैठ अपने शौर्य की डीगे हाकने लगा। बातो मे समय कितना जल्दी सरक जाता है, पता ही नही चलता। सुबह दोपहर की कड़ी धूप से गुजरकर सांझ मे ढल गयी। चींटी अपने निश्चित लक्ष्य तक पहुचकर सात्विक आत्मतोष का अनुभव करने लगी। उधर गरुड़ का ध्यान तब टूटा जब उसने सुना—गति-प्रतियोगिता मे चीटी ने विजयश्री का वरण कर लिया। अब वह अपने मित्रों को कोसने लगा, जिन्होने उसको समय पर सजग नही किया। वहां उपस्थित एक संस्कृत के कवि ने इस घटना का संकेत करते हुए लिखा—

गच्छन् पिपीलिका याति योजनानां शतान्यपि।
अगच्छन् वैनतयोऽपि पदमेकं न गच्छति॥

गरुड़ तेज ही चलता है और चींटी मन्द ही चलती है, यह सापेक्ष सत्य है। गति में तीव्रता और मन्दता होने पर भी गत्यवरोध और सफलता सामने है। अनेकान्त के द्वारा हम इस घटना को अभिव्यक्ति दे सकते है–चीटी मन्द भी चलती है और तेज भी। उसकी तेज गति का हेतु निरन्तर गतिशीलता है। गरुड़ तीव्रगामी होने पर भी गतिहीन है। क्योंकि वह उस समय नहीं चला, जब उसे चलना था।

२

एक ग्वालिन दही बिलो रही थी। हांडी में दही था। दही में झेरना डाला। एक रस्सी के आधार पर उसको टिकाया। रस्सी के दोनो छोर हाथों मे लेकर वह दही बिलोने लगी। थोड़ी देर में मक्खन निकल आया और बिलोने की क्रिया सम्पन्न हो गयी।

एक दिन दही बिलोते समय उसने सोचा–मै एक हाथ को आगे और एक हाथ को पीछे रखती हूं, यह ठीक नहीं है। या तो दोनों हाथ आगे रहें या दोनो पीछे रहे। अन्यथा पक्षपात समझकर ये मेरा साथ छोड़ देगे। चिन्तन पुष्ट हुआ और उसकी क्रियान्विति में आगे बढ़ा हुआ हाथ पीछे नहीं लौटा। जब तक वह पीछे नहीं लौटा, पीछे वाला हाथ आगे नहीं बढ़ा। ग्वालिन की दुविधा बढ़ गयी। आखिर उसने रस्सी को बराबर कर एक रेखा पर दोनों हाथो से रस्सी के दोनो छोरो को पकड़ा। दोनों हाथ बराबर हो गए, किन्तु आगे-पीछे की गति बिना बिलौने की क्रिया रुक गयी।

इस स्थिति में उसके मन की बेचैनी बढ़ती गयी। समाधान की दिशा मे उसने पाया–आगे बढ़ना भी अच्छा है और पीछे हटना भी अच्छा है। दोनों हाथ आगे बढ़ने और पीछे हटने में जब तक सहयोगी रहेगे, तब तक ही मक्खन मिल सकेगा। निरपेक्षता में दही का नवनीत भी नही मिल पाता, तब जीवन का नवनीत कैसे मिलेगा ? ग्वालिन की स्थिति को लक्षित कर लिखा गया है–

एकेनाकर्षन्ती श्लथयन्ती वस्तुतत्त्वमितरेण।
अन्तेन जयति जैनी नीतिर्मन्थानमिव गोपी॥

३

थावच्चा-पुत्र अपनी ममतामयी माता के पास बैठा खेल रहा था। सहसा उसने पड़ोस के घर से उठती हुई गीतो की मधुर स्वर-लहरियों को सुना। उसने पूछा– "मा! "मा! ये गीत कौन गा रही है ?" मां बोली–"बेटा! अपने पड़ोस मे एक पुत्र का जन्म हुआ है। उसकी खुशी में ये गीत गाए जा रहे है।"

थोड़ी देर हुई। थावच्चा-पुत्र ने पुनः गीत सुने, पर उनमें मधुरता के स्थान पर करुण क्रन्दन था। उसके कानों को वे गीत अच्छे नही लगे। उसने फिर पूछा –"मां ! ये गीत कौन गा रहा है ?" मां बोली– "बेटा ! ये गीत नही, रुदन है। जिस बच्चे का जन्म हुआ था, वह चल बसा है। उसके वियोग से व्यथित पारिवारिक लोग रुदन कर रहे है।"

थावच्चापुत्र का कोमल मन मर्माहत-सा हो गया। जन्म-मृत्यु, सुख-दुःख, उल्लास-क्रन्दन–क्या ये साथ-साथ चलते है ? जन्म पर जो गीत गाए गए और अब मृत्यु के समय जो गाए जा रहे है, इनमें क्या अन्तर है ? वे ही लोग, वही परिवेश, वही भाषा, फिर यह सुख और दुःख की अनुभूति क्यों ? संयोग और वियोग की अपेक्षा उसकी समझ में आयी और वह समाहित हो गया। उस समाधान को अपने जीवन का स्थायी समाधान बनाने के लिए वह भगवान् अरिष्टनेमि की शरण में पहुंच गया।

४

आज मै एक महाविद्यालय में गया था। वहां मैने तीन चित्र देखे। एक चित्र में आंखे एकदम खुली थी, दूसरे में एकदम बन्द और तीसरे मे अधखुली। मैने सोचा–नयनो का विभिन्न मुद्रा में छायांकन किसी विशेष उद्देश्य से किया गया है या स्वाभाविक है ? चिन्तन की निष्पति आयी–खुली आंखें भौतिकवाद की प्रतीक है। चार्वाक दर्शन का अभिमत है कि जो कुछ प्रत्यक्ष है, वही सही है। आगे-पीछे कुछ नही है। आत्मा नामक कोई शाश्वत तत्त्व नही है। इस दृश्य-जगत् में जो कुछ घटित हो रहा है, वही यथार्थ है।

बन्द आखें अध्यात्म की सूचक है। बाहर जो कुछ है वह भ्रम है, मिथ्या है, धोखा है। बाह्य जगत् मे भटकने वाला व्यक्ति अन्तर्जगत् की यात्रा नही कर सकता। आंखें मूंदकर भीतर देखते रहो। वहां आत्म-दर्शन ही उपलब्धि है। यह एक अभिमत है।

जैन-दर्शन का दृष्टिकोण ऐकान्तिक नहीं है। अधखुली पलकें अनेकान्त दर्शन का प्रतिनिधित्व करती है। थोड़ी खुली और थोड़ी बन्द पलकों का वाच्यार्थ है–अध्यात्म भी वास्तविक है और भौतिकता भी वास्तविक है। व्यवहार के धरातल पर कोई भी व्यक्ति सर्वथा एकांगी जीवन जी नहीं सकता। अध्यात्म जीवन का उत्कृष्ट दर्शन है पर भैतिक अपेक्षाएं भी अपना अस्तित्व रखती है। भौतिकता के विना प्राणी के जीवन-यापन में कठिनाई है, किन्तु अध्यात्म के बिना आत्मतोष और उल्लास जैसी अनुभूति नही हो सकती। इसलिए जैन-दर्शन कहता है– बाहर भी देखो और

भीतर भी। अन्तर्जगत् में उपेक्षित रहना अपने विकास को नकारना है। बाह्य-जगत् के प्रति उपेक्षा करना, जो कुछ हम जी रहे हैं, उसे अस्वीकार करना है। जितनी अपेक्षा है, उतना बाहर देखो। जितनी अपेक्षा है, उतना आत्मदर्शन करो। यह मध्यम दृष्टिकोण ही अनेकान्त है और यही जैनदर्शन का प्राण है।

राजा ने अपने सचिवों को निर्देश दिया– इस मेमने को पूरा पौष्टिक भोजन खिलाओ। पर ध्यान रखना, इसका वजन बढ़ने न पाए। सचिव चिन्तित हो गए। एक सचिव के पुत्र का नाम था रोहक। अपने पिता की चिन्ता का कारण समझकर वह बोला– पिताजी! मेमने को सिंह के पिंजरे में बांधकर रखिए। रोहक के कथनानुसार प्रयोग से कई मास तक निरन्तर पौष्टिक भोजन करने पर भी मेमना मोटा नही हुआ। पौष्टिक भोजन और वजन न बढ़ना परस्पर विरोधी प्रसंग हैं। किन्तु अनेकान्त के धरातल पर कोई भी विरोध ऐसा नही जो साथ टिक न सके।

श्रमण-संस्कृति

समय गतिशील है । दिन पर दिन, सप्ताह पर सप्ताह बीतते चले जा रहे है । इस क्रम में यह सप्ताह भी बीत गया । इस सप्ताह को हमने सिविल लाइन्स तथा सब्जी मंडी में बिताया । यह स्थल यद्यपि पुरानी दिल्ली कहलाता है पर नयी दिल्ली से कम नही है । निकट ही शहर है । घनी आबादी है । स्थान खुला है । साधुओ के लिए सुविधाजनक है । साधुओं के लिए उनकी चर्या के उपयुक्त स्थान की आवश्यकता होती है । क्योंकि साधु सर्दी-गर्मी, धूप-छांह, भूख-प्यास आदि सब कठिनाइयों को सह सकते है पर जहां उनकी चर्या का सम्यक् पालन न हो सके, उन मौलिक कठिनाइयों को पार करना, उनके वश की बात नही है । यहां चर्या की दृष्टि से उनको सहज सुविधा उपलब्ध है । वैसे हम सुविधावादी मनोवृत्ति वाले नही है । सुविधावादिता हमारे लिए सर्वथा त्याज्य है । हम उसे कभी भी महत्त्व नही देते । हम इस बात के भी पक्षपाती नहीं है कि गृहस्थ भी सुविधावादी बने। सुविधावादिता बहुत बड़ा खतरा है । सुखी जीवन का मूलमंत्र है श्रम-परायणता । दूसरे व्यक्ति सुविधावादी मनोवृत्ति को त्यागें या न त्यागें, पर श्रम-परायण संस्कृति के उपासक भी यदि श्रम से कतराएं तो यह चिन्ता का विषय है ।

हम जिस पद्धति से जी रहे है, उसके मुख्यतः तीन पक्ष है—राजनैतिक, सामाजिक एवं धार्मिक ।

राजनैतिक पक्ष को हम एक बार छोड़ दें, क्योकि समूचे राष्ट्र में उसका एक ही धरातल है । सामाजिक पक्ष को भी एक बार गौण कर दें । प्रस्तुत प्रसंग में हमे अपनी धार्मिक स्थिति पर चिंतन करना है ।

हम जिस संस्कृति में जी रहे है, वह है श्रमण-संस्कृति । प्रश्न हो सकता है कि श्रमण सस्कृति के समानातर क्या और भी संस्कृतियां है ? उत्तर विधेयात्मक ही होगा ।

भारतवर्ष मे दो संस्कृतियां लम्बे समय से चली आ रही है—ब्राह्मण सस्कृति और श्रमण संस्कृति । ये दोनो ही दो नदियों की तरह कभी मिलती रही हैं और एक-दूसरे से विछूड़ती भी रही हैं । ब्राह्मण संस्कृति का विशेष विश्लेषण करना ॥

विषय नहीं है, फिर भी उसकी संक्षिप्त जानकारी कर लेना उचित ही होगा।

ब्राह्मण संस्कृति के आधारभूत ग्रंथ है—वेद, उपनिषद्, रामायण, महाभारत, भगवद्गीता आदि-आदि। इनके विश्वास पर चलने वाली सस्कृति ब्राह्मण सस्कृति कहलाती है। उसमें यज्ञ-याग तीर्थयात्रा, पूजा-उपासना आदि अनुष्ठानो को अधिक महत्त्व दिया गया है।

श्रमण-संस्कृति भी ब्राह्मण-संस्कृति की ही समानान्तर रेखा है। श्रमण-सस्कृति का मूल आधार है अहिंसा तथा उसको पोषण देने वाले है आगम, पिटक आदि धर्मशास्त्र। जैन, बौद्ध, आजीवक, गैरिक और परिव्राजक—ये पांचों परम्पराए श्रमण-संस्कृति की ही धाराएं थीं। काल के लम्बे प्रवाह में जैन और बौद्ध— ये दो धाराये ही अपना अस्तित्व सुरक्षित रख पायी हैं।

जैनों की तरह बौद्ध श्रमण भी भिक्षु कहलाते है। वे रंगीन वस्त्र पहनते है। उनकी चर्या भिन्न होते हुए भी मूल में काफी समानताएं है। जैन और बौद्ध दोनो ही श्रमण-परम्परा के सवाहक और श्रमण-सस्कृति के उपासक है।

ब्राह्मण-सस्कृति और श्रमण संस्कृति मे सबसे बड़े भेद का निमित्त है 'ईश्वरवाद'। ब्राह्मण-सस्कृति ईश्वर को सृष्टि की संचालक शक्ति के रूप मे स्वीकार करती है। वह हर कार्य को ईश्वरीय मानती है। इसके विपरीत श्रमण संस्कृति का सूत्र है—आत्मा पूर्ण स्वतत्र है। कर्तृत्व और भोक्तृत्व की प्रक्रिया में कोई भी इतर शक्ति हस्तक्षेप नहीं कर सकती। यद्यपि ईश्वर को श्रमण-संस्कृति भी स्वीकार करती है पर मुक्तात्मा के रूप में। उसकी दृष्टि में ईश्वर कर्तृत्व, हर्तृत्व आदि सारे सासारिक प्रपचो से मुक्त है।

श्रमण सस्कृत का शब्द है। उसका प्राकृत रूप बनता है 'समण'। दोनो का अन्तर मात्र क्लिष्टता और सरलता का ही है। संस्कृत भाषा क्लिष्ट होती है।अत. वह विद्वद्-भाषा बन गई। प्राकृत भाषा सरल है। वह उस युग की जन-भाषा थी। भगवान् महावीर जन-भाषा मे ही बोलते थे। हम भी यहा की जन-भाषा मे बोलते है। वह जन-भाषा है हिन्दी।

'समण' शब्द के तीन रूप बनते है—श्रमण, शमन और समण। यह एक शब्द श्रम, शम और सम—इन तीनो की अर्थ-परम्परा का संवाहक है। श्रमण सस्कृति का पूरा रहस्य इसमें छिपा हुआ है।

हम अपने ही श्रम पर अपना निर्माण करें। बिना श्रम खाना और विना पसीने का पैसा हमारे जीवन में कदापि प्रश्रय न पाये। कमाए कोई और खाए कोई—यह भी स्वस्थ पद्धति नही है। अपने श्रम पर जीना, यह नैतिक सिद्धान्त भी है।

यदि हर व्यक्ति इस सूत्र को अपना ले तो जीवन की अनेक समस्याएं स्वतः समाहित हो जाएं ।

श्रमण-संस्कृति हमे इससे भी ऊंची दृष्टि प्रदान करती है । श्रमण परम्परा का उपासक कभी भी किसी दूसरे की कृपा पर निर्भर नही रहता । और तो क्या, वह ईश्वर के सहारे भी जीना नही चाहता । यद्यपि पत्रों में प्राय· जैन भी लिख देते है– 'ईश्वर आपका भला करे ।' पर यह श्रमण-संस्कृति का सूचक नहीं है । अपनी संस्कृति और परम्परा को न जानने का यह परिणाम है । जैनों की तो यह पद्धति होनी चाहिए कि आप सन्मार्ग पर चलें; देव, गुरु और धर्म के प्रति आस्थावान रहें, इसी मे आपका भला है ।

मुझे लगता है कि इस तथाकथित ईश्वरवाद ने मनुष्य के चितन को विकृत कर दिया है । व्यक्ति बुरे-से-बुरे कार्य करता है । सयोग से यदि उसमें सफलता मिल जाती है तो ईश्वर-कृपा का फल माना जाता है ।

एक व्यक्ति किसी को धोखा देता है, किसी का शोषण करता है और खुशी से झूमता हुआ मित्रो से कहता है, 'ईश्वर की बड़ी कृपा हुई है, मेरे दिन बदल गए ।'

श्रमण-संस्कृति का उद्घोष है कि ईश्वर के भरोसे मत बैठो । क्षमता के अनुरूप पुरुषार्थ करो । पुरुषार्थ से जो कुछ उपलब्ध होता हो उसे ही स्वीकार करो । जैन मुनि आज भी अपनी इस परम्परा का निर्वहन करते है । उनकी पद यात्रा, स्वावलम्बन आदि-आदि उनकी श्रम-निष्ठा के ही द्योतक है । वे किसी भी स्थिति मे श्रम-शीलता को नही भूलते, इसलिए श्रमण कहलाते है ।

जैन आगमों के सम्बन्ध में

विगत सहस्राब्दी में शास्त्रों का अध्ययन केवल श्रद्धावश हुआ है। ऐतिहासिक दृष्टि से उनका अध्ययन नहीं किया गया। गत शताब्दी से पूर्व इस विषय की चर्चा विरल रूप में ही हुई होगी कि अमुक शास्त्र किसने बनाया, कब बनाया, कहां बनाया आदि-आदि। अब तक शास्त्रों का प्रामाण्य या अप्रामाण्य भी परंपरागत माना जाता रहा है।

आज इतिहास की दृष्टि से अध्ययन करने वाले प्रबुद्ध मनीषी के लिए प्रामाण्य और आप्रामाण्य की वे कसौटियां बहुत उपयोगी नहीं है। इसीलिए यह समग्र विषय बहुत गंभीरतापूर्वक मननीय है। हम शास्त्रों की यथार्थता या अयथार्थता का निर्णय करने से पहले उनके प्रति जो हमारी धारणाएं या मान्यताएं है, उनमें परिमार्जन करे। मुझे लगता है कि शास्त्रों के प्रति हमारी धारणाएं बहुत यथार्थ नही है।

शास्त्रीय प्ररूपण में यथार्थता की कसौटी हमारा अपना अनुभव या साक्षात्कार हो सकता है। वह प्रयोग के द्वारा प्राप्त होता है। आज प्रयोग की अपेक्षा शास्त्रीय दुहाई अधिक दी जाती है। बहुत सारे शास्त्रीय विषय हमारे लिए परोक्ष हैं। जो परोक्ष होते है, उन्हे पूर्व-मान्यता के रूप में ही स्वीकार किया जा सकता है।

शास्त्रीय प्रामाण्य और अप्रामाण्य की समस्या को सुलझाने के लिए निम्न बाते आवश्यक है–

१. शास्त्रों के रचनाकाल और रचनाकार का ऐतिहासिक तथ्यो के आधार पर निर्णय।

२. शास्त्रीय विषयों के विचार-विकास का कालक्रम की दृष्टि से अध्ययन।

३. शास्त्रीय विषयों के परस्पर संक्रमण का निर्णय। इतना होने पर उक्त समस्या स्वयं सुलझ जायेगी।

उपाध्याय अमरमुनि ने 'क्या शास्त्रों को चुनौती दी जा सकती है ?' शीर्षक वक्तव्य में रूढ़ धारणा वाले व्यक्तियों को चुनौती दी है। इसे मै प्रशस्त मानता हूं। इस वैज्ञानिक व शोध-प्रधान युग में केवल अज्ञानपूर्ण धारणाएं बनाये रखना

शास्त्रों के प्रति आस्था अभिव्यक्त करना नहीं है, किन्तु उनके प्रति अज्ञान ही प्रकट करना है। किन्तु वक्तव्य में समागत कुछ तथ्यों के प्रति मेरा दृष्टिकोण भिन्न है। मै अत्यन्त सहृदयतापूर्वक उपाध्यायजी की भावना का समादर करते हुए भी उसे प्रस्तुत करना चाहूंगा।

प्रथम—मैं अभी आगमों की छंटनी के पक्ष में नहीं हूं। पूर्वकाल में जो छंटनी की गई, उसे मैं ऐतिहासिक अनुसंधान के संदर्भ में साधार नहीं मानता हूं। आज ऐतिहासिक संदर्भ में छंटनी करने पर क्या कितना बचेगा, यह कहना कठिन है। इसलिए इस कार्य के लिए दीर्घकालीन और कठोर साधना की अपेक्षा मानता हूं।

दूसरा—आगम के विषय मे हम जो भी निर्णय लें, वह व्यक्तिश न लें। सबसे अच्छा हो कि समग्र जैन समाज के प्रतिनिधि मिलकर कोई निर्णय करें और सब संप्रदायों की मान्यता प्राप्त होने पर उसे प्रसारित किया जाए। यदि ऐसा सम्भव न हो तो कम-से-कम अपने संप्रदाय की मान्यता प्राप्त किया हुआ निर्णय सामने आये।

अभी चर्चित विषय अनुसंधान के लिए छोड़ रखा है, इसलिए इस पर संक्षिप्त विचार ही प्रस्तुत किया जा सकता है।

जैन आगमों में सूर्य

जैन तत्त्व विद्या का मूलभूत आधार है–जैन आगम। इन आगमो की सरचना में जैन तीर्थकरो और गणधरों की ज्ञान-चेतना का उपयोग हुआ है। तत्त्व विद्या के मूल-स्रोतों का अवबोध तीर्थकरो के पास उपलब्ध होता है और उसके विस्तृत विश्लेषण में गणधरो की मेधा सक्रिय होती है। इस दृष्टि से यह कहा जा सकता है कि जैन आगमो की आर्थी परम्परा तीर्थकरों से अनुबन्धित है तथा उन्हें शाब्दिक परिवेश में ढालने का काम गणधरो और स्थविरो का है।

जैन तत्त्व विद्या बहु आयामी तत्त्व विद्या है। धर्म, दर्शन, इतिहास, सस्कृति, कला, गणित, भूगोल आदि विविध विषयो का तलस्पर्शी विवेचन जैन आगमो मे प्राप्त होता है। मुख्य रूप से इनमें चेतन और अचेतन इन दो तत्त्वो की व्याख्या है। ससार के सारे तत्त्व इन दोनों तत्त्वों में समाहित है। इसलिए जैन शास्त्रो को विश्व के प्रतिनिधि शास्त्रो की श्रेणी में स्थापित किया जा सकता है। प्रस्तुत सदर्भ मे जैन आगमों के आधार पर सूर्य सबंधी विवरण की संक्षिप्त सूचना मात्र दी जा रही है।

जैन आगमो में चार प्रकार के जीव माने गये है—नारक, तिर्यञ्च, मनुष्य और देव। देवो के सम्बन्ध में वहां विस्तार से चर्चा है। देवो की मुख्य रूप से चार श्रेणियां है–भवनपति, व्यन्तर, ज्योतिष्क और वैमानिक। असुर, नाग आदि दस प्रकार के देव भवनपति देव कहलाते है। पिशाच, यक्ष, किन्नर, गन्धर्व आदि देव व्यतर देवो की श्रेणी में आते है। सूर्य, चन्द्रमा आदि ज्योतिष्क देव है। लोक के ऊर्ध्वभाग में रहने वाले देव वैमानिक देव के नाम से पहचाने जाते है।

ज्योतिष्क देव पांच प्रकार के है– सूर्य, चन्द्र, ग्रह, नक्षत्र और तारा। इन पांचों देवों मे सूर्य और चन्द्रमा को इन्द्र माना गया है। सूर्य इनमें सबसे अधिक तेजस्वी है। प्रकाश और ताप के अतिरिक्त भी लोक-जीवन में सूर्य की सबसे अधिक महत्त्वपूर्ण भूमिका है। जैन धर्म के मुख्य शास्त्रो में एक आगम 'सूर्यप्रज्ञप्ति' है। उसमे सूर्य का विभिन्न दृष्टियों से प्रतिपादन किया गया है। इस एक आगम

मे सूर्य सम्बन्धी इतनी सूचनाएं है कि उनके आधार पर ज्योतिष के क्षेत्र मे कई विद्वान काम कर सकते है ।

जैन शास्त्रों के अनुसार यह दृश्य सूर्य देव नही, किन्तु उसका विमान है । वह एक पृथ्वी है । उसमे तैजस परमाणु-स्कन्ध प्रचुर मात्रा मे उपलब्ध है, अतः उससे प्रकाश की रश्मिया विकीर्ण होती रहती है । सूर्य आदि देवो के विमान सहज रूप से गतिशील रहते है । फिर भी उनके स्वामी देवों की समृद्धि के अनुरूप हजारो-हजारो देव विमानों की गति में अपना योगदान देते है । सूर्य का विमान मेरु पर्वत के समतल भूमिभाग से आठ सौ योजन की ऊचाई पर अवस्थित है । इन योजनो का माप जैनागमों मे वर्णित प्रमाणांगुल के आधार पर किया गया है ।

सूर्य का प्रकाश कितनी दूर फैलता है ? इस प्रश्न के उत्तर मे भगवती सूत्र मे बताया गया है कि सूर्य का प्रकाश सौ योजन ऊपर पहुचता है । अठारह सौ योजन नीचे पहुंचता है और सैतालीस हजार दो सौ तिरेसठ (४७२६३) योजन से कुछ अधिक क्षेत्रफल में तिरछा पहुचता है ।

जैन शास्त्रो में सूर्य और चन्द्रमा की संख्या का पूरा विवरण है । विश्व के समग्र सूर्यो की सख्या का आकलन किया जाए तो वे हमारे गणित के निश्चित मापको को अतिक्रान्त कर असख्य तक हो जाते है । वैसे मनुष्य लोक मे एक सौ बत्तीस सूर्य है । इनके सम्बन्ध मे जम्बूद्वीप तथा प्रज्ञापना सूत्र मे विस्तृत विवेचन है । एक सौ बत्तीस सूर्यो की अवस्थिति इस प्रकार है–

जम्बूद्वीप मे दो सूर्य है । लवण समुद्र मे चार सूर्य है । धातकीखड मे सूर्यो की संख्या बारह हो जाती है । कालोदधि मे बयालीस सूर्य हैं और पुष्करार्धद्वीप मे ये बहत्तर की सख्या तक पहुंच जाते है । कुल मिलाकर इनकी संख्या एक सौ बत्तीस हो जाती है ।

ज्योतिष्क देव चर और अचर दोनो प्रकार के है । मनुष्य लोक में जो सूर्य, चन्द्रमा आदि है, वे चर है । उससे बाहर जो असंख्य सूर्य और चन्द्रमा है, वे स्थिर है । काल का समग्र निर्धारण सूर्य की गति नही है, इसलिए यहां व्यावहारिक काल जैसी कोई भी व्यवस्था नही है । सामान्यत सूर्य और पृथ्वी की गति एक विवादास्पद पहलू है । पर जैन शास्त्रीय दृष्टिकोण से समयक्षेत्र (मनुष्य लोक) के सूर्य चर और वहिर्वर्ती सूर्य स्थिर है ।

जैन मुनियो की चर्या में सूर्य का एक विशेष स्थान है । उनके अनेक कार्य सूर्य की साक्षी से ही हो सकते है । सूर्य की अनुपस्थिति में मुनि भोजन भी नही कर सकते । इस तथ्य की अभिव्यक्ति आगम-वाणी मे इस प्रकार हुई है–

अत्थंगयम्मि आइच्चे, पुरत्था य अणुग्गए ।
आहारमइयं सव्वं मणसा वि न पत्थए ॥

सूर्यास्त से लेकर पुनः सूर्य पूर्व में न निकल आए, तब तक मुनि सब प्रकार के आहार की मन से इच्छा न करे ।

उग्गएसूरे अणत्थमियसंकप्पे

सूर्योदय होने के बाद जब तक वह अस्त नहीं होता है तब तक ही मुनि भोजन, पानी, औषधि आदि ग्रहण करने का संकल्प कर सकता है ।

जैन धर्म में प्रत्याख्यान की परम्परा में भी सूर्य को साक्षी रूप रखा जाता है । उसका एक निदर्शन इस प्रकार है–

'उग्गए सूरे णमुक्कारसहियं पच्चक्खामि चउव्विहं पि आहारं असणं पाणं खाइमं साइमं अण्णत्थणाभोगेणं सहस्सागारेणं वोसिरामि ।'

नमस्कार सहिता, प्रहर आदि प्रत्याख्यान के क्रम में काल की सीमा का निर्धारण सूर्योदय से किया जाता है ।

जैन मुनि अपने जीवन में साधना के अनेक प्रयोग करता है । उन प्रयोगो के साथ भी सूर्य का सम्बन्ध है । जैनों के बृहत्तम आगम 'भगवती' मे ऐसे अनेक प्रसंग उपस्थित किए गए है । उनमें एक प्रसंग है गृहपति तामलि का । तामलि अपने भावी जीवन को उदात्त बनाने के लिए चिन्तन करता है–जब तक मुझमे उत्थान, कर्म, बल, वीर्य, पुरुषकार और पराक्रम है तब तक मेरे लिए यही उचित है कि मै परिवार का पूरा दायित्व अपने ज्येष्ठ पुत्र को सौप दूं और स्वयं सहस्ररश्मि दिनकर, तेज से जाज्वल्यमान सूर्य के कुछ ऊपर आ जाने पर प्रव्रज्या स्वीकार करू ।

प्रव्रज्या स्वीकार कर वह एक विशेष संकल्प स्वीकार करता है– "आज से मै निरन्तर दो-दो दिन का उपवास करूंगा । उपवासकाल मे आतापना– भूमि मे जाकर दोनों हाथों को ऊपर फैलाकर सूर्याभिमुख हो, आतापना लूंगा ।"

तपस्या के साथ सूर्य के आतप मे आतापना लेने की बात कई दृष्टियो से महत्त्वपूर्ण है । तपस्या से कर्म शरीर क्षीण होता है और आत्मा की सुषुप्त शक्तिया जागृत होती है । उसके साथ सूर्य की आतापना लेने से तैजस शरीर प्रबल होता है । इससे शरीर की कान्ति और ओज प्रदीप्त होता है । जैन शास्त्रो मे एक विशेष लब्धि 'तेजो लब्धि' की चर्चा है । यह शक्ति जिस साधक को उपलब्ध हो जाती है, वह तैजस् शरीर के प्रयोग से अनेक चमत्कार दिखा सकता है । यह शक्ति अनुग्रह और निग्रह दोनों स्थितियों में काम आती है । इस शक्ति को प्राप्त करने के लिए लगातार छह मास तक सूर्याभिमुख आतापना लेने का विधान है ।

शरीर शास्त्रीय दृष्टि से जैन साधना पद्धति में सूर्य की रश्मियो के प्रभाव

को नकारा नही जा सकता। जैन शास्त्रों मे रात्रि-भोजन को परिहार्य बताया गया है। इस प्रतिपादन का वैज्ञानिक विश्लेषण न हो तो उक्त पद्धति मात्र एक परंपरा-सी प्रतीत होती है, किन्तु इस परम्परा के पीछे रहे हुए दृष्टिकोण को समझने से इसकी वैज्ञानिकता स्वयं प्रमाणित हो जाती है।

यह तथ्य निर्विवाद है कि सूर्य की रश्मियों में तेज है। इस तेज का प्राणी जगत् के पाचन-संस्थान पर बहुत प्रभाव पड़ता है। जो व्यक्ति सूर्यास्त के बाद भोजन करते है, वे भोजन को पचाने के लिए सूर्य-रश्मियों की ऊर्जा को उपलब्ध नही कर सकते। इसलिए उनकी पाचन क्षमता क्षीण हो जाती है और अजीर्ण जैसी बीमारियां उन्हें लग जाती है। सूर्यास्त के पश्चात् भोजन करने वालों की भाति सूर्योदय से पहले या तत्काल बाद भोजन लेने से भी पाचन-संस्थान प्रभावित होता है। क्योकि सूर्य का उदय हो जाने पर भी उसकी रश्मियों का ताप प्राणी जगत् को उपलब्ध होने में पचास-साठ मिनट का समय लग ही जाता है। यद्यपि बाल सूर्य की रश्मियो मे भी विटामिन्स होते है, पर भोजन पचाने में सहायक तत्त्व कुछ समय बाद ही मिल सकते है। संभव है इसी दृष्टि से जैन-धर्म मे नमस्कार-सहिता तप और रात्रि में चतुर्विध आहार-परित्याग तप की प्रक्रिया को स्वीकृत किया गया है।

जैन शास्त्रो में सूर्य का जो विवेचन है, उसका समीचीन संकलन करने के लिए वर्षो तक उनका गम्भीर अध्ययन आवश्यक है। ज्योतिष के क्षेत्र मे रिसर्च करने वालो को इस ओर विशेष ध्यान देना चाहिए।

अहिंसा के प्रयोक्ता गांधीजी

कितना सुन्दर स्थान और सुप्रभात है। सामने नदी और वृक्ष है। सभी प्राकृतिक चीजें है। इस प्राकृतिक वातावरण में प्रकृति ने भी स्वागत किया। बादलों का वितान बनाकर इसने धूप में बैठने वालों की रक्षा की है। गांधी जयन्ती को आज का दिन सहज मिल गया। इससे लगता है कि गांधीजी के जीवन में प्रकृति रमी हुई थी। उनके जीवन से राष्ट्र की जनता को शिक्षा लेनी चाहिए। सन्तों और महन्तों को भी महात्माजी के जीवन से सादगी की प्रेरणा लेनी चाहिए।

गांधीजी के प्रति लोग श्रद्धानत है पर उनके जीवन से प्रेरणा नही ले रहे हैं यह विचारणीय है। आज मै देख रहा हूं कि जिन्होंने गांधीजी के साथ तपस्या की, उनकी आंखों में आंसू है। मै ऐसे अनेक व्यक्तियों से मिला हूं। जिनके जीवन में गांधीजी के संस्कार है, उनके साथ हमारे विचारों का तार जुड़ जाता है।

ढेबर भाई गांधीजी के साथ रहे थे। उनसे मेरी बात हुई। मैने कहा–'आप जैसे व्यक्ति जब तक है, तब तक ऐसा लगता है कि गांधीजी के साथ वाले व्यक्ति हैं। जनता भी इससे आश्वस्त और विश्वस्त है। किन्तु आपने भावी पीढ़ी को तैयार किया या नहीं ?' ढेबर भाई बोले–'आपका कहना सच है। हम कर नही पाये। आप इसके लिए कोई मार्ग सुझाएं।'

राजेन्द्र बाबू आदि से जब मिलना हुआ तो मैने उनके जीवन में गांधीजी के दर्शन का प्रतिबिम्ब पाया। आज अनेक व्यक्ति ऐसे है जो सफेद टोपी रखते है, खादी के वस्त्र पहनते है, चर्खा भी रखते है और ग्यारह व्रत भी स्वीकार करते हैं किन्तु ये सब ऊपर की बातें रह गई हैं। ऐसा देखकर दिल में पीड़ा होती है। केवल पीड़ा की अभिव्यक्ति भी निकम्मी है। कोई भी व्यक्ति आसानी से कह सकता है कि भारत का पतन हो गया। मैं मन में सोचता हूं कि ऐसा कहने मात्र से

क्या होगा ? हमें तो इसका समाधान और इलाज खोजना है । वह किसके पास है ? जब समाधान की बात आती है तो लोग कहते है कि हम अकेले क्या कर सकते है ? मै पूछता हूं कि क्या प्रारम्भ में गांधीजी अकेले नहीं थे । एक-एक बूंद से घड़ा भरता है । एक-एक मिनट से घण्टा बनता है । उसी प्रकार काम भी एक-एक आदमी के करने से होता है । प्रत्येक व्यक्ति में यह आत्म-विश्वास होना चाहिए कि मै काम कर सकता हूं और जितना कर सकता हूं उतना करूंगा ।

सूर्य अस्त होने पर दीपक और चिराग सारी रात प्रकाश करते हैं । यदि सब सोचने लगें कि हम क्या कर सकते हैं ? तो क्या प्रकाश हो सकता है ? विश्व कवि टैगोर ने लिखा है कि सूर्य अस्ताचल पर जाकर बोला–'मै जा रहा हू, मेरे जाने के बाद अन्धकार को दूर करने का भार कौन लेगा ?'

सूर्य के इस प्रश्न पर चद, तारे और नक्षत्र सब मौन हो गए । छोटा-सा दीपक खड़ा हुआ और बोला–'मुझमें जितनी शक्ति है, उतना प्रकाश अवश्य करूंगा ।' सूर्य आश्वस्त होकर चला गया । एक दीपक की तरह यदि हजारों दीपक जल उठे तो क्या शहर जगमगा नही उठेगा ? इसी प्रकार केवल पीड़ा की अभिव्यक्ति की बात छोड़कर प्रत्येक व्यक्ति को यह सोचना है कि मै अपनी क्षमता का उपयोग करूगा, उसका गोपन नहीं करूंगा । गोपन को पाप माना गया है, क्योकि उसमे शक्ति को कुंठित करने की बात आ जाती है ।

टालस्टाय के पास एक भूखे व्यक्ति ने आकर कहा–'मैं भूखा और असहाय हूं । मुझे कुछ दो ।' टालस्टाय बोले–तुम्हारे पास तो लाखों की सम्पत्ति है फिर मुझसे क्यों मांगते हो ?' वह बोला–'मेरे पास तो एक कौड़ी भी नहीं है और आप लाखो की बता रहे है, यह कैसे ? टालस्टाय ने कहा– 'तुम्हारे पास दो आंखें है उन्हें किसी अन्धे आदमी को दे दो तो कम-से-कम दो हजार रुपये तुम्हें मिल ही सकते है; इसी प्रकार तुम्हारे पास हाथ, पैर, हृदय आदि अनेक चीजें है । कुल मिलाकर यह लाखों की सम्पत्ति हो जाती है । इतनी सम्पत्ति होते हुए भी मांगते हुए तुम्हे शर्म नही आती ? तुम्हें मांग कर खाने का अधिकार भी नहीं है । जाओ, पुरुषार्थ करो और अपना पेट भरो ।'

आज के धार्मिकों के सामने यह प्रश्न आये तो वे कहेंगे कि टालस्टाय ने अच्छा नही किया । भिखारी को देने से कितना पुण्य होता है । अहमदावाद के कुछ धार्मिक लोग आकर मुझे पूछते है–'आचार्यजी ! भिखारी को रोटी देने मे पुण्य होता है या पाप ?' मै कहता हूं कि भिखारीपन बढ़ाना पाप है । मेरे इस उत्तर से उन्हें सन्तोष हो या न हो । लेकिन उन लोगों को अवश्य सन्तोष होगा, जो राष्ट्रीयता के सम्बन्ध में चिन्तन करते हैं । किसी को देने का निषेध करना हमारा सिद्धान्त

नहीं है लेकिन यह बात मै स्पष्ट कहता हूं कि पुण्य के लोभ में भिखारीपन बढ़ाना पाप है। मेरे इस कथन का कुछ लोग दुरुपयोग करते है और कहते है कि आचार्यजी किसी को देने से मना करते है। किसी को कुछ देना या न देना एक भिन्न प्रश्न है। मूल बात है अपनी शक्ति का गोपन, जो किसी भी दृष्टि से उचित नहीं है। गांधी जयन्ती के इस प्रसंग पर सबको यह संकल्प करना चाहिए कि वे अपनी शक्ति का पूरा उपयोग करेंगे। गांधीजी के बाद राष्ट्र के नेताओं में जितनी शक्ति दीखती थी, उस पर मानो किसी ने इन्द्रजाल फैला दिया है वह लुप्त-सी हो गई।

एक तपस्वी तपोवन में तपस्या कर रहे थे। उसकी तपस्या के प्रभाव से इन्द्र का आसन डोलने लगा। इन्द्र ने सोचा—यह तपस्वी और अधिक तपस्या करेगा तो मेरा आसन छीन लेगा। कोई चक्र चलाना चाहिए।

एक पथिक का रूप बनाकर इन्द्र नीचे आया। उसके हाथ में तलवार थी। तपस्वी के पास जाकर वह बोला—स्वामिन्! मै शहर में जा रहा हूं। वहां तलवार लेकर जाना ठीक नही है। आप कृपालु है। मै जब तक लौटकर आता हूं, इसको सभाले रखिये।

तपस्वी ने तलवार अपने पास रख ली। दो घण्टे बीते, चार घण्टे बीते। एक दिन, दो दिन, ऐसा करते-करते महीनो बीत गये, पर वह पथिक नही आया। उसे आना भी नही था। इधर तपस्वी अपनी तपस्या को भूल गये और तलवार की सुरक्षा मे लग गये। सुरक्षा की चिन्ता में तलवार के प्रति मोह उत्पन्न हो गया। ध्यान, जप, तपस्या, सब छूट गयी। अब तो वह तलवार ही तपस्वी की तपस्या थी। इन्द्र का आसन डोलना बन्द हो गया। पर जगल के हजारो जानवरो के प्राण डोल उठे। जिस तपस्वी के पास सांप और मेढ़क, शेर और बकरी साथ-साथ रहते थे, वे सब तलवार के कारण भयग्रस्त हो गये।

गांधीजी के बाद लगभग यही स्थिति हो गयी। मानो किसी ने तलवार रख दी हो। वह तलवार सत्ता, सम्पत्ति या विलास की है। उसके कारण सारे नेता जो एक प्रकार की तपस्या में रत थे, उसे भूल गये। सन्यासी ने अपना वेश नही छोड़ा, ॐ का उच्चारण भी करता रहा, किन्तु ध्यान उस तलवार में ही रहा। गांधी जी के अनुयायी भी उनके आश्रम मे आते है, प्रार्थना करते है, पर उनका ध्यान कुर्सी मे रहता है। उन्हे चिन्ता रहती है कि आगामी चुनाव मे उनकी कुर्सी सुरक्षित है या नही ?

आज के दिन के उपलक्ष्य में चिन्तन करना है कि गांधी जी क्या चाहते थे और उनके विचार क्या थे ? गांधी जी सम्प्रदायवाद के पक्ष मे नहीं थे। उनकी प्रार्थना सभा में हिन्दू, मुस्लिम, ईसाई आदि सभी उपस्थित होते थे। किन्तु आज

गांधीजी के भक्तों में जितनी साम्प्रदायिक कट्टरता है उतनी संभवत. धर्म-सम्प्रदायों मे भी नही है। एक सर्वोदयी नेता से मैने कहा था—'हमने साम्प्रदायिकता को अच्छा न मानकर छोड़ा किन्तु आश्चर्य होता है कि साम्प्रदायिकता को न मानने वालो ने उसे अपना लिया। मै एक सम्प्रदाय का आचार्य हू। सम्प्रदाय की वेशभूषा और परिधि को स्वीकार करके चलता हूं फिर भी साम्प्रदायिकता मुझे नहीं सुहाती। साम्प्रदायिकता का अर्थ है अपने सम्प्रदाय को बढ़ाने के लिए दूसरे सम्प्रदाय पर आक्षेप करना तथा उसे बुरा बताना। किसी पर आक्षेप करने को मैं कट्टरता और गलती मानता हूं।'

गुजरात के मुख्यमंत्री हितेन्द्र भाई की पत्नी श्रीमती सगुणा देसाई को कुछ बहनो ने कहा— "आप आचार्यजी से मिलिए।" वह बोली—"मिलकर क्या करूंगी? मेरा दिल नही कहता कि मै किसी धर्माचार्य के पास जाऊं। यदि मै जाऊगी तो पाच-दस मिनट से अधिक बैठ भी नही सकूंगी।"

वह मेरे पास आई और उसने पौन घण्टे तक बाते कीं। जाते समय वह बोली—"मुझे पता नही था कि आपका चिन्तन इतना सुलझा हुआ है। आपके आचार-विचार को देखकर तो कोई साम्प्रदायिकता का आक्षेप लगा ही नही सकता। आपका तो हमे सहयोग करना चाहिए।" गांधीजी का चिन्तन भी सम्प्रदायवाद से बहुत ऊपर था। आज उनके अनुयायियों को भी इस विषय में कुछ सोचना चाहिए।

गांधीजी को उपदेश से अधिक क्रिया मे विश्वास था। कल मै एक पुस्तक पढ रहा था, उसमे गांधी जी ने लिखा है—'मेरे मरने के साथ ही मेरे समग्र साहित्य को जला दिया जाए। इससे जो करना है वही अवशेष रहेगा।' आज की स्थिति भिन्न है। करने का स्थान बोलने ने ले रखा है। किन्तु जनता पर कहने की अपेक्षा करने का असर सीधा होता है।

एक बार विलायत मे एक पादरी ने सोचा कि गांधी हिन्दू है, वह बहुत प्रभावशाली व्यक्ति है। यदि वह ईसाई बन जाए तो सहज ही लाखो हिन्दू ईसाई हो जाएगे। यह सोचकर उसने गांधीजी को हर रविवार को अपने घर भोजन करने का निमत्रण दिया।

गाधीजी ने निमंत्रण स्वीकार करते हुए कहा— 'आप जानते है कि मै निरामिष-भोजी हूं। अत वैसा प्रबन्ध हो सके तो मै आ सकता हू।' पादरी ने यह स्वीकार कर लिया। गांधीजी भोजन के लिए आए। उस दिन पादरी के घर पहली वार शाकाहारी वना। वच्चो में कुतूहल पैदा हो गया। उन्होंने इसका कारण पूछा तो उन्हे वताया गया कि आज उनके घर में एक गांधी आने वाला है।

वच्चो ने फिर पूछा—'उसके लिए ऐसा भोजन क्यो वन रहा है ?' पादरी

ने उत्तर दिया–'गांधी निरामिष-भोजी है ।'

बच्चो ने पूछा–'वह मांस क्यों नही खाता ?' पादरी ने कहा– 'वह अहिंसक है । किसी को मारना पाप है अतः वह मांसाहार नहीं करता ।' बच्चो ने मन मे सोचा–ऐसी अहिंसा तो हमें भी अपनानी चाहिए । गांधी आए तो सब देखने लगे कि वे कैसे खाते है, कैसे बोलते है और कितने संयत है ? एक दिन मे ही बच्चो के मन पर प्रभाव हो गया । दूसरे रविवार को गांधीजी फिर आए । बच्चों ने कहा–'जब गांधी का काम शाकाहार से चल सकता है तो हमारा क्यों नही चल सकता ?' पादरी ने कहा–'वह गरम मुल्क का रहने वाला है । हमारे यहां जलवायु शीतल है अतः निरामिष रहकर अपना काम नही चला सकते ।' बच्चों ने कहा–'अभी तो यह भी हमारे देश में है । यह निरामिष रहकर जी सकता है । तो हम क्यो नही जी सकते ?' बच्चो के तर्क का उचित समाधान पादरी के पास नही था । उसे भय था कि बच्चो के बदलते हुए विचारों से कहीं हमे ईसाई धर्म छोड़कर हिन्दू न बनना पड़ जाए । उसने गांधीजी से आगामी रविवार को भोजन की व्यवस्था दूसरी जगह करने का अनुरोध किया । पादरी बोला–'मै तो ऐसा करके आपको ईसाई बनाना चाहता था पर आपके कुछ न कहने पर भी मेरे घर मे हिन्दुत्व के प्रति आकर्षण होने लगा है ।'

जिसके जीवन मे कथनी-करनी की समता हो, क्या उसका असर दूसरो पर नही पड़ेगा ? उपजाऊ भूमि मे बीज नही उगते है तो बीज मे कमी है या बोने वाले की कमी है । जहा दोनों की पूर्णता होती है वहा फूल फल क्यो नही मिलेगा ? गाधीजी जैसा चाहते थे वैसा ही करते थे इसलिए उनका सहज प्रभाव होता था। सक्षेप मे कहे तो गांधीजी एक आदर्श धार्मिक थे । उनका जीवन आदर्श श्रावक जैसा था । धार्मिक कौन होता है ? इसके लिए कहा गया है–

मनस्येकं वचस्येकं कायेऽप्येकं महात्मनाम् ।
मनस्यन्यद् वचस्यन्यत् कायेऽप्यन्यद् दुरात्मनाम् ॥

महात्मा और दुरात्मा में कोई विशेष अन्तर नही होता । जो मन, वाणी और कर्म में एक रूप है वह महात्मा है । जिनके मन, वाणी और कर्म मे एकरूपता नही है, वह दुरात्मा है । महात्मा की यह परिभाषा गांधीजी मे स्पष्ट परिलक्षित होती है ।

उनके जीवन मे एक सबसे बड़ी बात यह थी कि उन्होंने साध्य और साधन की एकता पर बल दिया था उनका कहना था–'यदि हमारा साध्य पवित्र है तो उसके लिए साधन भी पवित्र होना चाहिए । अशुद्ध साधन से प्राप्त साध्य स्थायी नही होता ।' यह सिद्धांत उनकी नस-नस मे रमा हुआ था । इसलिए स्वराज्य को

भी उन्होने हिंसा से स्वीकार नही किया। उन्होने कहा—'अहिंसा से स्वराज्य सौ वर्ष बाद भी मिले तो मै उसे पसंद करूंगा।' साध्य-साधन की एकता के संबंध मे उनका चिन्तन अनेक धर्माचार्यो से टकराता था। किन्तु आचार्य भिक्षु और महात्मा गांधी के चिन्तन मे इस दृष्टि से समानता थी।

गाधीजी ने अपने जीवन में अहिंसा के विविध प्रयोग किए। वे एक वैज्ञानिक थे। उनका जीवन प्रयोगशाला था। उनका प्रारम्भिक तथा अन्तिम साहित्य देखने से यह तथ्य भलीभांति स्पष्ट हो जाता है। बड़े जीव की सुरक्षा के लिए छोटे जीव को मारने में वे पाप बताते थे। खेती को हानि पहुंचाने वाले बन्दर, हिरण तथा अन्य जहरीले जानवरों को मारने मे भी वे पाप मानते थे। यद्यपि आवश्यकतावश उन्होंने जीवों को मारने की इजाजत भी दी पर उसे शुद्ध अहिंसा कभी नही माना।

मेरे सामने भी ऐसे प्रश्न आते है कि बिल्ली चूहे को मारती है तो उसे बचाना अहिसा है या नही ? मै कहता हूं कि बचाना या बिल्ली को भगाना आपका काम है। मै इसमें हस्तक्षेप नही करता किन्तु इसे शुद्ध अहिसा नहीं माना जा सकता। शुद्ध अहिसा वही है जहां हिसक का दिल बदले। बिल्ली से आप चूहे को बचा सकेंगे किन्तु उसे अहिसक नही बना सकते। बूचड़खाने में पैसा देकर आप जानवरो को बचा सकते है किन्तु ऐसा करके आप कसाई को अहिसक नहीं बना सकते। मै किसी को बचाने मे अवरोधक नही बनता। किन्तु मेरा विश्वास यह है कि अहिसा और धर्म को पैसो से खरीदा नही जा सकता। डंडे के बल से भी अहिसा नही हो सकती। वह तो किसी के दिल को बदलने से ही हो सकती है।

आज धार्मिको की स्थिति बड़ी दयनीय है। उन्हें देखकर दिल मे दर्द होता है। जैसे-तैसे शोषण से पैसे का अर्जन करते है फिर उससे किसी मन्दिर का फर्श और धर्मशाला बनाकर या सदाव्रत खोलकर मन से सोचते है कि हमने धर्म किया है। यह कैसी विडम्बना है ? धर्म नही कहता कि आप पाप से पैसा कमाए। ऐसे धार्मिक लोग हथियार नही रखते किन्तु कलम से न जाने कितनों के गले काट लेते है। कोई किसान एक सेठ के पास बैठा था। बात करते-करते सेठ के कान से कलम नीचे गिर पड़ी। किसान बोला—'सेठजी आपकी छुरी नीचे गिर गई है उसे उठा लो।' सेठ झुझलाकर बोला—'कैसी बात कर रहे हो ? हम तो धार्मिक हैं, पानी भी बिना छना हुआ नहीं पीते, फिर छुरी कैसे रख सकते है ?' किसान ने कलम हाथ में लेकर पूछा—'यह क्या है ?'

सेठ ने कहा— 'यह तो लिखने की कलम है।' किसान बोला—'हमे क्या पता कि यह कलम है, हमारे गले पर तो यही चलाई गई है।' सेठ को बोलने का साहस नहीं हुआ। यह बात धार्मिकों को अखर सकती है। वे सोचते हैं कि हमारे गुरु

सबके बीच हमे ऐसा क्यो कहते है ? मै व्यक्तिगत रूप से किसी के लिए कुछ नही कहता । सामूहिक रूप से कह रहा हूं । फिर भले कोई तेरापंथी हो, जैन हो, वैष्णव हो या और कुछ हो, यदि कोई ऐसा करता है, तो वह धोखा है।

मैने गांधीजी के ग्यारह व्रत पढ़े । उनमे अहिंसा, सत्य, अस्तेय अपरिग्रह आदि का समावेश है । उन्होने कहा कि जितनी आवश्यकता है उससे अधिक रखना परिग्रह है । यदि दरी से काम चल सकता है तो कुर्सी रखना परिग्रह है। लगता है कि कोई जैन ऋषि अपरिग्रह का विवेचन कर रहा है ।

छुआछूत के बारे मे भी गांधीजी ने तीव्र प्रहार किया था । किन्तु खेद है कि आज भी अस्पृश्यता की समस्या को समाधान नही मिल रहा है । अभी कुछ दिन पहले 'अछूत मुक्ति सेना' के कुछ व्यक्ति समूह रूप मे मेरे पास आए थे। मैने उनसे कहा–मुझे प्रसन्नता है कि आप लोग अस्पृश्यता को मिटाने के लिए स्वय खड़े हुए है । इसमे दूसरों का सहयोग लिया जा सकता है किन्तु किसी प्रकार की दीनता नही होनी चाहिए। किसी पर निर्भर हो जाना दासता या दीनता है । यदि उठना या उत्थान करना है तो स्वयं को प्रयत्नशील बनना होगा । पक्षाघात से पीड़ित व्यक्ति दूसरे के सहारे उठकर भी टिक नही सकता । जो स्वस्थ है, वह थोड़ा सहारा मिल जाने मात्र से उठ जाता है । अत. उत्थान का प्रारम्भ स्वय से हो । व्यक्ति पुरुषार्थी है तो उसे स्वत. सहयोग प्राप्त होता है, अन्यथा सहयोग मिलता भी नही। मैने अन्य लोगो से कहा– 'हरिजन लोग कब कहते है कि आपको बेटी हमे देनी होगी या आपको हमारे साथ भोजन करना होगा । उनका यह आग्रह है भी नही और होना भी नही चाहिए। उनकी तो इतनी ही मांग है कि एक वर्ग विशेष के प्रति जो घृणा के भाव है उन्हे आप निकाल दें । भ्रातृत्व के नाते आप उन्हे दुत्कारे नही । यदि हृदय मे धर्म की भावना जागृत करनी है तो अस्पृश्यता की भावना खत्म करनी होगी ।'

भगवान महावीर ने घृणा (जुगुप्सा) को पाप माना है । जो व्यक्ति ऐसा करता है वह धार्मिक नही हो सकता । अस्पृश्यता का निवारण अछूतों पर दया करने के लिए नही किन्तु अपने मन की वृत्तियों को सुधारने के लिए करना चाहिए । किसी को 'बेचारा' मानना ठीक नहीं है । यदि दया करनी है तो अपनी हीनता के प्रति कीजिए । अपने को सुधार लें तो दया स्वतः हो जाएगी ।

हरिजनो से भी मैने एक बात कही कि आप दूसरों की सहानुभूति चाहते हैं तो अपने-आपको भी टटोलें । आप में भी छुआछूत है । आपस में एक दूसरी जाति के प्रति अस्पृश्यता की भावना है । उनका स्पर्श नही करते, उनके हाथ का पानी नही पीते । एक-दूसरे को हीन मानते है । यदि सवर्ण लोगों से अस्पृश्यता की भावना

को खत्म करना चाहते है तो पहले परस्पर की अस्पृश्यता को मिटाना होगा ।

अस्पृश्यता-निवारण के लिए गांधीजी ने काम किया । अणुव्रत भी इस दिशा मे सक्रिय है फलतः लोगों के दिमाग से अस्पृश्यता की भावना कम हुई है ।

गांधीजी के विचार युग के विचार थे किन्तु प्रश्न यह है कि उनके अनुयायी कहां तक उन्हें प्रश्रय देते है । मै किसी पर व्यंग्य नहीं करता किन्तु इतना अवश्य कहना चाहता हूं कि एक महापुरुष के विचार नदी के प्रवाह की तरह बह न जाएं। उन्हे पकड़कर रखा जाए इससे विकास का पथ प्रशस्त होगा । अंत मे एक ही बात कहता हूं कि सब लोग औरों को सुधारने के साथ स्वयं को सुधारने का प्रयास करें। इसके लिए अणुव्रत आपके सामने प्रस्तुत है । ऐसा करके ही आप गांधी के प्रति सच्ची आस्था प्रकट कर सकते है ।

गांधीजी के आदर्श : एक प्रश्नचिह्न

गांधीजी का जन्म-दिन अनेक स्थानो पर मनाया जा रहा है। यह स्वाभाविक भी है। इतना शीघ्र उनका जन्म-दिन लोग भूले भी कैसे ? उनकी जन्म-जयन्ती मनाना लोग नही भूले किन्तु उनकी जीवनगत विशेषताओ को भूलते जा रहे है, यह एक दुःखद बात है।

भगवान् महावीर तथा बुद्ध के अनुयायी यदि उनको विस्मृत कर रहे है तो कोई आश्चर्य की बात नहीं क्योंकि बीच मे बहुत लम्बा समय निकल गया है किन्तु गांधीजी को इतने निकट समय में ही भूल जाना, बहुत आश्चर्य की बात है।

यद्यपि सफेद टोपी और खादी के कपड़े पहनने वाले आज भी अनेक व्यक्ति मिल जाएंगे, पर गांधी जी की जीवनगत विशेषताओं को अपनाने वाले अंगुलियो पर गिनने जितने भी नही मिलेंगे। ऐसी विषम स्थिति को देखने से हृदय मे पीड़ा होती है। पीड़ा की अभिव्यक्ति करना मात्र पर्याप्त नही होता। इससे मूल समस्या नही सुलझती। समस्या को सुलझाने के लिए बलिदान करना पड़ेगा।

प्रत्येक व्यक्ति मे यह आत्मविश्वास होना चाहिए कि वह सब कुछ कर सकता है। गांधीजी आत्म-विश्वासी थे। उनके आधार पर ही उन्होने पराधीन राष्ट्र को स्वाधीन बनाया था।

यद्यपि गाधी जी से मेरा साक्षात् संपर्क नही हुआ, मेरे सार्वजनिक कार्यक्षेत्र मे उतरने से पहले ही उनका निधन हो चुका था, किन्तु उनके विचारो के साथ मेरा सदा मिलन होता रहा है।

गांधी जी एक बात कहा करते थे कि व्यक्ति का वर्तमान सदा उज्ज्वल रहना चाहिए, भविष्य तो अपने-आप उज्ज्वल हो जाएगा। वर्तमान को मलिन करने वाला व्यक्ति भविष्य को कभी उज्ज्वल नही कर सकेगा, यही बात में कहा करता हूं। वर्तमान को व्यर्थ खोने वाला व्यक्ति भविष्य को कभी सुरक्षित नही रख सकता।

वर्तमान का मूल्य वही व्यक्ति आंक सकता है जो अहिंसक वृत्तियो से जीता है। अहिसा जीवन की सबसे बड़ी कला है। अहिसा है वही धर्म है, तथा धर्म

है वही अहिंसा है, दोनों में परस्परता है। वे एक-दूसरे से कटकर नहीं टिक सकते।

आज लोगों ने अहिंसा को प्राणियों के जीने-मरने के संदर्भ में जोड़कर उसके शुद्ध स्वरूप को विकृत बना दिया है। वास्तव में अहिंसा के क्षेत्र में प्राणियों के जीने मरने का कोई महत्त्व है ही नहीं। उसमें महत्त्व है व्यक्ति की उदात्त वृत्तियों का। जो जितना उदात्त होता है वह उतना ही अहिंसक होता है।

अहिंसा आत्म-धर्म है। वह किसी भी स्थिति में आत्मा से दूर नहीं रह सकता। निम्नलिखित सात सूत्रों से जिसका जीवन परिवेष्टित है, वह व्यक्ति वास्तव में अहिंसक है। अब हर व्यक्ति अपने-आपको तोले कि उस का जीवन किस की परिक्रमा कर रहा है :

१. शान्ति की अथवा क्रोध की,
२ नम्रता की अथवा अभिमान की,
३. सतोष की अथवा आकांक्षा की,
४ ऋजुता की अथवा दंभ की,
५ अनाग्रह की अथवा दुराग्रह की,
६. सामंजस्य की अथवा वैषम्य की,
७ वीरता की अथवा दुर्बलता की।

वीरता अहिसा है। अहिंसक व्यक्ति में संघर्ष झेलने की क्षमता होती है। जो सघर्षो में सक्षम होता है वही महापथ पर चल सकता है। आगम मे बताया गया है–'पणया वीरा महावीहि'।

वर्तमान राष्ट्र की स्थिति को देखते हुए लगता है कि गांधीजी के निधन के बाद राष्ट्र की स्थिति को सभालने वाला कोई विशेष शक्ति-सम्पन्न व्यक्ति नही आया इसलिए ही राष्ट्र की स्थिति अधिक चिन्तनीय बनती जा रही है।

आज राष्ट्र-सुधार की चिन्ता न नागरिको को है और न राजनयिको को। सब अपने-अपने घर भरने की चिन्ता में है। जब तक दोनो ओर से अपनी कर्तव्यपरायणता का पालन नही किया जायेगा, तब तक राष्ट्र की समस्या का समाधान नही हो सकेगा।

कर्तव्यशील नागरिक अपने राष्ट्र का अहित तो क्या, उनके विषय मे हल्की बात भी नही सुन सकता। निम्नलिखित घटना से आप अच्छी प्रकार जान पाएंगे।

मगध देश मे राजगृह नाम का प्रतिष्ठित नगर था। दूर-दूर तक उसका यश फैला हुआ था। एक बार कुछ व्यापारी रत्न कम्बलो को बेचने के लिए उस नगर मे आये। दिन-भर शहर में घूमे पर उनके कम्बलो को लेने वाला एक भी व्यक्ति

नही मिला। अन्त में निराश होकर शाम को वे अपने नगर की ओर लौटने लगे। सबके मुंह से एक ही आवाज निकल रही थी कि हमें क्या पता, इस शहर मे बसनेवाले इतने कंजूस हैं ? ये लोग अपने नगर का गौरव कैसे सुरक्षित रख सकेगे ?

यह आवाज भद्रा के कानों तक पहुंची। उसने तत्काल उन व्यापारियो को अपने पास बुलाया और उनसे निराश लौटने का कारण पूछा। सारी स्थिति की जानकारी हो जाने के बाद भद्रा ने एक साथ उन सभी कम्बलों को खरीद लिया जो एक-एक सवा लाख के मूल्य की थी। भद्रा ने कहा– 'तुम सोलह कम्बल लेकर क्यों आये ? बत्तीस तो लाते, जिससे मै अपनी बहुओं को एक-एक दे सकती, अन्यथा मुझे आधा-आधा ही देना पड़ेगा।' उन व्यापारियों के सम्मुख ही उसने बत्तीस बहुओ को आधा-आधा कम्बल दे दिया। व्यापारी यह देखकर आश्चर्य में डूब गए। उनको कहना ही पड़ा कि एक औरत अपने नगर के यश की सुरक्षा किस प्रकार कर सकती है।

आज भी कोई ऐसा व्यक्ति है जो इस प्रकार अपने राष्ट्र के गौरव की सुरक्षा के लिए प्रस्तुत हो। राष्ट्र के गौरव की सुरक्षा के दो हेतु है–कर्तव्यशीलता और जागरूकता।

सन् १९४७ में गांधीजी विहार की यात्रा कर रहे थे। उस समय उनके पास एक छोटी पैसिल थी। मनु ने पैसिल को देखा। उसे उठाकर दूसरे स्थान पर रख दी और उसकी जगह नई पैसिल रख दी। गांधीजी बाहर से आये। रात्रि का समय लगभग साढ़े बारह बजे का समय। गांधीजी ने मनु को उठाया और पूछा– पैसिल कहॉ है ? उसने कहा– दूसरे स्थान पर रख दी है, अभी पैसिल लाओ। वह उठी। पैसिल खोजने लगी। सवा बज गये। नहीं मिली। तब गाधीजी ने कहा– अभी तुम सो जाओ। सबेरे देना।

प्रातःकाल ३ बजे का समय। सभी प्रार्थना स्थल पर इकट्ठे हुए। गाधीजी ने पुनः मनु को पैसिल की स्मृति करवाई। मनु ने पुन. खोजा। कठिनाई से मिली। मिलने पर उसने गांधीजी को दी तब गांधीजी ने कहा– अभी जरूरत नही है, इसे रख दो। उस समय मनु को गुस्सा आया परन्तु कुछ उत्तर नही दिया और उसे व्यवस्थित रख दिया। दो सप्ताह बीत गये। एक दिन पुनः १२ बजे के समय मनु को उठाकर पैसिल लाने के लिए कहा। मनु अन्दर गई और वही पैसिल का टुकड़ा लाकर दे दिया। तद गांधीजी ने कहा– तुम परीक्षा मे उत्तीर्ण हो। अब मुझे विश्वास है कि तुम्हारे हाथ में कोई भी चीजें सौपी जा सकती है।

महान् वह होता है, जो छोटी बात और छोटी वस्तु के प्रति जागरूक रहता है। ऐसे व्यक्ति स्वयं तो जागरूक होते ही हैं, अपने आस पास रहने वालो को भी जागरूक बना देते है। गांधीजी को मानने की सार्थकता इसी बात में है कि उन्हें मानने वाले उनके विचारों और कार्यो का अपने जीवन में प्रयोग करते रहें।

गांधी-शताब्दी और उभरते हुए साम्प्रदायिक दंगे

अभी पिछले दिनो अहमदाबाद-गुजरात में होने वाली अमानवीय घटनाओं के समाचार अखबारो में पढ़ने को मिले। जब भी मै किसी नवीन घटना के समाचार सुनता, मेरा हृदय कांप-काप उठता। यद्यपि मै यहां गुजरात से हजारो मील दूर दक्षिण मे हूं, किन्तु मुझे लगता है जैसे कि मेरे ही सामने मानवता के वक्ष-स्थल मे छुरा घोपा जा रहा है और मै निरीह-सा भीतर-ही-भीतर तड़प उठता हूं। इस प्रकार की घटनाएं चाहे विश्व के किसी भी कोने में क्यों न हो, हृदय को दहला देने वाली होती है। फिर अध्यात्मप्रधान भारत में और उसमें भी गुजरात जैसे सुसस्कृत और शालीन प्रदेश मे ये घटनाएं घटें, सचमुच ही अत्यन्त लज्जाजनक बात है। जिस प्रदेश में अहिसा-प्रधान जैन धर्म के अनुयायी बहुत बड़ी सख्या मे रहते है, जहा अन्य धर्म-मतावलम्बियो की संख्या भी विपुल मात्रा मे है और जहा साबरमती के किनारे बैठकर गांधीजी ने सत्य, अहिसा और विश्व-प्रेम की अलख जगाई थी, अपनी तपस्या और साधना के अनेक वर्ष गुजारे थे और एक स्वतन्त्र एवं अखण्ड भारत का नारा दिया था, वहीं पर इस प्रकार की बर्बर घटनाओ का व्यूह रचा जाए, क्या इससे सारे देश का माथा लज्जा से नही झुक जाना चाहिए ? मेरे मन मे रह-रहकर एक प्रश्न उठता है– क्या वास्तव में गोडसे ने गांधीजी की हत्या की थी ? क्या उनकी वास्तविक हत्या अब नही की जा रही है ?

आप सोचते होगे, यदि मेरे मन में सचमुच ही इतनी वेदना हुई तो मैने इसके विरोध मे अनशन आदि क्यो नही किए ? बड़ी-बड़ी सभाएं आयोजित कर उसमे लम्बे-चौड़े भाषण क्यो नहीं दिए ? मुझे लगता है कि आज हम कितने राजनीतिमय हो गए है। हमारा चिन्तन कितना स्वार्थपूर्ण और राजनीतिपूर्ण हो गया है। हम स्वयं जातिगत वैमनस्य को उकसा रहे है। हम स्वयं साम्प्रदायिक घृणा को चारों ओर फैला रहे है, हम स्वयं प्रान्त और भाषा के विषबीज बो रहे है। जब वे विषबीज वृक्ष का आकार ले लेते हैं, फलों और फूलों से लदने शुरू हो जाते है, तब हम जोर-जोर से चिल्लाते है–ये फल और फूल नहीं आने चाहिए। हम उन फलो को

और फूलों को काट फैकने के लिए अनशन करते हैं । सत्याग्रह करते हैं । लेकिन मेरी समझ में नहीं आता, जब हम वृक्ष को बराबर सिंचन दे रहे हैं तो यह कैसे संभव है कि उस पर फल और फूल नहीं आएं और फिर फलों और फूलो को काटने से कौन-सा अभीष्ट परिणाम आने वाला है । इसके विपरीत इससे अनशन और सत्याग्रह अपना मूल अर्थ खो बैठते है और मात्र एक धोखा बनकर रह जाते है गांधीजी के बीस वर्ष बाद ही क्या अनशनों और सत्याग्रहों की आज यही हालत नहीं हो गई है ?

मेरी बातें संभवतः आपकी समझ में नही आ रही होंगी । आप कह सकते है 'देश के सारे नेता जब जातिवाद, प्रान्तवाद, भाषावाद और सम्प्रदायवाद के खिलाफ बड़ी-बड़ी सभाओं में भाषण देते रहते है, सब प्रवृत्तियो की निन्दा करने वाले उनके बड़े-बड़े संवाद अखबारों में प्रतिदिन छपते रहते है, फिर हम स्वयं ही ये विष बीज कैसे बो रहे हैं ? हम तो खुले रूप से इनकी भर्त्सना कर रहे है ।' मै आपके इस कथन को अस्वीकार नहीं करता । मै ऐसे भाषण बहुत सुनता हूं, ऐसे सम्वाद बहुत पढ़ता हूं । किन्तु प्रश्न यह है कि हम करते क्या है ? चुनाव में विजयी होने के लिए क्या हम धर्म, जाति, प्रान्त और भाषा का सहारा नही लेते है ? धर्म, जाति और भाषा के आधार पर ही क्या हम अलग-अलग राज्यों और जिलो का निर्माण नही कर रहे है ? क्या हमारे मे साहस है कि उन आवाजों को ठुकरा दे, जो सम्प्रदायवाद और भाषावाद को उकसाने वाली हो, फिर चाहे उससे हमारा दल अल्पमत मे भी क्यों न रह जाए ? क्या हम देश-हित से अधिक अपने-अपने दलों को ही महत्त्व नही दे रहे है ? अल्पसंख्यकों के हितों की हमारी आवाज के नीचे भी क्या राजनीति ही काम नही कर रही है ?

हम राजनीति के क्षेत्र को छोड़ें । शिक्षा और प्रशासन के क्षेत्र को लें । क्या वहां पर भी यही जातिवाद, प्रान्तवाद और सम्प्रदायवाद काम नही कर रहा है ? जिस राष्ट्र के बच्चो को जन्म-घुट्टी में और शिक्षा-दीक्षा मे जातिवाद और सम्प्रदायवाद के संस्कार मिलते हो, उसके नागरिकों से उदार व्यक्तित्व की आशा करना क्या हमारी दुराशामात्र ही नही है ? गांधीजी के आन्दोलन का उद्देश्य विदेशी सत्ता से भारत को मुक्त करना मात्र ही नहीं था । वे चाहते थे भारत पराधीनता के संस्कारो से भी मुक्त बने । स्वतंत्रता की सही परिभाषा भी उनकी यही थी कि जिस दिन भारत दासता के समस्त प्रकारों से मुक्त हो जाएगा, उसी दिन वह सही अर्थ मे मुक्त होगा । इसीलिए उन्होंने अस्पृश्यता, हिन्दू और मुसलमान के नाम पर होने वाले देश के बंटवारे, जाति के आधार पर ऊंच-नीच के भेदभाव आदि का खुलकर विरोध किया था । वे जानते थे कि अंग्रेजों को भारत छोड़ने के लिए बाध्य करना

सरल है किन्तु इन संस्कारों से भारत को मुक्त करना कठिन है। भारत को इस दासता से मुक्त करने के लिए ही उन्होंने यह चाहा था कि जो नेतृ-वर्ग आज विदेशी शासन से देश को मुक्त करने में लगा है, वह अपने इस लक्ष्य की प्राप्ति के बाद इन बौद्धिक दासताओं से देश को मुक्त करने के लिए कृतसंकल्प हो। इसी भावना को मूर्त रूप देने के लिए उन्होने यह सुझाव भी दिया कि स्वतन्त्रता-प्राप्ति के बाद काग्रेस को लोकसेवादल के रूप में परिवर्तित कर दिया जाए।

स्वतन्त्रता के लिए अपना त्याग और बलिदान करने वालों को गांधीजी की यह बात बड़ी अटपटी लगी। बहुत सारे लोग कह कहते भी सुने गए कि बापू की बुद्धि सठिया गई है। गाधीजी को स्वयं भी अपने अन्तिम वर्षो में स्पष्ट अनुभव होने लगा कि काग्रेस उनके हाथों से निकलती जा रही है। उस समय कांग्रेस में उनकी आवाज काफी मन्द पड़ गई थी। क्योंकि कांग्रेस को यह रुचिकर कैसे लगता कि बलिदान के लिए आगे रहने वाली कांग्रेस सत्ता और कुर्सी के समय पीछे खिसक जाए। बहुत सारे व्यक्तियों के बलिदान का लक्ष्य भी सत्ता प्राप्त करना ही रहा हो तो भी कोई आश्चर्य की बात नही। इस स्थिति में गांधी जी की सलाह मानने का प्रश्न ही नही उठता था।

मै समझता हू कि गांधीजी और कांग्रेस मे यही मूलभूत मतभेद था। गाधीजी का लक्ष्य जहा सम्पूर्ण स्वराज्य-प्राप्ति का था, वहां काग्रेस के अन्यान्य नेताओं ने स्वतन्त्रता-प्राप्ति को ही अपना अन्तिम लक्ष्य मान लिया था। वैसे बाद की साधना मे कोई स्वाद भी तो नही रह गया था। जो स्वाद नेता बनने में होता है, वह सेवक बनने मे कैसे हो सकता है? गांधीजी ने चाहा था, सेवा मे से सत्ता आए और कांग्रेस ने चाहा, सत्ता मे से सेवा आए। रास्ता वही लिया गया जो काग्रेस ने चाहा। लेकिन दुर्भाग्यवश वह सत्ता तक आते-आते अटक गई, सेवा तक नही पहुंच सकी। वैसा होना स्वाभाविक भी था।

कुछ व्यक्तियों ने अवश्य सत्ता की ओर से मुख मोड़कर सेवा का मार्ग लिया। किन्तु मुझे यह कहने में कोई संकोच नहीं है कि वे सत्ता के दवाव से मुक्त नही हो सके। परिणामत. उनकी सेवा तो निष्प्रभ हुई ही, सत्ता को भी उससे अपना मनमानापन बढ़ाने को प्रोत्साहन मिला।

मुझे आज भी गांधी जी की सेवा के विचार बहुत महत्त्वपूर्ण लगते हैं। सेवा से भारत को न केवल सच्चा स्वराज्य प्राप्त होता है बल्कि उसमें से आने वाला शासन भी शक्ति का शासन नही होता, हृदय का होता। आज लोग कुर्सी से चिपके रहने के प्रयत्न मे है, फिर भी कुर्सी छिनती हुई-सी नजर आ रही है। उस स्थिति मे कुर्सी स्वयं चिपके रहने की कोशिश मे होती। किन्तु उस स्थिति के लिए

को बहुत खपना पड़ता है और तपस्या का जीवन जीना पड़ता है। तपस्या का जीवन एक तपस्वी आदमी ही जी सकता है। गांधीजी का जीवन एक तपस्वी का था। उनकी तपस्या कुछ परिणाम भी लायी। किन्तु उनको तपोनिष्ठ शिष्य नही मिले। जो मिले, वे उनकी तपस्या के लाभ के लोभ से आकृष्ट होकर ही उनके पास आए थे; ऐसा लगता है। वे आज तक उस तपस्या के लाभ पर जीते रहे हैं, फलते-फूलते रहे है। अब जबकि उस तपस्या का लाभ क्रमशः क्षीण होता जा रहा है, वे उस लाभ को बनाए रखने के लिए गांधीजी के नाम का, उनके आदर्शो का और उनके हथियारों का अपने स्वार्थो के अनुसार प्रयोग कर रहे हैं। यह एक सर्वथा अवांछनीय स्थिति है।

प्रस्तुत संदर्भ को मै और अधिक लम्बाना नही चाहता। न ही गुजरात मे हुई वर्तमान घटनाओं को—यहां पर विस्तार देना चाहता हूं। किन्तु इतना अवश्य कहना चाहूंगा कि गांधीजी की शताब्दी के इस समापन-चरण के अवसर पर हमे समस्या को ऊपर से न पकड़कर, जड़ से पकड़ने की कोशिश करनी चाहिए। हमे गहराई से सोचना चाहिए कि जातिवाद, भाषावाद, प्रान्तवाद और सम्प्रदायवाद की जड़ें दिन-प्रतिदिन मजबूत क्यों होती जा रही है ? उनको सुदृढ़ करने में हमारी शासन पद्धति, प्रशासन-व्यवस्था, संविधान और शिक्षा-प्रणाली ही तो कही सहयोगी नहीं बन रही है ? मै समझता हूं कि यदि इस ओर ध्यान दिया गया तो भारत अवश्य ही दासता के इन संस्कारो से मुक्त हो सकेगा। प्रश्न यही है, देश का नेतृत्व करने वाला वर्ग क्या इतने बड़े नैतिक साहस का परिचय देगा ?

देखकर आश्चर्य हुआ कि शारीरिक दुर्वलता की स्थिति मे भी विनोवाजी पैदल चलकर आ रहे है।

हम लोग गोपुरी की ओर चले। विनोबाजी ने मेरा हाथ पकड़ लिया। मैने कहा—'आपकी पकड़ मजबूत है।' वे बोले—'हाथ पकड़ना सरल नहीं है। उसे निभाना पड़ता है।' गोपुरी में प्रवेश करते ही विनोवा-कुटी आयी। मैने कहा—'आप वहुत चले है, थकान भी आ गई होगी। अव आपका स्थान आ गया है न! हम चले जाएंगे।' पर उन्होने मेरी बात नहीं सुनी। हमे गोपुरी के पुस्तकालय हॉल मे ठहरना था। हम लोग वहां प्रवेश कर चुके। मै वहाँ जाकर खड़ा रहा। वे बोले—'आप हमारे अतिथि है। आप बैठ जाइए, फिर मैं जाऊंगा।' मुझे वहां बिठाकर ही वे अपने स्थान को लौटे।

सेवाभावी मुनि चम्पालालजी ने कहा—'आप बहुत दूर तक सामने आए। पैदल काफी चलना पड़ा। आपको कष्ट हुआ होगा?'

विनोबाजी बोले—अरे बाबा, बीस वर्षो से मिले है। यह आनन्द की बात है इसमें कष्ट क्या है?' मैने कार्यकर्त्ताओ से कहा—'दोपहर की बातचीत वही विनोबा-कुटी मे कर ले। यहा बार-बार आने से उन्हें चलने में कष्ट होगा।' मै उत्तर की प्रतीक्षा में था। उत्तर आने से पूर्व ही विनोबाजी वहा पहुच गए। मैने मन-ही-मन सोचा—किसी भी गतिशील आध्यात्मिक व्यक्ति के बारे में यह धारणा नही बनानी चाहिए कि वह व्यावहारिक नही है। जहां सही अर्थ मे अध्यात्म उदित होता है वहा प्रेम का समुद्र तरगित हुए बिना नहीं रह सकता। मैने गोपुरी-प्रवास मे उसका साक्षात् अनुभव किया।

हम तीन दिनो मे कई बार मिले। दिल खोलकर बातें की—व्यक्तिगत से लेकर जागतिक तक। किसी विषय में मतभेद था, बहुत बातों मे मतैक्य, किन्तु प्रेम और सद्भाव दोनो प्रसगों में समान था।

व्यक्तिगत

मैने कहा—'हम कल शाम को ही यहां आना चाहते थे, पर दो कारणो से नही आ सके। पहला—सेवाग्राम के अतीत को वर्तमान मे अनुभव करने की प्रेरणा ने हमे वही रोक लिया। दूसरा—हमने सुना है कि आप शाम को साढ़े पांच बजे ही सो जाते है। इतने जल्दी सोने का कोई विशेष अर्थ है?

विनोवाजी वोले—शेखसादी की एक कहानी है। राजा ने उनसे नसीहत मांगी। शेखसादी ने राजा से पूछा—रात मे सोते हो या नही? राजा ने कहा— छह-सात

विनोबाजी– तब तो इसे रोज धोना पड़ता होगा ?'

'अन्दर एक छोटा कपड़ा और होता है, उसे साफ कर लेते है– मै तो मुखवस्त्रिका को वाणी-संयम और सभ्यता का प्रतीक कहा करता हू । पुराणों में भी इसका वर्णन मिलता है । जैन साधुओं का लक्षण बताते हुए उन्हें 'मुखवस्त्रधरा, कहा गया है।'

राजनीति

विनोबाजी का चिन्तन बहुत स्पष्ट है । उनमें उत्तरदायित्व को वहन करने की क्षमता है । पर वे उतना ही उत्तरदायित्त्व अपने पर ओढ़ते है, जितना आत्मनिष्ठा के धागों से बना हुआ उनके पास पहुंचता है । मैने पूछा–'काग्रेस दो भागों में विभक्त हो गई । उसका परिणाम सामने है । क्या आपने इस बारे में कुछ सोचा है ?' विनोबाजी ने बहुत ही धृति के साथ कहा– 'विदेश में टेनिसन नाम का एक कवि हुआ है । उसने एक कविता लिखी हैं, जिसका भावार्थ यह है झरना बोल रहा है 'मै अनादिकाल से बह रहा हूं और बहता रहूंगा । मनुष्य आते है और जाते है।' मै तो कहता हूं कि राजा और मन्त्री सैकड़ों हो गए । वे आए और चले गए । आना और जाना ही उनका काम है । उनका आने-जाने से कोई खास फर्क नही पड़ता । समाज तो पहले भी अखण्ड था और रहेगा । इसी प्रकार काग्रेस के दो टुकड़े हो गए । इससे देश का कोई खास नुकसान नही हुआ है ।'

'आपके साथी और शिष्य अनेक उसमे थे । विभाजन को रोकने के लिए न सही किन्तु छीटाकशी को रोकने के लिए उन्हे शिक्षा देना अपेक्षित था ।'

विनोबाजी–'कौन है हमारे साथी ?'

'यह तो आप ही जाने !'

मुनि नथमलजी–'कौन नही है आपके साथी ?' (सारा वातावरण हसी मे आप्लावित हो गया ।)

'लोगों ने अपेक्षा की थी कि आप इस सम्बन्ध में कुछ कहेगे ।'

विनोबाजी–'क्यो कहेगे ? तुलसीदासजी ने कहा है कि वाणी सरस्वती का रूप है । भगवन्नाम और अध्यात्म के विना उसका प्रयोग किया जाता है तो अन्त मे सिर धुनकर पछताना पड़ता है । अत· वाणी का उपयोग अच्छे के लिए करना चाहिए ।'

'पर इसमे तो अच्छे के लिए ही करने की वात थी ।'

विनोवाजी–'महाराष्ट्र मे एक [illegible] वड़े नेता [illegible] ए है– लोकमान्य तिलक । उन्होने चालीस वर्षो त[illegible] । उन[illegible] खण्ड प्रकाशित

हुए है पर आज उन्हे पढ़ा नहीं जाता। उनके 'गीता रहस्य' एक स्थायी ग्रन्थ है वह नही होता तो कुछ भी नहीं पढ़ा जाता। देश के एक सर्वोत्तम नेता के वचनों की यह हालत है तो दूसरों का कहना ही क्या ?

कांग्रेस के विघटन-प्रसंग पर बोलने के लिए मुझे कइयों ने कहा—यदि मैं उनका कहना मान लेता हूं तो तीन प्रकार की जिम्मेदारियां मेरे पर आती है—

(१) सोचने की, (२) निर्णय करने की, (३) बिना पूछे सलाह देने की। मै इन तीन जिम्मेदारियों का बोझ नहीं उठा सकता।

'बादशाह खान ने भी इस सम्बन्ध में कुछ नहीं कहा।' विनोबाजी—'यह उसकी समझदारी की बात थी।'

मुनि नथमलजी—'सर्वोदय के अच्छे और मंजे हुए कार्यकर्त्ताओ को आप राजनीति में क्यों नही भेजते ?'

विनोबाजी (रांकाजी से)—'क्यों ऋषभदास ! तैयार है राजनीति में जाने को ?'

राकाजी—'आप दो महापुरुष यहां उपस्थित है। मै आपकी आज्ञा को कैसे टाल सकता हूं।'

विनोबाजी—'सर्वप्रथम लोकतन्त्र का स्वरूप समझने की जरूरत है। लोकतन्त्र डेरी के दूध की तरह होता है। डेरी में सभी प्रकार की गायो का मिश्रित दूध होता है अत. न उसे सर्वथा रद्दी कहा जा सकता है और न सर्वोत्तम ही। लोकतन्त्र मे भी जो लोग चुनकर आते है वे न तो सर्वोत्तम होते है और न सर्वाधम ही। राजाओं के राज्य मे कहा जाता था कि राजा उत्तम होता है तो प्रजा भी सुखी होती है और राजा अधम होता है तो प्रजा दु खी होती है। लोकतन्त्र मे वैसा नही होता, उसमे मध्यम होता है। उसमें न तो उत्तम चुनकर आता है और न सर्वाधम। उत्तम इसलिए चुनकर नही आता कि वह पैसा नही खर्च कर सकता। ऐसा किए बिना आजकल वोट मिलते नही। एक मराठी कविता पढ़ी थी जिसका भाव यह था कि आत्मस्तुति, पर-निन्दा और मिथ्या-भाषण—ये तीन अवगुण हमारे अन्दर न आने पाए। मैने उसमे एक वाक्य और जोड़ दिया कि इलेक्शन (चुनाव) इसका अपवाद है। आज कल चुनाव इन्हीं बातों पर जीता जाता है। उत्तम पुरुषो के द्वारा ऐसा होता नही। उनका कार्यक्रम और घोषणापत्र भी जनता मानेगी नही। कल्पना कीजिए कि मै यह कहूं कि चुनाव में जीतकर सेना को नही रखूंगा तो लोग कहेगे आपकी बात सही हो सकती है। पर आपको चुनेगे नहीं क्योंकि हमे सेना चाहिए। सिद्धान्त और आदर्श अच्छे हो सकते है पर उनके आधार पर चुनाव नहीं जीता जा सकता। यही कारण है कि सर्वोत्तम पुरुष चुनाव में भाग नहीं ले सकते। इसके लिए तो एक ही मार्ग है कि जनता को लोकतन्त्र का स्वरूप समझने

के लिए शिक्षित करना चाहिए। उसे बतलाना चाहिए कि चुने जाने वालों का चरित्र ऊंचा हो। किसी को दलीय आधार पर खड़ा न करके चरित्र के आधार पर खड़ा किया जाए तो लोकतन्त्र का स्वरूप सुधर सकता है। अतः लोकमत को जागृत करने के कार्य को प्रमुखता देनी चाहिए।'

महावीर जयन्ती

विनोबाजी आध्यात्मिक व्यक्ति हैं। सीमा में रहना एक व्यवहार है। क्षेत्र और काल की सीमा हर किसी व्यक्ति को स्वीकार करनी पड़ती है। वस्तु की सीमा भी जीवन-निर्वाह के लिए अनिवार्य है। भावात्मक असीमता होने पर वे सीमाएं दृष्टि, कृति और प्रतिपत्ति को सीमित नही बनातीं, प्राप्त सत्य को शेष सत्य से विच्छिन्न नही करतीं।

मुझे बातचीत के मध्य विनोबाजी में सत्य की स्वीकृति के लिए पूर्ण स्वतन्त्रता की प्रतीति हो रही थी। महावीर जयन्ती का प्रसंग आ गया। मैंने कहा- 'भगवान महावीर की पचीसवीं निर्वाण सदी चार वर्षो बाद आने वाली है। वह मनाने का निर्णय हुआ है। इस अवसर पर जैनों का क्या कर्तव्य होता है और उसके मनाने की विधा में आप क्या परामर्श देते हैं?'

विनोबाजी–'गांधी शताब्दी आई और गई।'

मुनि नथमलजी–'उसमें तो आपका भी योग रहा होगा?'

विनोबाजी 'हम तो योग से मुक्त है!'

मुनि नथमलजी–'पर गांधीजी से मुक्त कैसे हो सकते है। जब से सूक्ष्म मे प्रवेश किया, तब से गांधी जी को नमस्कार कर लिया। पचास वर्षो तक जो कुछ किया, वह भगवान् को समर्पण कर दिया। अतः अब योगमुक्त है। यह जैनो का ही शब्द है।'

नानक की जयन्ती हो गई। नामदेव की सप्तशती हो गई। यह तो एक निमित्त है। यों तो प्रतिदिन उनका स्मरण करना चाहिए पर ऐसे निमित्त से थोड़ा जागृति का भाव आ सकता है। मैं वैशाली गया तब महावीर पर बोलने का अवसर मिला। मैंने कहा–महावीर की बात जीवन में उतार ली जाए तो झगड़ा मिट जाता है। झगड़ा तब होता है जब आदमी सोचता है कि मैं जो कहता हूं उसी में सत्य है। सामने वाले की बात में सत्यता नही है। यदि सामने वाले के सत्य के अंश को ग्रहण किया जाए तो झगड़ा होता ही नहीं। महावीर ने सत्यग्राही वृत्ति पर बल दिया। इसलिए पहले सत्यग्राही बनो, फिर सत्याग्रही बनो।

महावीर के सम्बन्ध में दिगम्बरों और श्वेताम्बरों की विचारधारा में भी भिन्नता है। एक पक्ष कहता है कि महावीर ने शादी नहीं की और दूसरा पक्ष कहता है कि वे विवाहित थे। बाद में उन्होंने त्याग किया। जब ये दो मत मेरे सामने आते है तब मै कहता हूं कि मै उस समय नहीं था अतः इस सम्बन्ध में कुछ नहीं कह सकता।'

'सरकार भी पूछ रही है कि बुद्ध की तरह महावीर जयन्ती मनाने के लिए उसे क्या करना चाहिए ?'

विनोबाजी–उन्हे कहना चाहिए कि वे लोग (मन्त्री आदि) सादगी से रहना शुरू करें और सत्यग्राही बनें।'

मुनि रूपचन्द्रजी–'गांधी शताब्दी के अवसर पर यह परामर्श आपने सरकार को नही दिया ?'

विनोबाजी–'गांधी शताब्दी वाले मेरे पास आए थे। मैने उसे कहा– क्राइस्ट दफनाने के बाद जेरुशलम की कब्र से बाहर आया और बोला कि मै यहां से निकल चुका हूं। अब यहां पर नही मिलूंगा। गांधीजी के लिए भी यही बात है। आप उनका स्थान दिल्ली में बना रहे है पर गांधी कह रहा है कि मै दिल्ली को छोड़ चुका हूं, अतः वहां पर नही मिलूंगा। तुम लोग गाव मे जाओ। मै गांवों मे मिलूंगा।'

विसर्जन

वर्तमान समस्या को दो शब्दो–संग्रह और अभाव से व्यक्त किया जा सकता है। पहाड़ ऊंचे और गड्ढे गहरे होते जा रहे है। दोनों के बीच में कोई साम्य स्थापित नहीं हो रहा है। कानूनी व्यवस्था उन दोनों का समीकरण करने की दिशा में चल रही है। कानून मस्तिष्क की स्वीकृति बने, इसलिए विसर्जन की आवश्यकता है।'

मैने कहा–'विसर्जन के बारे मे आपका कोई सुझाव हो तो हम जानना चाहते है।'

विनोबाजी–'विसर्जन अच्छा है– दान और त्याग ये दो चीजे है। इनमे त्याग का अर्थ है विसर्जन। मैने बहुत पहले एक लेख लिखा था जिसका शीर्षक 'त्याग और दान' था। मैने कहा– दान से ब्याज घटता है और त्याग से पूंजी घटती है। दान शाखा को काटता है और त्याग मूल को काटता है। कुछ व्यक्ति त्याग नहीं कर सकते। उनकी शक्ति दान की होती है। दान की जो व्याख्या शंकर ने की, वही बुद्ध ने की। बुद्ध ने दान को संविभाग बतलाया। शंकर ने भी उसे वैसा

ही बतलाया। दान शब्द 'दा' धातु से बना है। 'दा' धातु के दो अर्थ होते हैं–काटना और देना। दोनों अर्थों को एकत्रित करके जो दिया जाता है–वही सही अर्थ मे दान है। हमने भारत के विभिन्न क्षेत्रों में पांच-छह आश्रम स्थापित किए है। एक आश्रम इंदौर में है। उसका नाम विसर्जन आश्रम है।'

मुनि नथमलजी– 'कुछ लोग आचार्यश्री को कहते हैं कि शंकर ने दक्षिण भारत की यात्रा की अतः उनके चार आश्रम स्थापित हुए। उसी प्रकार आपकी यात्रा की स्मृति में भी कुछ केन्द्र होने चाहिएं।'

विनोबाजी–'हम पांच-छह आश्रम बना चुके है। नये आश्रम बनाने के बदले आप उन्हें ही लीजिए। हम उनका विसर्जन करते है।'

सर्व-धर्म-समन्वय

धर्म वस्तुतः एक है। क्योंकि जो सत्य है वह धर्म है और जो धर्म है वह सत्य है। धर्म या सत्य की व्याख्याएं अनेक है। उनके आधार पर धर्म भी विभक्त हो गया। साधारण दर्शकों की दृष्टि में धर्म अनेक हैं। तत्त्व-द्रष्टाओं की दृष्टि में धर्म के अनेक शरीर होने पर भी उनकी आत्मा एक है। विनोबाजी उन्ही तत्त्व द्रष्टाओं में है जो धर्म की मौलिक एकता में कोई छिद्र नहीं देखते।

वार्तालाप के मध्य मैने कहा–'सर्व-धर्म-समन्वय के बारे में हमारे विचार पहले से ही स्पष्ट हैं। इस यात्रा मे वे और अधिक स्पष्ट हुए है। हमारी सारी यात्रा ही 'अणुव्रत-यात्रा' के नाम से हुई है। हमने सर्वत्र मानवता की बात को प्रमुखता दी है। हमारी दक्षिण भारत की यात्रा के तीन उद्देश्य मुख्य रूप से रहे है–मानवता का निर्माण, धर्म-समन्वय और धर्म-क्रान्ति। धर्म में भी आज क्रान्ति की अपेक्षा है। वह केवल रूढ़ न हो। रूढ़ होने से उसका मूल दब जाता है। धर्म अध्यात्मपरक होना चाहिए। आप भी तो कहते है कि यह धर्म का युग नही, अध्यात्म का युग है। हमारी यात्रा के तीनों उद्देश्यों का जनता ने सर्वत्र समर्थन किया। लोगो ने आश्चर्य किया कि एक धर्म-सम्प्रदाय के आचार्य होते हुए भी अपने सम्प्रदाय की बात न करके, मानवता की बात करते है।'

मुनि नथमलजी–'आचार्यश्री तो मुख्य रूप से कहते भी यही है कि मै पहले मनुष्य हूं, फिर धार्मिक हूं, फिर जैन हूं और फिर तेरापंथी हूं।'

'इससे धर्म-समन्वय का मार्ग प्रशस्त हुआ है। केरल जैसे प्रान्त के निवासियो ने भी, जहा कम्युनिस्ट अधिक रहे हैं, महसूस किया कि ऐसे धर्म की उन्हें भी अपेक्षा है।'

विनोबाजी–'सर्व-धर्म समन्वय की बात आपने कही है। जहां तक मैने शास्त्रों को पढ़ा है मुझे लगा कि महावीर ने मध्यस्थता की दृष्टि दी। उन्होने कहा कि एक पहलू से हर वस्तु सही नहीं होती। किसी के शब्द को तोड़ना नहीं चाहिए क्योकि एक अर्थ में वह भी सही हो सकता है। प्रमाण अलग है तो नय भी अलग है। महावीर की अहिंसा को श्रेष्ठ माना गया है पर वह पहले भी थी। वेदों में भी 'मित्रस्य चक्षुषा समीक्षामहे' कहा गया है। यह महावीर की अहिंसा का ही एक रूप है, पर तटस्थता और मध्यस्थ बुद्धि से देखने और सोचने के लिए उन्होंने जो कहा, वह उनकी विशेषता है। महावीर के पास कोई तत्त्व चर्चा के लिए आता तो वे उसकी श्रद्धा के अनुसार तदनुकूल बात कहते और समझा देते।अपना सिद्धान्त किसी पर लादते नहीं थे। मुझसे पूछा जाता है जैन कम क्यों है? मै कहता हूं कि कम होना बुद्धिमानी की बात है। शक्कर मीठा होता है। वह दूध में मिलाकर अपना अस्तित्व उसमें समाहित कर देता है। दूध में मिलने के बाद लोग कहते है कि दूध मीठा है। पर वास्तविक मिठास शक्कर का होता है। जैन लोग भी इसी प्रकार दूसरों में मिलकर उन्हें गुप-चुप मीठा बना देते है। महाराष्ट्र में पहले जब बच्चे को पढ़ने के लिए भेजा जाता था तो उन्हें सर्वप्रथम 'श्रीगणेशाय नम.' सिखाया जाता था। बच्चे जैन नहीं होते थे किन्तु अध्यापक जैन होता था अत. उसे दूसरा पाठ 'ओम् नमः सिद्धेम्यः' का पढ़ाया जाता था। आज भी ऐसा लिखा जाता है। दूसरो को प्रथम स्थान देकर अध्यापक ऐसी कुशलता से पढ़ाते थे कि उसके संस्कार गहरे हो जाते थे। आज जैन धर्म थोड़ा है किन्तु शक्कर की तरह अपना अस्तित्व दूसरों मे समाहित करके भी वह अमिट है। केवल संख्या बढ़ाना भूल है। वह तो गौण बात है।

सर्वोदय और अणुव्रत

सर्वोदय महात्मा गांधी के अहिंसक कार्यक्रमों का प्रतिनिधि संस्थान है। उसकी विचार-चेतना के मुख्य संवाहक विनोबाजी है। अणुव्रत आन्दोलन भी अहिंसक कार्यक्रमो का अभियान है। दोनों एक दिशागामी है। इसलिए बार-बार दोनों के साथ चलने का प्रश्न उपस्थित होता है।

इसका एक दूसरा कारण भी है। अनेक कार्यकर्त्ता ऐसे हैं, जो दोनों प्रवृत्तियों से सम्बद्ध है। वे दोनों को बहुत ही निकट देखना चाहते हैं। इसी भावना के संदर्भ में विनोबा जी ने कुछ बातें बहुत साफ-साफ कही। वे उपयोगी होने के साथ-साथ बहुत स्पष्ट है इसलिए मेरी दृष्टि मे उनका बहुत महत्त्व है।

विनोबाजी ने कहा–'कुछ लोग मुझसे पूछते हैं कि सर्वोदय और अणुव्रत के कार्यकर्त्ता परस्पर पूरक कैसे बन सकते हैं ? मैं सोचता हूं कि दोनों की अपनी अपनी मर्यादाएं हैं और दोनों ही अपनी-अपनी मर्यादाओं को समझें। उन्हे समझने में सम्यक्त्व होना चाहिए। अपनी-अपनी मर्यादाओं में रहते हुए दोनों को एक दूसरे से मदद मिले, यही संतोष का विषय है। सवोदय वाले यह चाहें कि अणुव्रत वाले ग्रामदान का कार्य करे अथवा उसके फॉर्म भरवाएं तो वह गलत होगा। मै उसे ठीक नहीं मानता। सर्वोदय वालों की इतनी अपेक्षा होनी चाहिए कि अणुव्रत वाले ग्रामदान का विचार जनता को समझाने का प्रयत्न करें। अणुव्रत वालों को भी यह अपेक्षा नहीं होनी चाहिए कि सर्वोदय वाले अणुव्रत के प्रचार का काम करे। उनकी अपेक्षा तो इतनी ही होनी चाहिए कि सर्वोदय वाले अणुव्रत का आचरण करें। पूरकता की न्यूनतम मर्यादा यही है कि अणुव्रत वालों को सर्वोदय वालों द्वारा अणुव्रत के आचरण से संतोष होना चाहिए।'

हमारा वार्तालाप बहुत लम्बा था। उसके कुछेक प्रसंग प्रस्तुत किए है। वार्ता से दोनों पार्श्वों में संतोष था। तृप्ति मुझे भी नहीं हुई और उनको भी नही हुई फिर न जाने कब मिलेंगे, इस भावना ने वार्ता को बहुमुखी आयाम दे दिया। मै देखता हूं कि हमारी वार्ता के प्रसंगों में विनोबा जी का अन्तस्तल निर्मल धारा के रूप में अभिव्यक्त हुआ है।

जीवन-मूल्य

जीवन : एक कला

१. मनुष्य जीवन सरस है, नीरस भी । सुख है, दु.ख भी । सब कुछ है, कुछ भी नहीं है ।

२. जीवन एक कला है–नीरस को सरस, दुःख को सुख, कुछ भी नहीं को सब कुछ बनाने वाला कलाकार है ।

३. कला गूढ़ की अभिव्यक्ति है– गूढ़ को अभिव्यक्त करने वाला कलाकार है, वह गूढ़ से भी गूढ़ है ।

४. अति गूढ़ को समझने के लिए पूर्व तैयारी चाहिए । अति स्पष्ट से अभिलषित विकास नही होता ।

५. इन दोनो से परे का मार्ग 'व्रत' है । वह जीवन की कला है । असयम के घोर अंधकार मे संयम की अर्द्ध रेखाएं भी पथ निश्चित बता देती है।

६. घोर हिंसा और सूक्ष्म अहिसा के बीच का जो मार्ग है वही बहुतों के लिए शक्य है ।

७. अपरिमित संग्रह और अपरिग्रह के वीच का जो मार्ग है वही वहुतों के लिए है।

८ युद्ध और संघर्षमय दुनिया मे जीने वाले के लिए अहिंसा और अपरिग्रह की लौ न जल सकें, ऐसी बात नही है ।

९. अहिंसक होना अतिम श्रेणी की वीरता है । हिंसक बने रहना पहली श्रेणी की कमजोरी है ।

१०. भय से भय बढ़ता है, घृणा से घृणा । क्रूरता का प्रतिफल क्रूरता और विरोध का प्रतिफल विरोध है ।

११ हिसा के प्रति हिसा का सिद्धान्त फलित हो रहा है । भयाकुल मनुष्य उन्मुक्त आकाश मे सो नही सकता । शान्ति का प्रकाश अभय के सान्निध्य मे मिलता है।

१२ मन और आत्मा को बेचकर शरीर की परिचर्या करने वाले लोग सुख के सामने शान्ति को आंखो से ओझल कर देते है । सुख शारीरिक स्रोतों से उत्पन्न अनुभूति है । शान्ति का प्रतिष्ठान मन और आत्मा है ।

१३. साधारण लोग शान्ति के लिए सुख को नहीं ठुकरा सकते, किन्तु अशान्ति पैदा करने वाले सुख से बच सकते हैं ।

१४. अशान्ति दुःख का कारण है, फिर भी सुख के लिए अशान्ति को मोल लेने में मनुष्य नहीं सकुचाता। अन्त में परिणाम दुःख ही होता है।

१५. शान्ति का मूल्य सुख से बहुत अधिक है। यही सही समझ है। सुख के साधन पदार्थ, उनका संग्रह और भोग है। शान्ति का साधन संयम या त्याग है।

१६. संग्रह और अशान्ति का उद्‌गम-बिन्दु एक है। संग्रह के बिन्दु इधर रेखा बनाते चलते हैं तो उधर अशान्ति भी समानान्तर रेखा के रूप में बढ़ती जाती है।

१७. संग्रह की भूख सबको है, अशान्ति को कोई नहीं चाहता। मन को दावानल में डाले और वह जले भी नहीं, यह कैसे होगा ?

१८. युद्ध परिग्रह के लिए होते हैं, शस्त्रास्त्र भी उसी के लिए बनते हैं।

१९. अधिकारों के उपार्जन में क्रूरता बरतनी पड़ती है, उनकी सुरक्षा के लिए और भी अधिक क्रूर होना होता है। अधिकार-दान या धन-दान क्रूरता का आवरण है।

२०. शोषण का पोषण करने वाले दानियों की अपेक्षा कुछ न देने वाला आदमी बहुत श्रेष्ठ हैं। शोषण न करने वाला स्वयं धन्य है चाहे वह एक कौड़ी भी न दे।

२१. शोषण का द्वार खुला रखकर दान करने वाला, हजारों को लूटकर कुछ व्यक्तियों को देने वाला कभी धन्य नहीं हो सकता।

२२. अशान्ति की जड़ परिग्रह-विस्तार या अधिकार-विस्तार की भावना है। दुःख की बड़ी जड़ अशान्ति है। इसीलिए तो सुख-संवर्द्धन के हजारों वैज्ञानिक उपकरणों के सुलभ होने पर भी सुख दुर्लभ होता जा रहा है।

२३. सुख के बाहरी उपादानों को बढ़ाने की दिशा में अणु-युग का प्रवर्तन हुआ। इसमें भयंकरता के दर्शन होने लगे है।

२४. अणु बुरा नहीं है, भयंकर भी नहीं है। भयंकरता मनुष्य में है।

२५. भय से भय आता है अभय से अभय। अपने मन से भय को निकाल दीजिये, अणु की भयंकरता नष्ट हो जाएगी। मन में भय बढ़ता रहा तो 'अणु' और अधिक भयंकर बन जाएगा।

२६. अणुव्रत संग्रह की प्रवृत्ति को मर्यादा में बांधता है। इससे अधिकार और इच्छाएं सिमटकर अपने क्षेत्र में आ जाती हैं। अभय का मार्ग प्रशस्त हो जाता है। अणु-बमों को निरस्त करने का यही मार्ग है।

स्वतन्त्रता : एक सार्थक परिवेश

उस समय भारत विदेशी दासता भोग रहा था। पराधीनता के शिकंजों से उसकी आत्मा उत्पीड़ित हो रही थी। विवशता की काली छाया उसे संत्रस्त कर रही थी। परोपजीविता की कारा में उसकी सांसें घुट रही थीं। उसके पास सब-कुछ था, पर स्वतन्त्र चिन्तन का अधिकार नहीं था। परम्परावादिता से ऊपर उठकर सोचने और काम करने की क्षमता उसे प्राप्त थी, पर वैसा करने की अनुमति नही थी। अन्तर्द्वन्द्वों से मन बोझिल रहता था, पर बोझ उतारने का कोई मार्ग उपलब्ध नही हुआ। इस बेबसी से कुछ व्यक्तियों की स्वतन्त्र चेतना आहत हुई। उन्होंने सकल्प किया–हमे अपने देश को स्वतन्त्र बनाना है, हर कीमत पर बनाना है। प्राण निछावर करके भी बनाना है। उन स्वतन्त्रता सैनानियों में एक व्यक्ति था लोकमान्य बालगंगाधर तिलक। उन्होंने एक नारा दिया– 'स्वतन्त्रता हमारा जन्मसिद्ध अधिकार है।' राज्यसत्ता को अपने नियंत्रण में लेकर जो व्यक्ति हम पर हावी हो रहे है, उन्हे सत्ता के नशे से बचाना होगा। कुछ लोगों को यह बात बहुत अटपटी लगी। वे अपने वैयक्तिक परिवेश को देख रहे थे। राष्ट्रीय चेतना का तत्त्व उनकी समझ में नही आया। प्रबुद्ध वर्ग को यह नारा बड़ा प्रिय लगा। पराधीनता के विरोध में एक सशक्त आवाज उठी। संघर्ष और यातना के क्षण आए। दमनचक्र चला। देश में हाहाकार मच गया। अहिंसक चेतना की लौ जली। उसी के द्वारा भारत एक स्वतन्त्र राष्ट्र के अधिकारों से सम्पन्न हुआ।

पिछले दिनों लोकमान्य तिलक का यह वाक्य 'स्वतन्त्रता हमारा जन्मसिद्ध अधिकार है' मेरे मस्तिष्क में घूम रहा था। सहसा मुझे याद आया, आज से ढाई हजार वर्ष पूर्व भगवान् महावीर ने कहा था– स्वतन्त्रता प्राणी का स्वभावसिद्ध अधिकार है। नैसर्गिक रूप से प्रत्येक प्राणी के स्वतन्त्र अस्तित्व की स्वीकृति सम्पूर्ण जीव जगत् को स्वतन्त्रता का अधिकार देती है। मनुष्य को जीने के लिए श्वास की जितनी अपेक्षा है, एक समाज के लिए पारस्परिक विश्वास की जितनी अपेक्षा है, उससे भी अधिक आवश्यक है एक राष्ट्र की स्वतन्त्र चेतना का विकास। परतन्त्रता

एक प्रकार की विकृति है। विकृत वातावरण में व्यक्ति की सासें घुटनें लगती है, उन क्षणों में जनतन्त्रीय चेतना के जागरण की घंटी बजती है। व्यक्ति सोए से जाग उठता है। अपने असामान्य प्रयत्नों के द्वारा वह परतंत्रता की शृंखला को अस्वीकृत कर देता है। इससे एक नये युग का प्रारम्भ होता है और युगांतर चेतना की जिजीविषा व्यक्ति को अकल्पित आनन्द से भर देती है–ऐसा आनन्द जो पराधीनता की परिधि में कभी प्रवेश ही नही पा सकता।

स्वतन्त्रता की स्वीकृति का एक स्वतन्त्र मूल्य है। इससे अनियामकता नामक तत्त्व परतन्त्र हो जाता है और आन्तरिक चेतना या विवेक का परिस्फुरण होता है। स्वतन्त्रता से प्रत्येक नागरिक को समान अवसर उपलब्ध होते है। देश की राज्यसत्ता का दायित्त्व ओढ़ने के लिए प्रत्येक नागरिक को समान अवसर उपलब्ध रहता है। अपनी योग्यता और क्षमता के द्वारा वह जनता का विश्वास प्राप्त करता है। जनमत उसे संसद में जाने का अवसर देता है। वहां उसके मस्तिष्क पर सत्ता की नुकीली कीलों वाला मुकुट रखा जाता है। जब तक उस मुकुट के लिए प्रतिद्वंद्विता का भाव जागृत नही होता, व्यक्ति जैसे-तैसे अपना काम चला लेता है। जिस समय अनेक व्यक्ति अपनी योग्यता प्रमाणित करते है, उनमें प्रतिस्पर्धा बढ़ती है। स्वतन्त्रता-प्राप्ति का आनन्द कम हो जाता है और व्यक्तिगत पद, प्रतिष्ठा, स्वार्थ आदि का भ्रमजाल व्यक्ति को उलझा लेता है। मेरे अभिमत से स्वतन्त्रता को उपलब्ध करने का सबसे बड़ा लाभ है अवसर का सदुपयोग करना। व्यक्तिगत और सामूहिक रूप से पनपने वाले दोषों का अपहार किए बिना स्वतन्त्रता में सुख की अनुभूति नही हो सकती।

वर्तमान परिस्थितियों के व्यापक संदर्भ कुछ व्यक्तियों को निराशावादी बना रहे है। उनका चिन्तन है– इससे तो पहले ही अच्छे थे। स्वतन्त्रता-प्राप्ति के बाद महंगाई बढ़ी है, बेरोजगारी बढ़ी है, आवश्यक उपभोग्य पदार्थो का अभाव हो रहा है, देश का अर्थतन्त्र डगमगा गया है, आदि-आदि। एक प्रकार से यह चिन्तन की संकीर्णता है। देश के सामने आज जो समस्याएं है, अप्रत्याशित नहीं है। पहले से ही यह ज्ञान था कि अमुक प्रकार की परिस्थितियां उत्पन्न होने वाली है। भारत ही क्यो, हर विकासशील देश की स्थिति ऐसी ही है। इन समस्याओं के सामने घुटने टेककर जनतन्त्र की नीति को असफल घोषित करना, अपने आपको स्वतन्त्र चेतना के लिए अयोग्य घोषित करना है।

दूसरों की अधीनता में अपने अस्तित्व को सुरक्षित मानने वाले यह भूल जाते हैं कि वास्तविक सुरक्षा का आश्वासन स्वतन्त्र चेतना ही दे सकती है।

जंगल में स्वतंत्र विहार करते हुए एक पक्षी को सम्राट् के पिंजरे मे वन्दी

वना लिया गया। रहने के लिए सोने का पिंजरा, खाने के लिए मीठे फल और मेवा, पीने के लिए मधुर शीतल जल। कुल मिलाकर सारी सुविधाएं वहां उपलब्ध थी; पर पक्षी का मन नही लगा। पिंजरे के बन्धन से मुक्त होने के लिए वह तड़पता रहा, पर मुक्त नहीं हो सका।

एक दिन पक्षी ने एक फकीर का गीत सुना। वह गा रहा था–मुक्ति का एक मात्र मार्ग है सत्य की अभिव्यक्ति। संसार मे सारभूत तत्त्व कोई है तो सत्य है। अनेक व्यक्तियो ने उस गीत की धुनों को सुना पर किसी का ध्यान केन्द्रित नही हुआ। पक्षी ने उसको पकड़ लिया। अब वह अपनी मुक्ति के लिए सत्य का प्रयोग करने के लिए आतुर हो उठा।

सम्राट अपने सभासदों के साथ मन्त्रणा कर रहे थे। किसी पड़ोसी देश को पराजित करने के लिए उन्होंने योजना बनाई। उसी समय उसका राजदूत वहा पहुंचा। औपचारिक वार्ता मे उस देश के साथ मैत्री-सम्बन्ध स्थापित करने की चर्चा चली। पक्षी सब कुछ सुन रहा था। उसने अवसर देखा और पूर्व-निर्धारित योजना की सारी बात कह दी। आवृत सत्य को अभिव्यक्त कर दिया। यह सुनकर राजदूत स्तब्ध हो गया। सम्राट् उत्तेजित हुआ। उसने आदेश दिया– 'इस पक्षी में थोड़ी भी समझदारी नही है। कितनी मनगढ़न्त बात करता है। इसे पास मे रखने से अनर्थ हो जाएगा। किसी सुदूर जंगल में ले जाकर छोड़ दो इसको। सेवको ने सम्राट की आज्ञा का पालन किया। वे लोग इतनी सुख-सुविधाओं से वंचित करने वाले पक्षी के भाग्य को दोषी ठहरा रहे थे। पक्षी खुश हो रहा था। विस्तृत उन्मुक्त गगन की गोद में उड़ान भरकर उसने अतिरिक्त आत्मतोष का अनुभव किया। सत्य से मुक्ति की उपलब्धि में उसकी आस्था असदिग्ध हो गयी।

सम्राट् के महलों मे पिजरे की परिधि मे उस पक्षी की सुरक्षा की पूरी व्यवस्था थी किन्तु स्वतन्त्रता नही थी। जंगल मे वह चारों ओर खतरो से घिरा था– शिकारी का भय, बाज पक्षी का भय, पेट भरने की चिन्ता, आंधी-पानी मे सुरक्षा की चिन्ता। पक्षी में घबराहट नही थी। निराशा नहीं थी। वह उन परिस्थितियो से जूझता हुआ एक प्रकार की दिव्यता का अनुभव कर रहा था। भारतवर्ष भी स्वतन्त्र होने के बाद कुछ खतरों से घिर गया है। कुछ विषम परिस्थितियों से आक्रान्त हो गया है। क्या इन समस्याओ को समाहित करने के लिए भारतीय आत्मा परतन्त्र होना स्वीकार करेगी ? परतन्त्रता की स्वीकृति अपने अस्तित्व की अस्वीकृति है। इस अस्वीकृति से कुछ नयी समस्याएं उभरकर सामने आएंगी। इसलिए यह समय समस्याओं से पलायन करने का नहीं, उनका मुकाबला करने का है। मुझे प्रतीत हो रहा है कि आज स्वतन्त्रता की प्राप्ति लक्ष्यहीन हो गयी है। जिस पवित्र उद्देश्य से स्वतन्त्रता

एक प्रकार की विकृति है । विकृत वातावरण में व्यक्ति की सासें घुटनें लगती है, उन क्षणों में जनतन्त्रीय चेतना के जागरण की घंटी बजती है । व्यक्ति सोए से जाग उठता है । अपने असामान्य प्रयत्नों के द्वारा वह परतंत्रता की शृंखला को अस्वीकृत कर देता है । इससे एक नये युग का प्रारम्भ होता है और युगांतर चेतना की जिजीविषा व्यक्ति को अकल्पित आनन्द से भर देती है–ऐसा आनन्द जो पराधीनता की परिधि मे कभी प्रवेश ही नहीं पा सकता ।

स्वतन्त्रता की स्वीकृति का एक स्वतन्त्र मूल्य है । इससे अनियामकता नामक तत्त्व परतन्त्र हो जाता है और आन्तरिक चेतना या विवेक का परिस्फुरण होता है। स्वतन्त्रता से प्रत्येक नागरिक को समान अवसर उपलब्ध होते हैं । देश की राज्यसत्ता का दायित्त्व ओढ़ने के लिए प्रत्येक नागरिक को समान अवसर उपलब्ध रहता है। अपनी योग्यता और क्षमता के द्वारा वह जनता का विश्वास प्राप्त करता है । जनमत उसे संसद में जाने का अवसर देता है । वहां उसके मस्तिष्क पर सत्ता की नुकीली कीलों वाला मुकुट रखा जाता है । जब तक उस मुकुट के लिए प्रतिद्वंद्विता का भाव जागृत नहीं होता, व्यक्ति जैसे-तैसे अपना काम चला लेता है । जिस समय अनेक व्यक्ति अपनी योग्यता प्रमाणित करते है, उनमें प्रतिस्पर्धा बढ़ती है । स्वतन्त्रता-प्राप्ति का आनन्द कम हो जाता है और व्यक्तिगत पद, प्रतिष्ठा, स्वार्थ आदि का भ्रमजाल व्यक्ति को उलझा लेता है । मेरे अभिमत से स्वतन्त्रता को उपलब्ध करने का सबसे बड़ा लाभ है अवसर का सदुपयोग करना । व्यक्तिगत और सामूहिक रूप से पनपने वाले दोषों का अपहार किए बिना स्वतन्त्रता में सुख की अनुभूति नही हो सकती ।

वर्तमान परिस्थितियों के व्यापक संदर्भ कुछ व्यक्तियों को निराशावादी बना रहे है । उनका चिन्तन है– इससे तो पहले ही अच्छे थे । स्वतन्त्रता-प्राप्ति के बाद महंगाई बढ़ी है, बेरोजगारी बढ़ी है, आवश्यक उपभोग्य पदार्थो का अभाव हो रहा है, देश का अर्थतन्त्र डगमगा गया है, आदि-आदि । एक प्रकार से यह चिन्तन की संकीर्णता है । देश के सामने आज जो समस्याएं है, अप्रत्याशित नहीं है । पहले से ही यह ज्ञान था कि अमुक प्रकार की परिस्थितियां उत्पन्न होने वाली है । भारत ही क्यों, हर विकासशील देश की स्थिति ऐसी ही है । इन समस्याओं के सामने घुटने टेककर जनतन्त्र की नीति को असफल घोषित करना, अपने आपको स्वतन्त्र चेतना के लिए अयोग्य घोषित करना है ।

दूसरो की अधीनता में अपने अस्तित्व को सुरक्षित मानने वाले यह भूल जाते हैं कि वास्तविक सुरक्षा का आश्वासन स्वतन्त्र चेतना ही दे सकती है ।

जंगल में स्वतन्त्र विहार करते हुए एक पक्षी को सम्राट् के पिंजरे मे वन्दी

बना लिया गया। रहने के लिए सोने का पिंजरा, खाने के लिए मीठे फल और मेवा, पीने के लिए मधुर शीतल जल। कुल मिलाकर सारी सुविधाएं वहां उपलब्ध थी; पर पक्षी का मन नही लगा। पिंजरे के बन्धन से मुक्त होने के लिए वह तड़पता रहा, पर मुक्त नही हो सका।

एक दिन पक्षी ने एक फकीर का गीत सुना। वह गा रहा था–मुक्ति का एक मात्र मार्ग है सत्य की अभिव्यक्ति। संसार में सारभूत तत्त्व कोई है तो सत्य है। अनेक व्यक्तियों ने उस गीत की धुनों को सुना पर किसी का ध्यान केन्द्रित नहीं हुआ। पक्षी ने उसको पकड़ लिया। अब वह अपनी मुक्ति के लिए सत्य का प्रयोग करने के लिए आतुर हो उठा।

सम्राट अपने सभासदों के साथ मन्त्रणा कर रहे थे। किसी पड़ोसी देश को पराजित करने के लिए उन्होंने योजना बनाई। उसी समय उसका राजदूत वहां पहुंचा। औपचारिक वार्ता में उस देश के साथ मैत्री-सम्बन्ध स्थापित करने की चर्चा चली। पक्षी सब कुछ सुन रहा था। उसने अवसर देखा और पूर्व-निर्धारित योजना की सारी बात कह दी। आवृत सत्य को अभिव्यक्त कर दिया। यह सुनकर राजदूत स्तब्ध हो गया। सम्राट् उत्तेजित हुआ। उसने आदेश दिया– 'इस पक्षी में थोड़ी भी समझदारी नही है। कितनी मनगढ़न्त बात करता है। इसे पास मे रखने से अनर्थ हो जाएगा। किसी सुदूर जगल में ले जाकर छोड़ दो इसको। सेवकों ने सम्राट की आज्ञा का पालन किया। वे लोग इतनी सुख-सुविधाओं से वंचित करने वाले पक्षी के भाग्य को दोषी ठहरा रहे थे। पक्षी खुश हो रहा था। विस्तृत उन्मुक्त गगन की गोद में उड़ान भरकर उसने अतिरिक्त आत्मतोष का अनुभव किया। सत्य से मुक्ति की उपलब्धि में उसकी आस्था असंदिग्ध हो गयी।

सम्राट् के महलों मे पिंजरे की परिधि मे उस पक्षी की सुरक्षा की पूरी व्यवस्था थी किन्तु स्वतन्त्रता नहीं थी। जंगल में वह चारो ओर खतरों से घिरा था– शिकारी का भय, बाज पक्षी का भय, पेट भरने की चिन्ता, आंधी-पानी मे सुरक्षा की चिन्ता। पक्षी मे घबराहट नहीं थी। निराशा नही थी। वह उन परिस्थितियों से जूझता हुआ एक प्रकार की दिव्यता का अनुभव कर रहा था। भारतवर्ष भी स्वतन्त्र होने के बाद कुछ खतरों से घिर गया है। कुछ विषम परिस्थितियों से आक्रान्त हो गया है। क्या इन समस्याओं को समाहित करने के लिए भारतीय आत्मा परतन्त्र होना स्वीकार करेगी ? परतन्त्रता की स्वीकृति अपने अस्तित्व की अस्वीकृति है। इस अस्वीकृति से कुछ नयी समस्याएं उभरकर सामने आएंगी। इसलिए यह समय समस्याओं से पलायन करने का नही, उनका मुकाबला करने का है। मुझे प्रतीत हो रहा है कि आज स्वतन्त्रता की प्राप्ति लक्ष्यहीन हो गयी है। जिस पवित्र उद्देश्य से स्वतंत्रता

प्राप्त की गयी, वह विस्मृत हो गया। अव शेष रही है एक-दूसरे की आलोचना, दोषारोपण, निराशा, असन्तोष और प्रवाहपातिता। उन दुर्बलताओं के घेरे को तोड़कर अब दृढ़ संकल्प और तीव्र प्रयत्न से काम करने की अपेक्षा है।

भगवान् महावीर द्वारा प्रस्थापित मूल्य वर्तमान विषम परिस्थितियों के लिए मूल्यवान समाधान है। उन्होंने जीवन मे संयम, नैतिकता, प्रामाणिकता आदि मूल्यों को महत्त्व दिया। इन मूल्यों की विस्मृति शोषण, संग्रह और भ्रष्टाचार को प्रोत्साहन दे रही है।जब तक देश में ये तत्त्व सक्रिय रहेंगे, मानसिक दासता के बन्धन नहीं टूट सकेंगे। स्वतन्त्रता की रजत-जयन्ती मनाने के वाद भी देश में खुशहाली नहीं है। इसका सबसे बड़ा कारण आत्मसंयम और आत्मानुशासन का अभाव है। अन्य अनेक क्षेत्रो में विकास होने पर नैतिक मूल्यों का ह्रास वर्तमान समस्याओ के लिए सबसे अधिक उत्तरदायी है। अब भी समय है, देश के नायक और नागरिक कोई मिला-जुला प्रयत्न करें। नैतिक मूल्यों का पुनर्मूल्यांकन करें। भ्रष्टाचार के विरोध में सशक्त आवाज उठाएं और उन मूल्यों को लागू करने की पहल अपने से करे। देश का हर व्यक्ति अपनी बुराइयो, दुर्बलताओ और भूलो से मुक्त होने का मार्ग अपनाए। एक स्वस्थ और स्वतन्त्र चेतना के धरातल पर जीवन का विकास वास्तविक स्वतन्त्रता की सही अनुभूति दे सकता है। अब लक्ष्यहीनता की दिशा मे प्रवाहित चेतना को बाह्य और आभ्यतर बन्धनों की मुक्ति के लिए मोड़ना है। बन्धन-मुक्ति का यह अभिक्रम उत्तरोत्तर गतिशील होता हुआ स्वतन्त्रता को एक सार्थक परिवेश दे सकता है। अणुव्रत इसी तथ्य की ओर जन-जन का ध्यान सतत आकर्षित करता रहा है।

आध्यात्मिकता एवं राष्ट्रीय चरित्र का निर्माण

सत्य के दो प्रकार होते है— शाश्वत और सामयिक। सामयिक सत्य परिवर्तनशील होते है, इसलिए वे बदलते रहते है। उनका मूल्य वर्तमान में होता है, किन्तु भावी उनसे प्रतिवद्ध नही होता। शाश्वत सत्य त्रैकालिक होते है। अतीत, वर्तमान और भविष्य तीनो काल उस सत्य को अपनी स्वीकृति देते है। आध्यात्मिकता एक ऐसा ही सत्य है, जो शाश्वत है, त्रैकालिक है, जीवन्त है और मानव संस्कृति का आधार है। यह जीवन की ज्योति है, आलम्वन है और है आत्मशक्ति की प्रशस्त दिशा। इसलिए अध्यात्म को समझना और उसे जीवन के धरातल पर अवतरित करना बहुत महत्त्वपूर्ण है ।

अध्यात्म क्यों ?

किसी भी शक्ति का मूल्य उसके उपयोग के आधार पर होता है। उपयोगिता के अभाव मे शक्ति का अक्षय भंडार भी अकिचित्कर रहता है। अध्यात्म की मूल्यवत्ता का हेतु है समस्या-सकुल लोकजीवन। समस्याएं हर युग मे होती है। जिस समय इनका प्रभाव अधिक तीव्र होता है, समाधान पाने की व्याकुलता बढ़ती जाती है। समाधान के लिए जितना प्रयत्न होता है, उलझनों का विस्तार उतनी ही प्रबलता से होता है। क्योकि समस्या का मूलभूत समाधान है अध्यात्म। जब तक मूल समाधान पकड़ मे नही आता है, तब तक इधर-उधर हाथ-पांव मारने से मिल ही क्या सकता है ? मेरा यह दृढ़ विश्वास है कि अध्यात्म वेतना का जागरण हुए बिना समस्या-समाधान के हजारों प्रयत्न हजारो वर्षो मे भी सफल नही होगे ।

अध्यात्म क्या देता है ?

मनुष्य का सहज स्वभाव है कि वह हर परिस्थिति को अपने अनुकूल बनाना चाहता है। प्रयत्न फलते है तो कुछ परिस्थितियां अनुकूल हो जाती हैं। किन्तु यह न तो कभी हुआ है और न होने का है कि सब परिस्थितियां मनुष्य के अनुकूल

हो जाएं। इसलिए मनुष्य को प्रकृतिविजेता ही नही, सहिष्णु भी बनना होगा। बढ़ती हुई आकांक्षा-पूर्ति की दिशा से मुड़कर विराम की दिशा में पदन्यास करे, यह आज के युग की विशिष्ट अपेक्षा है। आकांक्षाओं की सीमा के साथ साध्य-साधन सम्बन्धी मिथ्या धारणाओं का बदलना भी बहुत जरूरी है। जीवन-यापन के साधन को साध्य मानकर चलने वाला व्यक्ति अपने जीवन की किसी भी विसगति को नही मिटा सकता। इसलिए साध्य को साध्य और साधन को साधन समझने का सम्यक् दृष्टिकोण निर्मित करने के लिए मनुष्य को अध्यात्म का आलम्बन लेना ही होगा। क्योकि अध्यात्म के अतिरिक्त यह दृष्टिकोण कही से भी नही मिल सकता।

अध्यात्म क्या है ?

अध्यात्म के सम्बन्ध मे लोगों की धारणाएं भिन्न-भिन्न है। एक धारणा के अनुसार अध्यात्म मोक्ष का साधन है, मुक्ति की प्रक्रिया है। किन्तु यह धारणा भी एकपक्षीय है। मेरे अपने अभिमत से अध्यात्म केवल जीवन-मुक्ति का पथ नही है। वह शांति का मार्ग है, जीवन जीने की कला है, जागरण की दिशा है, और है रूपान्तरण की सजीव प्रक्रिया अध्यात्म शब्द की गरिमा शाब्दिक व्याख्या से अभिव्यक्त नही हो सकती। फिर भी उसकी अभिव्यक्ति के लिए शाब्दिक परिवेष खोजना ही होगा। इस दृष्टि से अध्यात्म की पहचान है– शांति, सहिष्णुता, ऋजुता, मृदुता, दृष्टिकोण का सम्यक्त्व, अनाक्रमण, सहअस्तित्व, विरोधी विचार मे सामजस्य बिठाने की क्षमता, समता, अन्तहीन आकांक्षाओं का सीमांकन और उदात्त आचार। अध्यात्म की इस पहचान को और भी नये-नये रूप दिये जा सकते है। पर वास्तव मे अध्यात्म शाश्वत सुख और शांति का प्रशस्त पथ है, जिसकी खोज संसार के मानव मात्र को है।

राष्ट्रीय चरित्र

अध्यात्म का ही एक अंग है चरित्र। यद्यपि चरित्र व्यक्तिगत संपदा है किन्तु सामूहिक जीवन-पद्धति मे व्यक्तिगत चरित्र से भी अधिक मूल्य है राष्ट्रीय चरित्र का। राष्ट्रीय चरित्र-को अनेक प्रकार से परिभाषित किया जा सकता है। इसकी एक परिभाषा है– ऐसी कोई प्रवृत्ति नही करना, जिससे राष्ट्र दूसरों की दृष्टि से गिरता हो। दूसरों के स्वत्व और अधिकार का हरण भी राष्ट्रीय चरित्र की कमी के कारण होता है। सादा, सात्विक और व्यसन-मुक्त जीवन, सामाजिक विषमता, अस्पृश्यता, अंधविश्वास और कुरूढ़ियों का बहिष्कार तथा नैतिक और प्रमाणिक जीवन

मे विश्वास राष्ट्रीय चरित्र का उत्कृष्ट उदाहरण है । सीमित शव्दो में कहा जाये तो अणुव्रत की आचार-संहिता राष्ट्रीय चरित्र के उन्नयन का सीधा मार्ग है ।

अणुव्रत

अणुव्रत के संवंध मे अधिक विस्तार से वताने की अपेक्षा भी नहीं है क्योकि भारत का पढ़ा-लिखा मनुष्य अणुव्रत के वारे में थोड़ा-वहुत अवश्य जानता है । पर कठिनाई जानने की नही, व्यवहार में लाने की है । ज्ञान और आचार की समन्विति के बिना चारित्रिक दुर्भिक्ष की समस्या समाहित नही हो सकती । राष्ट्रीय चरित्र के अभयुदय हेतु किसी-न-किसी रूप में अणुव्रत को स्थान देना होगा । जाति, वर्ण, रग, लिग, भाषा, प्रान्त और सम्प्रदाय की सीमाओ से मुक्त मानव धर्म अणुव्रत है। वह एक सुरक्षा-कवच है जो विषम-से विषम परिस्थिति मे भी मानवता को त्राण दे सकता है ।

मद्य-निषेध

नशावदी मे राष्ट्रीय चरित्र का एक महत्त्वपूर्ण अग है । देश के सभी धर्मो, धर्माचार्यो, समाज-सुधारको और चिन्तको ने मद्य-निषेध पर बल दिया है । महात्मा गाधी का भी यह स्वप्न था कि स्वतन्त्र भारत मे मद्य का कोई स्थान नही रहेगा। किन्तु आश्चर्य है कि इतना सब होने के बावजूद मदिरा का प्रचलन बढ़ता जा रहा है । सरकारी प्रयत्न भी इस समस्या को निरस्त नही कर सके है । और तब तक नही कर सकेगे, जब तक कानून हृदय-परिवर्तन की पृष्ठभूमि पर लागू नही होगे। हृदय-परिवर्तन का काम अणुव्रत के आधार पर सरलता से किया जा सकता है । मनुष्य-मनुष्य का हृदय-परिवर्तन हुए विना विश्वक्राति या समग्र क्राति की कल्पना भी साकार नही हो सकती । क्योकि समग्र क्राति का आधार है मानव -क्राति । अणुव्रत मानव-क्राति का मत्रदाता है । समाज, राष्ट्र और विश्व की क्राति इसी की फलश्रुति हो सकती है ।

मानव-क्राति का यह मिशन हमारी यात्रा का एक उपकरण है । वैसे पदयात्रा हमारा जीवन-व्रत है । हम जहा भी जाते है, विशेष उद्देश्य लेकर जाते है, इसलिए हमारी यात्रा की उपयोगिता बढ़ जाती है । मेरा विश्वास है कि प्रेस-प्रतिनिधि भी अध्यात्म और राष्ट्रीय चरित्रमूलक तथ्यो को जन-जीवन तक पहुचाने मे अपना पूरा योगदान देगे ।

राष्ट्रीय भावात्मक एकता

संविधान की दृष्टि से हिन्दुस्तान एक राष्ट्र है। फलत. राष्ट्र की सवैधानिक एकता सहज सिद्ध है। किन्तु कोई भी एकता अनेकता से मुक्त नही होती। हिन्दुस्तान जितना बड़ा है उतनी ही उसमे विविधताएं है–अनेक प्रान्त, अनेक भाषाएं, अनेक जातियां, अनेक सम्प्रदाय और अनेक वर्ग; सौदर्य के लिए अनेकता का होना जरूरी है और दृढ़ता के लिए एकता आवश्यक है। दोनों का सामंजस्य होने पर ही विकास का द्वार खुलता है।

समस्या के अध्ययन का दृष्टिकोण

मै भगवान् महावीर के अनेकान्त दर्शन में विश्वास करता हूं, इसलिए हर समस्या पर सापेक्ष दृष्टि से विचार करता हू। वृक्ष का मूल एक होता है, शाखाए अनेक। शाखाओं और प्रशाखाओं से उसका सौदर्य बढ़ता है, विस्तार बढ़ता है और क्षमता बढ़ती है। क्या मूलगत एकता के बिना यह सब हो सकता है। कभी नही ? मूलगत एकता होने पर भी क्या शाखाओं के बिना सौदर्य और विस्तार हो सकता है ? कभी नहीं। एकता और अनेकता दोनो का सामंजस्य ही इन सबको बढ़ाता है।

यदि हाथ में पांच अंगुलिया नही होती तो उसकी कितनी उपयोगिता होती, मै नहीं कह सकता ? मैं यह भी नहीं कह सकता कि पांच अंगुलियो के पीछे एक हाथ नही होता तो उनकी कितनी उपयोगिता होती ? दोनो मिले हुए है, इसलिए सफलता उनके पीछे घूम रही है। मनुष्य इस मर्म को जानता है कि एकता और अनेकता का समन्वय किए बिना विकास नहीं हो सकता। फिर भी जब स्वार्थ और अहं की दृष्टि प्रधान होती है तब आदमी एकता के प्रश्न को गौण कर देता है।

मौलिक समस्या और विसर्जन

जब राष्ट्र की जनता में अपनी रोटी पहले सेकने की मनोवृत्ति प्रबल हो जाती

है । और राष्ट्रीय नेता अपनी स्वार्थ-सिद्धि के लिए जनता में असंतोष उभार देते है तब राष्ट्रीय एकता समस्या बनकर राष्ट्र को घूरने लग जाती है । राष्ट्रीय एकता के लिए वे सर्वाधिक खतरनाक होते है, जो अपने विचारों, व्यवहारो, रुचियो, संस्कारो, मान्यताओ और कार्यक्रमो की पुष्टि के लिए दूसरों के विचारो, व्यवहारो, रुचियो, संस्कारो, मान्यताओं और कार्यक्रमों को कुचलने का प्रयत्न करते रहते है । इस खतरे से बचने के लिए ही मैंने विसर्जन का सूत्र राष्ट्र के सामने प्रस्तुत किया है । समाजवादी व्यवस्था लाने के लिए विसर्जन का प्रयोग अनिवार्य है । अहं का विसर्जन किए बिना मनुष्य में समानता की भावना विकसित नही हो सकती । स्वार्थ का विसर्जन किए बिना मनुष्य दूसरों के हितो मे बाधा डालने की प्रवृत्ति से अपने को बचा नही सकता तथा दूसरों की हित-चिता मे प्रवृत्त नही हो सकता ।

राष्ट्रीय एकता में बाधक तत्त्व

आर्थिक वैषम्य—आर्थिक और सामाजिक असमानता राष्ट्रीय एकता में बहुत बड़ी बाधा है । उस असमानता का मूल है अहं और स्वार्थ । इसलिए राष्ट्र की भावात्मक एकता के लिए अहं-विसर्जन और स्वार्थ-विसर्जन को मै बहुत महत्त्व देता हू ।

जातीय भेदभाव—जातीय असमानता भी राष्ट्रीय एकता का बहुत बड़ा विघ्न है । उसका मूल कारण अहं ही है । दूसरों से अपने को बड़ा मानने मे अहं पुष्ट होता है और आदमी अपने-आप में संतोष का अनुभव करता है । अहं का विसर्जन किए बिना जातीय भेद का अंत नहीं हो सकता ।

साम्प्रदायिक वैमनस्य—मनुष्य जन्मना मनुष्य का शत्रु नही है । एक पेड़ की दो शाखाए परस्पर विरोधी कैसे हो सकती है ? फिर भी यह कहा जाता है कि धर्म-सम्प्रदाय मनुष्यों में मैत्री स्थापित करने के लिए प्रचलित हुए है । उनमे जन्मना शत्रुता नही है, फिर मैत्री स्थापित करने की क्या आवश्यकता हुई ? मै फिर इस विश्वास को दोहराना चाहता हू कि मनुष्य-मनुष्य मे स्वभावत शत्रुता नही है । वह निहित स्वार्थ वाले लोगो द्वारा उत्पन्न की जाती है । उसे मिटाने का काम धर्म-सम्प्रदायो ने प्रारम्भ किया, किन्तु आगे चलकर वे स्वय निहित स्वार्थ वाले लोगो से घिर गए और मनुष्य को मनुष्य का शत्रु मानने के सिद्धान्त की पुष्टि में लग गए। इस चिन्तन के आधार पर मुझे लगता है कि साम्प्रदायिक समस्या का मूल भी अहं और स्वार्थ को छोड़कर अन्यत्र नही खोजा जा सकता । इसलिए साम्प्रदायिक वैमनस्य की समस्या को सुलझाने के लिए भी अहं और स्वार्थ का विसर्जन बहुत आवश्यक है ।

भाषाई समस्या–भाषा, जो दूसरों तक अपने विचारों को पहुंचाने का माध्यम है, को भी राष्ट्रीय एकता के सामने समस्या बनाकर खड़ा कर दिया जाता है। अपनी भाषा के प्रति आकर्षण होना अस्वाभाविक नही है और मातृभाषा व्यक्ति के बौद्धिक विकास का सशक्त माध्यम बन सकती है, इसमें कोई संदेह नही। पर हमें इस तथ्य को नहीं भुला देना चाहिए कि मातृभाषा के प्रति जितना हमारा आकर्षण होता है, उतना ही आकर्षण दूसरों को अपनी मातृभाषा के प्रति होता है। इसलिए भाषाई अभिनिवेश में फंसना कैसे तर्कसंगत हो सकता है?

हमारे पूर्वाचर्यो ने एकता की सर्वोत्तम कसौटी प्रस्तुत की थी। वह है–

"आत्मनः प्रतिकूलानि, परेषां न समाचरेत्।"

जो तुम्हारे लिए प्रतिकूल है, वह तुम दूसरों के लिए मत करो। हमारा भाषाई प्रेम उस सीमा तक ही होना चाहिए, जहा दूसरों के भाषाई प्रेम से उसकी टक्कर न हो। हर प्रान्त का अपना भाषाई प्रेम है। उनके पारस्परिक सम्पर्क के लिए एक जैसी भाषा भी अपेक्षित होती है, जो उनके प्रेम को अक्षुण्ण रखते हुए एक-दूसरे को मिला सके। वह राष्ट्रीय भाषा होती है। प्रान्तीय भाषा के प्रेम को इतना उभार देना कैसे उचित हो सकता है, जिससे प्रान्तीय और राष्ट्रीय भाषाओं मे परस्पर टकराहट पैदा हो जाए। राष्ट्रीय एकता के लिए इस विषय पर गंभीर चिंतन आवश्यक है।

एकता की स्थायी और सामयिक बाधा

भाषा की समस्या को मै सामयिक समस्या मानता हूं। इस समस्या को कभी-कभी उभार दिया जाता है और यह राष्ट्रीय एकता के लिए चुनौती जैसी बन जाती है। फिर भी इसमें स्थायित्व नही है। इसके आकर्षण की एक सीमा है। वह लम्बे समय तक जनता को आकृष्ट किए नही रख सकती।

आर्थिक और सामाजिक वैषम्य तथा जातीय और साम्प्रदायिक वैमनस्य एकता की स्थायी समस्याएं है। इनका समाधान हुए बिना राष्ट्रीय एकता का आधार मजबूत नही हो सकता। क्या हित-सिद्धि के भेद की भित्ति पर अभेद का प्रासाद खड़ा किया जा सकता है? क्या हीनता और उच्चता की ऊबड़-खाबड़ भूमि पर एकता के रथ को ले जाया जा सकता है? ऐसा कभी नही हो सकता। अनेकता की स्थायी समस्या मनुष्य ने अह और स्वार्थ के धरातल पर उत्पन्न की है। इनका सम्बन्ध मनुष्य की मूलभूत वृत्तियों– अह और स्वार्थ से है, इसलिए इनका आकर्षण स्थायी है। इन ग्रन्थियो को आध्यात्मिक चेतना के उन्नयन के बिना खोला नहीं जा सकता।

अध्यात्म या धर्म

धर्म और अध्यात्म में मै भेद डालना नही चाहता, किन्तु वर्तमान में धर्म क्रियाकाण्डो और साम्प्रदायिक आग्रहो का पर्यायवाची जैसा हो गया, इसलिए वर्तमान समस्या के संदर्भ में मै उसके स्थान पर अध्यात्म को अधिक पसन्द करता हूं। अध्यात्म व्यक्ति की आन्तरिक पवित्रता होती है और वह अहं तथा स्वार्थ के विसर्जन से ही फलित होती है, इसलिए परम्परा से मुक्त होती है। इस संदर्भ में मै अणुव्रत को राष्ट्रीय भावात्मक एकता का बहुत सबल आधार मानता हूं।

नैतिकता, प्रामाणिकता और सचाई की भावना जागने पर ही कोई नागरिक अपने राष्ट्र के प्रति सच्चा हो सकता है। अणुव्रत इसी भावना को जगाने का एक उपक्रम है।

अपने मे प्रामाणिकता की निष्ठा उत्पन्न किए बिना क्या कोई भी आदमी राष्ट्रीय एकता को सिंचन दे सकता है? मेरा मानना है कि नही दे सकता। जो लोग राष्ट्रीय एकता के विषय मे सोचते है, उन्हे समस्या के पत्तो तक नही, उसकी जड़ तक पहुचना चाहिए। अफीम के उन्माद से क्षणिक आराम मिल सकता है, किन्तु वह रोग का स्थायी इलाज नहीं है।

पुनर्विचार की अपेक्षा

अहं और स्वार्थ पर अकुश लगाने के दो तरीके है–कानून और आध्यात्मिक चेतना का जागरण। लोकतन्त्र और समाजवादी शासन पद्धति में अहं और स्वार्थ दोनों पर नियत्रण लागू करने का प्रयत्न है और वह अपनी सीमा मे सफल भी होता है। उसकी सफलता का आधार है राष्ट्रीय निष्ठा या राष्ट्र-प्रेम। हिन्दुस्तान की यह कठिनाई है कि उसके नागरिकों में अभी राष्ट्र-प्रेम का अपेक्षित विकास नहीं हुआ है। वैयक्तिक हित-चिंतन मे कमी नही हुई है। राष्ट्रीय एकता के विकास के लिए राष्ट्र-प्रेम का उदय बहुत मूल्यवान है। मै इससे भी अधिक मूल्य देता हू आध्यात्मिक चेतना के जागरण को। इसके लिए धार्मिक और सामाजिक दोनों मचो पर तीव्र प्रयत्न होना चाहिए।

राष्ट्रीय एकता की समस्या पर अनेक विचारकों ने चितन किया है। मै उनके चितन का मूल्य कम करना नही चाहता। केवल पुनर्विचार के लिए एक विनम्र सुझाव और जोड़ देना चाहता हूं कि राष्ट्रीय एकता के प्रयत्नो की सूची मे आध्यात्मिक सदर्भ के साथ विसर्जन को ओर जोड़ दिया जाए। इससे समाजवादी व्यवस्था और राष्ट्रीय एकता दोनो को बल मिलेगा।

यथा प्रजा तथा राजा

अक्सर एक प्रश्न मन मे उभरता है, क्या देश के राजनेताओ के लिए एक निश्चित योग्यता का निर्धारण नही होना चाहिए ? चिकित्सा-क्षेत्र मे आने वालो के लिए निश्चित परीक्षाएं उत्तीर्ण करना आवश्यक है। इजीनियर बनने या अध्यापक बनने के लिए भी निश्चित योग्यता चाहिए। छोटे-से-छोटे क्लर्क पद के लिए भी कुछ योग्यता का होना अनिवार्य है। किन्तु दु.खद स्थिति यह है कि देश की राजनीति में आने वालों के लिए न तो किसी भी योग्यता का निर्धारण है और न आवश्यक ही समझा जा रहा है। कई बार तो ऐसा अनुभव होता है कि जो अन्यान्य सभी क्षेत्रो मे अयोग्य सिद्ध हो जाता है, शायद राजनीति में आने की वही सबसे बड़ी योग्यता हो।

एक व्यंग्य कहीं पढ़ा था मैने। एक बार एक स्कूल में अध्यापको ने अपने छात्रों से पूछा—अपने जीवन मे तुम क्या बनना पसन्द करोगे ? एक छात्र ने कहा—मै एक वैज्ञानिक बनना चाहता हूं, इसीलिए मै एम० एस०-सी० करना पसन्द करूगा। दूसरे ने कहा—मै इंजीनियरिग के क्षेत्र में जाना पसन्द करूगा, क्योकि मैं एक कुशल इंजीनियर बनना चाहता हूं। इसी प्रकार सबने अपने-अपने मनपसन्द विषय बतलाए। फिर अध्यापक महोदय ने उस छात्र की ओर इशारा करते हुए पूछा, जो कक्षा मे सबसे अधिक शरारती व उद्दण्ड था। उस छात्र ने कहा—सर ! मेरा मन पढ़ने मे बिल्कुल नहीं लगता। आप स्वयं देख रहे है कि इसी कक्षा में मेरा तीसरा वर्ष चल रहा है। इस स्थिति मे मै अध्ययन मे आगे बढ़ा पाऊगा, यह सभव नही है। बिना अध्ययन किए मै वैज्ञानिक, डॉक्टर, इंजिनियर आदि तो बन नही सकता। हां, देश का नेता मै अवश्य बन सकता हूं। क्योकि नेता के लिए किसी भी योग्यता का कोई प्रमाण-पत्र भी जरूरी नहीं होता। फिर जिस योग्यता का प्रमाण-पत्र एक नेता को चाहिए, वे सारे गुण मेरे मे आप बचपन से देख ही रहे है। जहा भी उपद्रव या हड़ताल करवाना हो, किसी के विरोध मे आन्दोलन खड़ा करना हो, अपने

समर्थन में नारेबाजी करवाना हो, इस सब कार्यो मे मै सदा अगुआ रहा हूं। इसलिए मेरे जीवन का उद्देश्य एक नेता बनना ही है।

सही नेता कौन ?

आज के राजनैतिक चरित्र पर यह एक व्यंग्य ही नही, कटु सच्चाई भी है। ऐसे-ऐसे राजनेता देश की बागडोर सम्हाले हुए मिल जायेगे, जो अपने हस्ताक्षर भी बड़ी कठिनाई से कर पाते हैं। न किसी शैक्षणिक योग्यता की अपेक्षा है इस क्षेत्र मे और न किसी बौद्धिक अथवा शारीरिक योग्यता की ही, केवल जोड़-तोड़ की योग्यता चाहिए या फिर जातीय अथवा साम्प्रदायिक प्रमाणपत्र चाहिए। यही कारण है स्वतंत्रता-प्राप्ति के बाद भी जातिवाद, सम्प्रदायवाद, भाषावाद और प्रान्तवाद का जहर देश की रगों मे खून से भी अधिक मात्रा में प्रवाहित होने लगा है। क्योकि इन्ही के आधार पर संसद और विधान सभाओ के उम्मीदवारो का निर्णय होता है, इन्ही भावनाओं को उभारकर वोटो को अपनी-अपनी ओर खीचा जाता है, इन्ही के आधार पर मत्रि-परिषद मे प्रतिनिधित्व मिलता है। फिर हम आशा करे कि देश मे जातिवाद, भाषावाद, सम्प्रदायवाद नही पनपे, क्या यह दुराशा ही नही होगी ?

जब मैं राजनेताओ की योग्यता के निर्धारण की चर्चा करता हूं तो उसका सम्बन्ध केवल शैक्षणिक उपाधियां या बाहरी मानदण्डों से ही नही है। उसका सम्बन्ध आन्तरिक चरित्र से भी है। संसद में चुनकर आने वाले व्यक्ति के आन्तरिक चरित्र का मूल्यांकन होना भी अति आवश्यक है। उसका व्यक्तिगत जीवन शुद्ध और पवित्र हो, दुर्व्यसनों से मुक्त हो, निर्लोभी हो--राष्ट्रीय धन का उपयोग अपने लिए, अपने परिवार और सम्बन्धियो के लिए नही करने वाला हो, दल से ऊपर राष्ट्रीय हित जिसके लिए प्रमुख हो, राष्ट्र ही जिसके लिए सर्वस्व हो, वह सही अर्थो में नेता और देश को सर्वतोमुखी समृद्धि की ओर ले जाने वाला होता है। यह तभी सम्भव हो सकता है जब उसका अपना चरित्र उदात्त होगा, दृष्टि उदार होगी और चिन्तन राष्ट्र का व्यापक हित लिये हुए होगा।

प्रश्न हो सकता है, आज के राजनैतिक परिवेश में क्या यह सभव है ? मुझे इसमे कोई कठिनाई नही लगती। यदि इसमे कठिनाइया हो, तो भी उनको दूर किया जाना चाहिए। क्योकि राष्ट्र की यह एक अपरिहार्य आवश्यकता है। पर यह संभव तभी हो सकता है जब राजनैतिक दल और जनता दोनो इस दिशा मे सहकार करे। राजनैतिक दल अपने उम्मीदवारों का चयन जाति या सम्प्रदाय से ऊपर उठकर बाह्य-आन्तरिक चरित्र-सम्पन्नता के आधार पर करे। उनका उद्देश्य येन-केन-प्रकारेण चुनाव जीतना न होकर, देश को स्वस्थ एव स्वच्छ नेतृत्व प्रदान करना हो।

यथा राजा तथा प्रजा

जनता में इस दृष्टि से बहुत अधिक जिम्मेवारी आती है। किस प्रकार के व्यक्ति चुनकर आयें, यह जनता के निर्णय पर ही निर्भर करता है। आज 'यथा राजा तथा प्रजा' की उक्ति अपने में उतनी अर्थवान नहीं रह गई, जितनी वह एकतन्त्रीय राज्य-व्यवस्था में थी। जनता के प्रतिनिधियों को ही आज राज्य संचालन करना होता है और वे प्रतिनिधि कौन हों, इसका निर्णय भी जनता को ही करना होता है। इन स्थितियों में 'यथा प्रजा तथा राजा' जैसी प्रजा होगी वैसा ही राजा, नेता होगा। जनता यदि गलत एवं भ्रष्ट व्यक्तियों को संसद में चुनकर भेजती हो तो स्वच्छ प्रशासन की आशा करना व्यर्थ है। फिर नेताओं को कोसना भी अपने मे कोई माने नहीं रखता। इसलिए जनता को इस दिशा मे प्रबुद्ध होना जरूरी है।

जो जनता अपने बेटों को चंद चांदी के टुकड़ों में बेच देती हो, एक-दो बोतल शराब के बदले गलत-सही उम्मीदवारों की परख खो देती हो, सम्प्रदाय या जाति के उन्माद मे योग्य-अयोग्य की पहचान खो देती हो, वह जनता योग्य उम्मीदवार को संसद में कैसे भेज पाएगी ? लोकतन्त्र की नींव ही जनता के मतो पर टिकी होती है। वह मत ही यदि भ्रष्ट हो जाता है तो प्रशासन तो भ्रष्ट होगा ही। आज जो राजनीति में भ्रष्टाचार पनप रहा है, उसके पीछे प्रमुख कारण चुनावो मे फैल रही भ्रष्टता ही है। अतः वोट की स्वच्छता पर ध्यान देना अत्यन्त आवश्यक है। इसकी सम्पूर्ण जिम्मेवारी जनता पर है। कोई भी राजनैतिक दल अपने मतदाताओ को चाहे किसी भी गलत उपाय से आकृष्ट करना चाहे, यदि देश की जनता उसमे सहभागी नहीं बनती है तो भ्रष्टाचार आगे नही फैल पाएगा, वही पर निरुद्ध हो जाएगा। जनता के सहकार से ही भ्रष्टाचार आगे फैलता है।

राष्ट्र गौण, स्वार्थ प्रमुख

योग्य उम्मीदवारों को छोड़कर गलत एवं भ्रष्ट लोगों के चुनाव मे प्रमुख कारण व्यक्ति का अपना स्वार्थ होता है। वह सोचता है कि योग्य व्यक्तियो के निर्वाचन से मुझे गलत ढंग से कोटा नही मिल पाएगा, मेरे गलत आचरणो पर पर्दा नही डाला जा सकेगा, मेरी जाति या सम्प्रदाय को बढ़ावा नही मिल सकेगा, इत्यादि अनेक स्वार्थसंकुल उद्देश्यों के कारण भी योग्य उम्मीदवारों की उपेक्षा देखी जाती है। विघटन की ओर बढ़ रहे राष्ट्र की इस स्थिति की पर गम्भीरता से ध्यान दिया जाना जरूरी है। आज स्थिति यह है कि जाति प्रमुख है, राष्ट्र गौण है। सम्प्रदाय प्रमुख है, राष्ट्र उपेक्षित है। भाषा और प्रान्त प्रमुख है, राष्ट्र विमुख है। परिणामतः दिन-

प्रतिदिन राष्ट्र दुर्बल होता जा रहा है, जाति सम्प्रदाय, भाषा आदि सबल होते जा रहे है। एक समय था जब व्यक्ति धर्म के नाम पर गलत कार्य मे संलग्न होने में हिचकिचाता था। आज पश्चिम की हवा से धर्म के मूल्य लगभग टूट चुके है। राष्ट्रीय मूल्य स्थापित नहीं हो पाये है। धर्म और राष्ट्र दोनों ही आस्था के केन्द्र नहीं होने से व्यक्तिगत स्वार्थ प्रमुख बन गए हैं, जाति, धर्म, सम्प्रदाय और भाषा के प्रश्न गंभीर होते जा रहे है, उत्तर और दक्षिण के भेद की आवाजें सुनाई दे रही है। ये सब क्यों है ? केवल इसलिए कि राष्ट्र की भावात्मक एकता टूट रही है।

जनता का चरित्र उज्ज्वल हो

इन सब समस्याओं का एक ही समाधान है, वह है कि जनता का चरित्र उज्ज्वल हो। इस दृष्टि से जनता का ध्यान कुछ बातों की ओर मै विशेष रूप से आकृष्ट करना चाहूंगा। मत-दान जितना स्वस्थ व शुद्ध होता है, लोकतन्त्र उतना ही उज्ज्वल होता है। मत-दान की शुद्धता के लिए आवश्यक है कि मत-दाता रुपये तथा अन्य प्रलोभन में आकर मत-दान नहीं करें। जाति, सम्प्रदाय के आधार पर नहीं, किन्तु चरित्र तथा गुणो के आधार पर मत-दान का निर्णय करें। चुनाव के समय मद्य एव मादक द्रव्यों के प्रचलन का प्रतिकार करे, अश्लील प्रचार व मिथ्या आक्षेप से बचें तथा कहीं पर भी अशान्ति या उपद्रव फैलाने का प्रयत्न नहीं करें। उम्मीदवारो के लिए आवश्यक है कि चुनाव में गलत साधनों से विजयी होने का प्रयत्न नही करें, दल-बदल को प्रोत्साहन न दें, सत्ता के लिए नैतिक मूल्यों की हत्या नही करे तथा राष्ट्र की भावात्मक एकता के लिए सदैव प्रयत्नशील रहें। राजनैतिक दलो के लिए यह आवश्यक है कि वे अपने उम्मीदवारों के चयन मे एक निश्चित मानदड अवश्य बनायें। उम्मीदवारो के चयन में योग्य व चरित्र सम्पन्न व्यक्तियो को ही प्रमुखता दें।

अनेक वर्षो पहले मैने अणुव्रत-आन्दोलन के मंच से समस्त राजनैतिक दलो के प्रमुख प्रतिनिधियों के मध्य एक चुनाव-आचार-संहिता प्रस्तुत की थी। मुझे हर्ष इस बात का हुआ कि सभी दलो ने सर्व-सम्मति से इसकी महत्ता को स्वीकार किया था। किन्तु मुझे यह कहने मे कोई संकोच नही है कि उसके महत्त्व को स्वीकार करते हुए भी किसी ने अपने चुनाव अभियान में इसके पालन की ओर ध्यान नही दिया। मै समझता हू कि अब यह एक अवसर भारतीय जनता के सामने है, जिसमे वह अपने उन्नत चरित्र का परिचय देकर देश के उज्ज्वल भविष्य में सहायक बन सकता है।

राष्ट्रीय चरित्र और स्वास्थ्य

जीवन-विकास की समग्रता शरीर, बुद्धि और मन की स्वतन्त्रता पर निर्भर है। शारीरिक स्वास्थ्य का मन पर प्रभाव पड़ता है और मानसिक स्वस्थता बुद्धि को प्रभावित करती है। 'स्वस्थे चित्ते बुद्धय. प्रस्फुरन्ति'– स्वस्थ चित्त में बुद्धि की स्फुरणा होती है, यह तथ्य मानसिक स्वास्थ्य के महत्त्व को व्यक्त करता है। शरीर और मन स्वस्थ है तो बौद्धिक विकास सहज फलित हो जाता है। वौद्धिक विकास की बाधाओ मे जिन तथ्यो का समावेश किया जाता है, उनमें से अधिक तथ्यों का सम्बन्ध मन से है। विश्वास का अतिरेक, अहं का विस्तार, हीन भावना, तनाव पूर्ण वातावरण, सकोचशील मनोवृत्ति, बाह्य आकर्षण, मानसिक कुंठा आदि ऐसे कारण है जो बुद्धि की स्फुरणा मे बाधक है। इस दृष्टि से शरीर के साथ मन को भी स्वस्थ रखना जरूरी है।

स्वास्थ्य के सम्बन्ध मे भिन्न-भिन्न लोगो की धारणाएं भिन्न-भिन्न है। उन धारणाओ मे एक धारणा है–

दिनचर्यां निशाचर्यामृतुचर्या यथोदिताम्।
आचरन् स्वस्थः पुरुषः सदा तिष्ठति नान्यथा॥

जो व्यक्ति शरीरशास्त्र मे निर्दिष्ट विधि से दिनचर्या, रात्रिचर्या और ऋतुचर्या का पालन करता है, वह सदा स्वस्थ रहता है। इनसे विपरीत आचरण करने वाला व्यक्ति स्वस्थ नही हो सकता।

जिस व्यक्ति का शयन और जागरण नियमित नहीं होता, भोजन सतुलित नही होता, पर्याप्त शारीरिक श्रम नहीं होता, खुली हवा में भ्रमण नही होता, आवेश पर नियंत्रण नही होता, मन प्रसन्न नही होता और जिसे उचित नीद नही आती वह कभी स्वस्थ नही रह सकता।

अस्वस्थ व्यक्ति का स्वभाव चिड़चिड़ा हो जाता है। वह थोड़ी भी प्रतिकूल परिस्थिति मे अधीर हो जाता है या उत्तेजित हो जाता है। वह समय पर उचित निर्णय नही ले सकता और शरीर तथा मन दोनों से दुर्बल हो जाता है। उसके

चेहरे का ओज तथा तेज क्षीण होने लगता है। वह पग-पग पर निराशा से आक्रात रहता है और जीने से ऊब जाता है।

स्वस्थ रहने के लिए शरीर-तंत्र और मानस तंत्र दोनों का ध्यान रखना जरूरी है। मानस-तन्त्र की स्वस्थता के लिए सत्संकल्प का प्रयोग बहुत लाभप्रद होता है। जो व्यक्ति नियमित रूप से निष्ठापूर्वक संकल्प करता है–'स्वस्थोऽहम्', 'ज्योतिर्मयोऽहम्', 'वीर्यवानहम्', निरामयोऽहम्', वह अपने चारों ओर स्वास्थ्य का वलय निर्मित कर लेता है। घनीभूत सकल्प की स्थिति मे वह वलय सुरक्षा-कवच का काम करता है। रोगाणु उस वलय तक पहुचकर प्रतिहत हो जाते है। भयंकर संक्रमक रोगियों के वीच में रहकर भी वह व्यक्ति स्वस्थ रह सकता है।

स्वास्थ्य को निरूपित करते हुए प्राचीन आयुर्वेदाचार्यो ने लिखा है–

समदोपः समाग्निश्च, समधातुमलक्रियः।
प्रसन्नात्मेन्द्रियमनाः, स्वस्थ इत्यभिधीयते ॥

जिस व्यक्ति के वात, पित्त और कफ सम रहते है, जठराग्नि न मन्द होती है और न तीव्र होती है, धातु-निर्माण की क्रिया सम है और मलोत्सर्ग की क्रिया ठीक रहती है, जिसकी आत्मा, इन्द्रियां और मन प्रसन्न है, वह व्यक्ति स्वस्थ होता है।

सुश्रुत ने अस्वास्थ्य की चर्चा करते हुए व्याधियो के चार प्रकार बताये है–आगन्तुक, शरीरज, मानस और स्वाभाविक। बाहरी प्रहार, चोट आदि लगना आगन्तुक व्याधि है। वात, पित्त, कफ, रक्त आदि की विषमता से जो व्याधिया होती है वे शरीरज है। काम, क्रोध, लोभ, मोह आदि विकार-जन्य व्याधिया मानस है और स्वाभाविक व्याधि है भूख, प्यास, निद्रा आदि।

आगन्तुक व्याधि का सम्बन्ध प्रारम्भ से वात, पित्त आदि से नही होता, कितु आगे चलकर इनका भी प्रकोप हो जाता है। सामान्यत· वात, पित्त और कफ का प्रकोप ऋतु विशेष मे होता है, जैसे–वात का प्रकोप वर्षा ऋतु मे होता है, पित्त का प्रकोप शरद् ऋतु मे होता है औेर कफ का प्रकोप वसन्त ऋतु मे होता है। इनका शमन भी काल सापेक्ष माना गया है। शरद् मे वात का, वसन्त मे पित्त का और ग्रीष्म में कफ का प्रशमन होता है।

वात, पित्त और कफ–तीनो ही शरीर के लिए आवश्यक है, पर जब इनका अनुपात कम या अधिक हो जाता है तब ये शरीर पर गलत प्रभाव छोड़ते है। चिकित्साशास्त्रो मे इनकी आनुपातिक समता को स्वास्थ्य का आधार बताया गया है।

हर व्यक्ति स्वस्थ रहना चाहता है, पर वह स्वास्थ्य के नियमो का पालन नहीं

करता। इस स्थिति में स्वास्थ्य की कल्पना एक स्वप्न मात्र बनकर रह जाती है। वर्तमान युग में जैसे-जैसे बीमारियां बढ़ रही है, चिकित्सा के क्षेत्र में नये-नये प्रयोग हो रहे है। शल्य-चिकित्सा के आश्चर्यकारी परिणाम हमारे सामने हैं। यह सब ज्ञान-विज्ञान की प्रगति से ही संभव हो सका है। फिर भी इससे स्वास्थ्य की मूलभूत समस्या को स्थायी समाधान नहीं मिल पाया है; क्योकि एक बीमारी का उपशम अनेक नयी बीमारियों को जन्म देता है। ऐसी स्थिति में मनुष्य स्वास्थ्य के प्राकृतिक नियमों पर विशेष ध्यान दें, अपने आहार-विहार को संतुलित रखे और जीवन की हर प्रवृत्ति में सहज संयम का अभ्यास करे तो वह एक सीमा तक अस्वास्थ्य से बच सकता है।

अस्वस्थता केवल शारीरिक सुख की दृष्टि से ही चिन्त्य नहीं है, इससे अध्यात्म-विकास मे भी बाधा उपस्थित होती है। अध्यात्म के विशेष प्रयोग करने वाला व्यक्ति स्वस्थ शरीर के माध्यम से ही आगे बढ़ सका है। राष्ट्रीय चरित्र के अभ्युदय मे भी शरीर, मन और बुद्धि का स्वास्थ्य सहायक बनता है। इसलिए इस बिन्दु पर नयी शोध और नये प्रयोगो की अपेक्षा है।

सदाचार के मूल तत्त्व

'आचारः प्रथमो धर्मः–आचार प्रमुख धर्म है। उक्त वाक्य में आचार शब्द का प्रयोग श्रेष्ठ आचार के अर्थ मे है। इससे यह जाना जाता है कि आचार शब्द अपने आप में सदाचार का ही द्योतक है। फिर भी उसके साथ सत् शब्द का योग इस तथ्य को प्रमाणित करता है कि आचार के नाम पर कुछ गलत बातें भी पनप रही है। इसलिए प्रस्तुत सदर्भ में श्रेष्ठ आचार को सदाचार के नाम से ही अभिहित किया जा रहा है।

सदाचार एक व्यापक और सार्वभौम तत्त्व है। देशकाल की सीमाएं इसे न तो विभक्त कर सकती है और न इसकी मौलिकता को नकार सकती है। जिस प्रकार सूर्य का प्रकाश सबके लिए होता है, उसी प्रकार सदाचार के मूलभूत तत्त्व मानव मात्र के लिए उपयोगी होते है। कुछ व्यक्ति अपने राष्ट्र, कुल या परम्परागत आचार को विशेष महत्त्व देते है, किन्तु यह अपनेपन का व्यामोह है। जो कुछ मै कर रहा हू, वह सदाचार है, इस धारणा की अपेक्षा व्यक्ति को ऐसी धारणा सुदृढ़ करनी चाहिए कि जो सत् आचरण है, वह मेरे लिए करणीय है।

सदाचारी व्यक्ति नीतिनिष्ठ होता है। वह किसी भी स्थिति मे नीति के अतिक्रमण को अपनी स्वीकृति नही दे सकता। नीतिनिष्ठ व्यक्ति को परिभाषित करते हुए लिखा गया है–

अभयं मृदुता सत्यं आर्जवं करुणा धृतिः।
अनासक्तिः स्वावलम्बः स्वशासनं सहिष्णुता ॥
कर्तव्यनिष्ठता व्यक्तिगत- संग्रह- संयमः।
प्रामाणिकत्वं यस्मिन् स्युः नीतिमानुच्यते नरः ॥

–जिस व्यक्ति मे अभय, मृदुता, सत्य, सरलता, करुणा, धैर्य, कर्तव्यनिष्ठा, और व्यक्तिगत सग्रह का सयम और प्रामाणिकता होती है, वह नीतिमान कहलाता है।

अभय

जो व्यक्ति सत्य के प्रति समर्पित होता है, अन्याय का प्रतिकार करते समय भयभीत नही होता, अपनी भूल ज्ञात होने पर उसे स्वीकार करने मे सकोच नही करता और कठिन-से-कठिन परिस्थिति का मुकाबला करने के लिए तैयार रहता है, वह अभय का साधक होता है ।

मृदुता

कोमलता का नाम मृदुता है । यह सामूहिक जीवन की सफलता का सूत्र है। इसके द्वारा व्यक्ति के जीवन में सरसता आती है । मृदु स्वभाव मे लोच होती है इस स्वभाव वाला व्यक्ति किसी भी वातावरण को अपने अनुकूल बना लेता है। बहुत बार कठोर अनुशासन से जो काम नही होता, वह मृदुता से हो जाता है।

सत्य

सत्य का अर्थ है यथार्थता । जो तथ्य जैसा है उसे वैसा ही जानना, मानना, स्वीकार करना और निभाना सत्य है । सत्य की साधना कठिन अवश्य है, पर है आत्म-तोष देने वाली । सत्यनिष्ठ व्यक्ति अपने किसी भी स्वार्थ की सिद्धि में असत्य का सहारा नही लेते । राजा हरिश्चन्द्र जैसे सत्यव्रती व्यक्ति आज भी मानव-सस्कृति के गौरव समझे जाते है ।

आर्जव

आर्जव सरलता का पर्यायवाची शब्द है । सरलता सदाचार की आधारभूमि है । इसी उर्वरा में सदाचार की पौध फलती-फूलती है । मायावी व्यक्ति कभी सदाचारी नहीं हो सकता ।

करुणा

करुणा सदाचार का मूल है । जिस व्यक्ति के अन्त-करण में करुणा नही होती, वह अहिसा के सिद्धान्त को समझ नही सकता । अहिंसा के बिना समता का विकास नही होता । समता या अहिंसा ही व्यक्ति को आत्मौपम्य की बुद्धि देती है । आत्मौपम्य की भावना ही व्यक्ति को दूसरों का अहित करने से रोकती है ।

धृति

धृति वह तत्त्व है जो व्यक्ति के मन में सदाचार के प्रति आस्था को दृढ़ करती है। सामान्यतः व्यक्ति कोई भी अच्छा काम करता है और उसे शीघ्र ही उसका सुफल नही मिलता है तो वह दुराचार की ओर प्रवृत्त हो जाता है। किन्तु जिस व्यक्ति मे धैर्य होता है वह परिणाम के प्रति अनातुर रहता हुआ सत्क्रिया करता रहता है।

अनासक्ति

आसक्ति का अर्थ है गहरी लालसा। भौतिक पदार्थो के प्रति आसक्त व्यक्ति उन्हे प्राप्त करने के लिए असदाचरण करने मे सकोच नही करता। जिस व्यक्ति की आसक्ति टूट जाती है, वह असत् का चितन भी नहीं कर सकता।

स्वावलम्बन

परावलम्वी व्यक्ति अपनी शक्ति, सम्पदा या सत्ता के बल पर दूसरो के श्रम का शोषण करता है। जिस व्यक्ति का विश्वास स्वावलम्बन मे होता है, वह किसी का शोषण नही कर सकता।

स्वशासन

अपने पर अपना अनुशासन शासनतन्त्र की सबसे बड़ी उपलब्धि है। स्वशासन का भाव विकसित होने के बाद व्यक्ति सहजभाव से सयत हो जाता है। फिर वह विलासी और प्रमादी जीवन से मुड़कर सदाचरण मे प्रवृत्त हो जाता है।

सहिष्णुता

सहनशीलता भी एक ऐसा ही तत्त्व है जो व्यक्ति को सदाचार के पालन मे सहयोग देता है। असहिष्णु व्यक्ति सत् और असत् का विवेक करने मे भी भूल कर देता है।

कर्तव्यनिष्ठा

कर्तव्यनिष्ठा सदाचार की प्रेरक शक्ति है। अपने कर्तव्य के प्रति जागरूक व्यक्ति अकरणीय कर्म से विरत रहता है। जब भी उसके चरण प्रमाद की ओर बढ़ते है, कर्तव्य की प्रेरणा उसे वापस मोड़ देती है और वह सत्सकल्प कर लेता है।

व्यक्तिगत-संग्रह-संयम

मनुष्य को असदाचारी बनाने वाला सबसे बड़ा हेतु है– व्यक्तिगत संग्रह का असंयम। असंयम का कारण है– अन्तहीन आकांक्षाएं। आकांक्षाओ पर संयम का अंकुश लगने से ही वे नियंत्रित हो सकती है।

प्रामाणिकता

सदाचार की फलश्रुति है प्रामाणिकता। कौन व्यक्ति कितना सदाचारी है, यह उसके व्यवहारों से ज्ञात होता है। जिस व्यक्ति के जीवन में प्रामाणिकता के संस्कार रहते है वह किसी को धोखा नही दे सकता, किसी का अहित नहीं कर सकता तथा मानवीय मूल्यों की अवहेलना नही कर सकता।

उपर्युक्त तेरह सूत्र सदाचार के मौलिक सूत्र है। इनके अतिरिक्त भी बहुत-सी बातें है जो सदाचार में अन्तर्निहित हो सकती है किन्तु ये बातें ऐसी है जिसका आचरण न तो असंभव है और न देश, धर्म, वर्ग आदि के नाम पर इनका विभागीकरण हो सकता है। सार्वभौम, सार्वकालिक और सार्वजनीन तत्त्व ही हर व्यक्ति के लिए समान रूप से आदर्श बन सकते है।

राष्ट्रीय चरित्र बनाम लोकतंत्र

यह भारत भूमि, जहां राम-भरत की मनुहारों में चौदह वर्ष पादुकाएं राजसिंहासन पर प्रतिष्ठित रही, महावीर और बुद्ध जहां व्यक्ति का विसर्जन कर विराट बन गए, कृष्ण ने जहां कुरुक्षेत्र में गीता का ज्ञान दिया और गांधीजी संस्कृति के प्रतीक बनकर अन्तर्राष्ट्रीय क्षितिज पर एक आलोक छोड़ गए—उस देश मे सत्ता के लिए छीनाझपटी, कुर्सी के लिए सिद्धान्तो का सौदा, वैभव के लिए अपवित्र प्रतिस्पर्धा और विलास-सने हाथों राष्ट्र प्रतिमा का अनावरण सचमुच कैसा-कैसा लगता है ? उद्देश्यशून्य राजनीति, बढ़ती हुई हिंसा एवं हर स्तर पर चरित्र-हनन की प्रवृत्ति ने आज राष्ट्र के प्रतिमान को ही जैसे खंडित कर दिया है। स्थितियां जो मोड़ ले रही है, कहा नही जा सकता कि कल लोकतन्त्र ही हमारे लिए प्रश्न-चिह्न बन जाए।

अणुव्रत आन्दोलन के २८वें वार्षिक अधिवेशन पर ये विचार मै भारत की जनता एव मुख्यत. नेतृ-स्थानीय लोगों के सम्मुख प्रस्तुत कर रहा हू।

मै मानता हूं कि नैतिकता एव आदर्श व्यक्ति के भीतर से आते है। फिर भी इस सच्चाई को दृष्टि से ओझल नही किया जा सकता कि व्यवस्था की विकृति विचारों को विकृत बनाती है। विचार व्यवस्था का अतिक्रमण करते है। इस प्रकार एक पूरा चक्र बन जाता है और स्थितियां सुलझने के बजाय उलझती रहती है। परिणाम होता है कि बगैर राजनैतिक स्थिरता एवं स्वच्छता के देश का नैतिक एवं सांस्कृतिक धरातल का पतन है। ठीक ही कहा है किसी विचारक ने कि नैतिकता एव अनैतिकता की जनक देश मे सत्ता होती है। यथा राजा तथा प्रजा—यह लोकोक्ति बहुताश में अयथार्थ नही है।

आज जबकि संसद ही देश का सर्वोच्च सत्ता-प्रतिष्ठान है, उसके प्रत्येक सदस्य का दायित्व है कि वे भगवान् महावीर के शब्दों में— 'संपिक्खए अप्पगमप्पएणं' स्वयं स्वय को देखे। ससद की गरिमा देश की गरिमा है। उसके सदस्य ही अगर अर्थ या पद के लिए बाहर के इशारों पर बिकते रहें तो आजादी के बत्तीस वर्षो बाद भी राष्ट्र-स्वातन्त्र्य की बात आत्मछल ही कही जाएगी।

इस दृष्टि से आज पहला चिन्तनीय पहलू है कि देश की राजनीति को स्वस्थ एवं स्थिर स्वरूप मिले । स्वस्थता एवं स्थिरता के कुछ विन्दु है–

(१) शासन का लोकतान्त्रिक एवं धर्म-निरपेक्ष स्वरूप अक्षुण्ण रहा है (हिन्दू, मुसलमान अकाली, तमिल-शासन की दृष्टि में अगर यह भेदरेखा जन्मेगी तो भारत नही रहेगा ।)

(२) सत्य एवं अहिंसा आधार-भित्ति बनी रहे । हिंसा एवं दोहरी नीति अन्तत लोकतन्त्र की विनाशक बनेगी ।)

(३) व्यक्तिगत जीवन की पवित्रता एवं सिद्धांतवादी राजनीति का पुनर्स्थापन।

(४) चुनाव-पद्धति एवं परिणाम को देखते हुए शासन-पद्धति मे भी परिवर्तन।

(५) चरित्र-हनन की घातक प्रवृत्ति का परित्याग ।

(६) विधायक आचार-सहिता का निर्माण ।

(७) नैतिक शिक्षण एव साम्प्रदायिक सौहार्द ।

ये कुछ मौलिक सूत्र है कि जो, आज प्रत्येक लोकतंत्रवादी से चिन्तन मागते है । सुरक्षा हर नागरिक की पहली माग है । इस माग को पूरा किए बिना प्रजा समृद्ध और सुखी बन जाए, कम सभव है । चरित्र का कवच पहनने वाला राष्ट्र किसी भी स्थिति मे असुरक्षित नही हो सकता । राष्ट्रीय चरित्र एव लोकतन्त्र अन्योन्याश्रित है ।

उपसहार मे, राष्ट्र-निर्माताओ से आज की नाजुक घड़ी मे मेरा आह्वान है कि पुरखों ने हमें सभ्यता, सस्कृति एवं स्वतत्रता की एक पवित्र धरोहर सौपी है, हमारा कर्तव्य है कि हम उसे पवित्रतम बना अपनी भावी संतति को समर्पित करे। शुभमस्तु। कल्याण भवतु ।

संयमः खलु जीवनम्–सयम ही जीवन है ।

संसद खड़ी है जनता के सामने

पिछले कुछ महीनों से राष्ट्रीय रगमच पर जिस प्रकार का राजनैतिक चरित्र उभरकर आ रहा है, वह एक गंभीर चिन्ता का विषय है। ऐसा लगता है, राज नीति का अर्थ देश मे सुव्यवस्था बनाए रखना नही, अपनी सत्ता और कुर्सी बनाए रखना है। राजनतीतिज्ञ का अर्थ उस नीति-निपुण व्यक्तित्व से नही है, जो हर कीमत पर राष्ट्र की प्रगति, विकास-विस्तार और समृद्धि को सर्वोपरि महत्त्व दे, किन्तु उस विदूषक-विशारद व्यक्तित्व से है, जो राष्ट्र के विकास और समृद्धि को अवनति के गर्त मे फेककर भी अपनी कुर्सी को सर्वोपरि महत्त्व देता हो। राजनेता का अर्थ राष्ट्र को गति की दिशा मे अग्रसर करने वाला नही, अपने दल को सत्ता की ओर अग्रसर करने वाला रह गया है। यही कारण है कि आज राष्ट्र गौण है, दल प्रमुख है। सिद्धान्त गौण है, सत्ता प्रमुख है। चरित्र गौण है, कुर्सी प्रमुख है। एक राजनेता मे राष्ट्रीय चरित्र, न्याय-सिद्धान्त और नेतृत्व-क्षमता के गुणो की आवश्यकता नही, किन्तु आज कुशल राजनेता वही है, जो अपने दल के लिए राष्ट्र के साथ भी विश्वासघात कर सकता हो, अपनी कुर्सी के लिए अपने दल के साथ भी विश्वासघात करने का जिसमें साहस या दु:साहस हो।

क्या राजनीति का अपना कोई चरित्र नहीं ?

बहुत बार मन में प्रश्न उभरता है, क्या राजनीति का अपना कोई चरित्र नही होता अथवा सत्ता-प्राप्ति के लिए राष्ट्र, समाज, दल और व्यक्ति की विश्वासपूर्ण भावनाओं के साथ खिलवाड़ करना ही राजनीति का चरित्र होता है ? जनता की कोमल भावनाओं का शोषण करके सत्तासीन होने के बाद क्या राजनेता का व्यक्तित्व जनता और राष्ट्र से भी बड़ा हो जाता है ? यदि ऐसा नहीं है तो आज की राजनीति क्यो अपने प्रिय पुत्रों, संबंधियों और चमचो-चाटुकारों के चक्रव्यूह मे फंसकर रह गई है ? राष्ट्र को स्थिर नेतृत्व प्रदान करने के नाम पर क्यों सिद्धान्तहीन समझौते और स्तरहीन कलाबाजियां दिखाई जा रही है ? सम्प्रदायवाद, जातिवाद, भाषावाद

और प्रान्तवाद को भड़का करके क्यों सत्ता की गोटियां बैठाई जा रही है ? राष्ट्र पुरुष की छवि को निखारने के नाम पर अपने स्वार्थों की पूर्ति की जा रही है। गांधीजी ने तत्कालीन राजनीति को नेतृत्व अवश्य दिया किन्तु वे स्वयं राजनीति से सदा ऊपर रहे। किन्तु आज गांधीजी की समाधि को जिस तरह से सत्ता की राजनीति के दलदल में घसीटा जा रहा है, उसे देखकर अनायास ही मन ग्लानि और वितृष्णा से भर जाता है। फिर दूसरा प्रश्न उभर आता है, आखिर यह सब-कुछ कब तक चलता रहेगा ?

महाकवि रवीन्द्रनाथ ठाकुर का एक कथा-प्रसंग इस संदर्भ में मुझे स्मरण आ रहा है। राजपथ पर भगवान् जगन्नाथ की रथ-यात्रा बड़ी धूमधाम से निकल रही है। सैकड़ो श्रद्धालु जन उस भीमकाय रथ को बड़ी श्रद्धा-भावना से खींचने मे लगे है। हजारों भक्त-जन बीच-बीच मे साष्टांग दंडवत् प्रणाम करते हुए रथयात्रा मे सम्मिलित हो रहे है। यह सारा उत्सव देखकर रथ, पथ और मूर्ति गर्वोत्कर्ष मे मन-ही-मन फूले नहीं समा रहे है। तीनों सोच रहे है, ये भक्ति-सभृत प्रणाम, मंत्रोच्चारण, भजन-कीर्तन, जय-जय का तुमुलनाद हमारे लिए ही हो रहा है। जबकि अन्तर्यामी प्रभु इन सबके अज्ञान-जनित अहं उत्कर्ष पर मन-ही-मन हंस रहे है। कवीन्द्र इसी स्थिति का मर्म -चित्रण करते हुए कहते है :

रथ भवे आमी देव, पथ भावे आमी।
मूर्ति भावे आमी देव, हंसे अन्तर्यामी ॥

रथ सोच रहा है, यह प्रणाम मुझे हो रहा है और पथ सोच रहा है मुझे। मूर्ति अपने मे ही भ्रम पाले हुए है और अन्तर्यामी प्रभु रथ, पथ और मूर्ति की नादानी पर हस रहे है।

ऐसा लगता है आज के राजनैतिक चरित्र पर यह व्यंग्य बहुत ही सटीक बैठता है। हर किसी राजनेता को यह भ्रम पैदा हो गया। लगता है कि मेरे सत्तासीन होने से ही अथवा प्रधानमंत्री बनने से ही देश को स्वच्छ प्रशासन मिल सकता है। यह कुर्सी मेरा ही वरण चाहती है। मै कुर्सी पर नही हूं, इसलिए देश की यह दुर्दशा हो रही है। अत येन-केन-प्रकारेण कुर्सी प्राप्त करूं, ताकि देश का निर्माण हो सके और राष्ट्र की कोटि-कोटि जनता नेताओ के विदूषक-व्यक्तित्व पर मन-ही मन हंस रही है।

प्रजा ही राष्ट्र

इसमें कोई सन्देह नही कि राष्ट्र के मस्तक पर आसीन व्यक्तित्व के राजनैतिक चरित्र से जनता को निराश ही हुई है। किन्तु निराश होने से कुछ नहीं होगा।

हमे इस रोग का इलाज सोचना होगा। किंकर्तव्यविमूढ़ बनकर बैठने से कोई लाभ नही होने वाला है। हमें रोग का सही निदान खोजना होगा, उपचार भी तभी हो सकेगा। इस दृष्टि से भारतीय जनता पर एक बहुत बड़ी जिम्मेदारी आ जाती है।

यद्यपि जनता-जनार्दन पहले से बहुत प्रबुद्ध है किन्तु ऐसा लगता है कि अभी भी उनका शिव स्वरूप जाग्रत नहीं हुआ। भारतीय जना को यह अच्छी तरह समझना होगा कि कुछ नेताओं से कभी कोई राष्ट्र नही बनता। वस्तुतः प्रजा ही राष्ट्र है। सहस्राब्दियो पूर्व हमारे मंत्र-द्रष्टा ऋषियों ने गाया–राष्ट्राणि वै विश.–प्रजा ही राष्ट्र है। विशि राजा प्रतिष्ठितः –राजा की स्थिति भी प्रजा पर निर्भर है। राजाओ की स्थिति भी प्रजा के समर्थन करती थी। अब तो स्थितिया सर्वथा भिन्न है। राज्य-व्यवस्था का स्वरूप ही प्रजातान्त्रिक हो गया है। इस अवस्था में जनता को यह समझना बहुत जरूरी है कि जब तक वह अपना तृतीय शिव-नेत्र नही खोलेगी, तब तक नेता के रूप मे देश के साथ खिलवाड़ करने वाला कामदेव भस्म होने वाला नही है।

संसद जनता के सामने

इसी वर्ष मार्च-अप्रैल मे मै दिल्ली में था। संसदीय कक्ष मे संसद-सदस्यो और मंत्रि-परिषद के सदस्याओ के बीच अपने विचार प्रकट करने का अवसर मिला। वहां मैने विशेष रूप से एक बात कही थी। उसी बात को मै आज जनता के समक्ष दुहराना चाहता हू। क्योकि उसका सीधा सबंध जनता से है।

एक बार विद्या ने ब्रह्मण से कहा– मै आपकी निधि हू। आप मेरी रक्षा करे। ब्रह्मण ने पूछा– आपके सामने ऐसी क्या कठिनाई है ? विद्या ने कहा– जो व्यक्ति मरे योग्य नही है, आप उनके साथ भी मेरी पाणिग्रहण कर देते है। जिस किसी के साथ मेरा गठबन्धन कर देते है। कम-से-कम ऐसा तो नहइ होना चाहिअ। पण्डित ने पूछा– आखिर तुम चाहती क्या हो ? विद्या ने अपनी बात स्पष्ट करते हुए कहा– आप कृपा करके मुझे तीन प्रकार के व्यक्तियों से बचाएं। प्रथम तो वे जो पर-दोषदर्शी है। दूसरों के दोषो को देखना ही जिनका प्रमुख व्यवसाय है। दूसरे वे जो मायावी है, कुटिल है और तीसरे वे जो असंयमी है, चरित्रहीन है। इन तीन प्रकार के व्यक्तियो से आप मेरी रक्षा करें।

आज के संदर्भ मे संसद यही पुकार लेकर जनता के समक्ष खड़ी है। वह जनता से चिल्ला-चिल्लाकर कह रही है कि आप कृपा करके तीन प्रकार के व्यक्तियो को चुनकर संसद मे मत भेजिए। पहले वे जो परदोषदर्शी है। दूसरो के दोष ही

देखने वाले हैं। अच्छाई में भी बुराई देखने वाले है। पिछली सरकार के अच्छे कार्यो को भी उलटने वाले हैं। वह हमारे दल का नही, इसलिए उसमें कोई अच्छाई हो ही नहीं सकती। इस तरह जिनकी दृष्टि मोती पर नहीं, मछलियों पर है, वैसे सदस्यों को आप मेरे पास मत भेजिए।

उन लोगों को भी आप मेरे पास मत भेजिए जो कुटिल है, मायावी है, नेता नहीं, अभिनेता है। असली पात्र नहीं, मात्र विदूषक की भूमिका निभाने वाले है। कुर्सी के लिए हर प्रकार का षड्यंत्र रच सकते है, गलत तत्त्वों से सांठ-गांठ कर सकते हैं, चरित्र-हनन कर सकते है। सत्ता-प्राप्ति के लिए अकरणीय जैसा उनके लिए कुछ भी नहीं है। जिस जनता के कन्धों पर बैठकर केन्द्र तक पहुंचते है, उसके साथ भी धोखा कर सकते है। जिस दल के घोषणा-पत्र पर चुनाव जीतकर आए हैं, उसकी पीठ मे भी छुरा भोंक सकते है। इस प्रकार के कुटिल-जटिल, दम्भी व्यक्तियों को आप मेरे पास मत भेजिए।

तीसरे उन व्यक्तियों को आप मुझ से दूर रखिए, जो असंयमी है, चरित्रहीन है, जो सत्ता में आकर राष्ट्र से भी अधिक अपने परिवार को महत्त्व देते है, देश से भी अधिक अपनी जाति-सम्प्रदाय को महत्त्व देते है। सत्ता जिनके लिए सेवा का साधन नहीं, अपने विलास का साधन है। सत्ता जिनके देश कल्याण का माध्यम नहीं, किन्तु प्रतिशोध का माध्यम है। जिनकी न व्यक्तिगत छवि अच्छी है और न राष्ट्रीय छवि ही। उस प्रकार के व्यक्तियों से भी मुझे बचाइए। भारतीय संसद भारतीय जनता के द्वार पर ही अपनी मर्म-भेदी पुकार लेकर खड़ी है।

आज राजनैतिक चरित्र को यदि उज्ज्वल बनाए रखना है, संसद की गरिमा, पवित्रता और मान-मर्यादा को बनाए रखना है, संसद को स्वस्थ, सुदृढ़ एवं सुसस्कार-संपन्न बनाना है तो सम्पूर्ण भारतीय समाज को इस दिशा मे प्रबुद्ध होना होगा, अपने दायित्व को समझना होगा और सामने खड़ी परीक्षा की घड़ी मे अपनी निर्णायक मनीषा से देश की तस्वीर को उज्ज्वलतम बनाना होगा। वह राजनीतिज्ञ अयोग्य है, जो केवल भावी निर्वाचन के विषय में सोचता है। योग्य राजनीतिज्ञ वह है जो देश की भावी पीढ़ी के विषय में चिन्ता करता है। सचमुच ऐसे ही निपुण राजनेताओ के हाथों देश का भविष्य सुरक्षित रह सकता है।

निष्काम कर्म और अध्यात्मवाद

कर्म प्राणी का स्वभाव है। कोई भी प्राणी कर्म के विना जी नही सकता। जव तक कर्म है, तव तक जीवन है। जीवन की हर प्रवृत्ति का संचालन कर्म के द्वारा होता है। कर्म की समाप्ति ही जीवन की समाप्ति है। इसी दृष्टि से भगवद् गीता का एक सिद्धान्त है–'न हि देहभृता कश्चित् जातु तिष्ठत्यकर्मकृत्', शरीरधारियों मे कोई भी प्राणी ऐसा नही है, जो सर्वथा निष्क्रिय रह सके। कर्म जीव की सत्ता का प्रतीक है। कर्म छूटते ही प्राणी की उस सत्ता का लोप हो जाता है, जिसमें वह अव तक कर्म करता रहा है।

जैन दर्शन भी इस सिद्धान्त को स्वीकार करके चलता है कि सामान्यतया कोई भी व्यक्ति अयोग अवस्था–अकर्म अवस्था को प्राप्त नहीं कर सकता। मन, वाणी और शरीर की प्रवृत्ति हर क्षण चलती रहती है। स्थूल प्रवृत्ति किसी क्षण रुक भी जाए तो भी सूक्ष्म प्रवृत्ति का निरोध नही होता। साधक कर्म से छुटकारा चाहता है, क्योकि कर्म ही दुःख का सर्जक है। ऐसी स्थिति मे कौन-सा पथ प्रशस्त है जो साधक की साधना के अनुकूल हो। जिस पथ पर चल कर वह अपनी आत्मा को परमात्मा के पद तक पहुचा सके?

गीता मे इस प्रश्न का समाधान निष्काम कर्म करने की प्रेरणा देकर किया गया है। जैन शास्त्रों मे इसके लिए दो उपाय सुझाए गए है–निरोध और संशोधन। निरोध, सवर, गुप्ति आदि शब्द एक ही अर्थ के द्योतक है। निरोध का अर्थ है रोकना। मनुष्य अपनी इस क्षमता का विकास कर संपूर्ण क्रिया का निरोध कर ले। जब तक इस रूप में क्षमता का विकास नही होता है, वह कम-से-कम अनावश्यक कर्म को छोड़ दे। आवश्यक और अनावश्यक कर्म में एक निश्चित भेदरेखा का होना वहुत जरूरी है। अन्यथा शक्ति का अपव्यय होता है और कर्म का कोई सुफल नही होता।

गहराई से देखा जाए तो मनुष्य की अधिकाश प्रवृत्तियां अनावश्यक होती है। प्रवृत्ति के अनेक रूप है–बोलना, चलना, खाना, सोना, हसना आदि। इनमे से एक प्रवृत्ति पर ही विमर्श किया जाए तो ऐसा प्रतीत होता है कि अस्सी प्रतिशत क्रिया

अनावश्यक होती है । इसकी जांच करने के लिए एक दिन का पूरा मौन करके निश्चित परिणाम निकाला जा सकता है । देखना यह चाहिए कि एक दिन के मौन मे अनिवार्य रूप से बोलने का प्रसंग कितनी बार उपस्थित होता है ? मुश्किल से दो-चार प्रसंग ऐसे बनते होगे, जहां बोले बिना काम में अवरोध आ जाता है । अधिकाश बोलना तो आदतन होता है । महात्मा गांधी ने मौन को सर्वोत्तम भाषण बताते हुए कहा– यदि तुम्हारा काम एक शब्द बोलने से चल सकता है तो तुम दो शब्द मत बोलो । साइरस का अनुभव है कि मुझे मौन रहने का पश्चाताप कभी नही हुआ, किन्तु इस बात का पश्चाताप अनेक बार हुआ कि मै क्यो बोला ?

बोलना समस्या है और मौन समाधान है । बोलने वाला अनेक प्रकार की उलझनें बढ़ाता है और मौन रहने वाला प्राप्त उलझन को भी सुलझा देता है । मौन रहना सभव ही न हो तो चिन्तन और विवेकपूर्वक सीमित शब्दो का सहारा लिया जा सकता है । इसी प्रकार अन्य क्रियाओं में भी अनावश्यक का निरोध साधना की दृष्टि से निरापद मार्ग है । मन, वाणी और शरीर की सारी अनपेक्षित प्रवृत्तियो का निरोध होने के बाद जो प्रवृत्ति बचेगी, उसमें निष्काम कर्म की पुट लग सकती है ।

आवश्यक और अनावश्यक कार्यो का सम्यग् अवबोध होने के बाद प्रवृत्ति का निरोध और आवश्यक संशोधन करने वाला निष्काम कर्म की दिशा मे गति करता है । निष्काम का अर्थ है अनासक्त कर्म । काम छोटा हो या बड़ा, आवश्यक हो या अनावश्यक, आसक्ति का परिहार उस कार्य की उपादेयता का मानदड है । वह आसक्ति किसी भी पहलू का स्पर्श करने वाली नही होनी चाहिए । इस सन्दर्भ मे जैन आगमों में बहुत ही स्पष्ट दृष्टिकोण है । वहां साधक को यह सुझाया गया है कि वह अपनी तप -साधना और आचार-साधना में भी किसी प्रकार की आशसा न जोड़े । आशंसा का परिहार होने से तपस्या और आचार दोनों समाधि बन जाते है । जहां भी इनमे किसी प्रकार की आशसा जुड़ी, समाधि खंडित हो जाती है । वहां तप -समाधि के चार प्रकारों की चर्चा करते हुए कहा गया है–

- इस लोक के निमित्त तप नही करना चाहिए ।
- परलोक के निमित्त तप नही करना चाहिए ।
- कीर्ति, वर्ण, शब्द और श्लोक के लिए तप नही करना चाहिए ।
- निर्जरा (आत्म-शुद्धि) के अतिरिक्त किसी भी उद्देश्य से तप नही करना चाहिए ।

इसी प्रकार वहां आचार-समाधि के भी चार प्रकार बताए गए है–

- इस लोक के निमित्त आचार का पालन नही करना चाहिए ।
- परलोक के निमित्त आचार का पालन नही करना चाहिए ।

- कीर्ति, वर्ण, शब्द और श्लोक के निमित्त आचार का पालन नही करना चाहिए।
- आर्हत हेतु–अर्हतो द्वारा मोक्ष-साधना के लिए उपदिष्ट हेतु (सवर और निर्जरा) के अतिरिक्त किसी भी उद्देश्य से आचार का पालन नहीं करना चाहिए।

उक्त सन्दर्भ में गीता का निष्काम कर्म और भगवान महावीर की सकाम निर्जरा–दोनो बराबर चलते है। किसी भी कामना से जुड़ी हुई कोई भी प्रवृत्ति सकाम निर्जरा में परिगणित नही होती। 'कर्मण्येवाधिकारस्ते मा फलेषु कदाचन'–तुम्हारा कर्म करने का अधिकार है, पर फलाकाक्षा का कोई अधिकार तुम्हे नही है। यहा श्रीकृष्ण ने व्यक्ति को कर्म करने की खुली छूट दी है। उसका वैशिष्ट्य यही है कि वह कर्म निष्काम हो। जैन दर्शन निष्कामभाव से किए जाने पर भी अनपेक्षित कर्म को नियत्रित करने का परामर्श देता है। सामान्यत' लोगों की एक धारणा है कि मनुष्य को अकर्मण्य नही होना चाहिए। कुछ-न-कुछ करते रहना ही जिन्दगी है। जिस दिन कर्म छूट गया, उस दिन जीने का उल्लास भी छूट गया। किन्तु यह धारणा उन लोगो की हो सकती है, जिन्होने अन्तर्मुखता का अभ्यास नही किया। इस मान्यता को समर्थन वे ही व्यक्ति दे सकते है, जो ध्यान की भूमिका से नही गुजरे। ध्यान-साधना व्यक्ति को अकर्म रहने की प्रेरणा देती है। मन, वाणी और शरीर की स्थूल क्रियाओ का निरोध ध्यान का प्रथम बिन्दु है। सूक्ष्म क्रिया मात्र का निरोध ध्यान का अन्तिम बिन्दु है। इस स्थिति मे पहुचने वाला ही मोक्ष को पा सकता है।

स्वयं भगवान् महावीर साढ़े बारह साल तक अकर्म की साधना मे सलग्न रहे थे। उस अवधि मे उन्होने न किसी को उपदेश दिया, न प्रवचन किया। उस समय वे किसी के साथ बात करना भी नही चाहते थे। बहुत बार न बोलने के कारण उन्हे कई प्रकार की यातना सहनी पड़ी। वे सब कुछ सहते रहे। पर अनपेक्षित एक शब्द भी नही बोले। जब कभी वे बोलते, आत्म-शोधन की दृष्टि से ही बोलते थे। वे अधिकाशतः ध्यान मे रहते। कई-कई दिनों तक निरन्तर ध्यान की साधना करते। ध्यानकाल में चाहे मच्छर काटे, चाहे बिच्छू या साप काटे, चाहे आग की लपटे उनके शरीर को झुलसा दे, वे एक क्षण के लिए भी प्रकपित नही हुए। साधारणतया ये बाते समझ मे आने जैसी नही है, फिर भी इन पर अविश्वास करने का कोई कारण नही है। निष्काम कर्म की इससे बढ़कर कोई मिसाल नही हो सकती। जिस कर्म में अपनी दैहिक आसक्ति और परिकर्म भी छूट जाता है। वहां कोई कामना रह ही कैसे सकती है?

निष्काम कर्म अध्यात्म का फलित है। अध्यात्मवादी व्यक्ति ही इस दृष्टिकोण को विकसित कर सकते है। भौतिकवादी व्यक्ति तो अनेक प्रकार की कामनाओ से घिरा रहता है। उसकी एक कामना पूरी होती है, चार दूसरी उभर जाती हैं। आज हमारे राष्ट्रीय संकट का भी सबसे बड़ा कारण यही है। यदि हमारे राष्ट्र के नेता निष्काम कर्म की दिशा स्वीकार कर लें तो अनेक समस्याएं स्वयं ही समाहित हो सकती है। किन्तु जब तक उनके चारों ओर कामनाओं का जाल बिछा रहेगा, आकांक्षाओं का विसतार होता रहेगा तथा कर्म को संशोधित करने का दृष्टिकोण निर्मित नहीं होगा, तब तक स्वस्थ राष्ट्रीय चेतना के विकास की कल्पना, मात्र कल्पना बनकर ही रह जाएगी।

शिक्षा, अध्यात्म और नैतिकता

अध्यात्म और शिक्षा जीवन की दो महत्त्वपूर्ण दिशाएं है। अध्यात्म आंतरिक विकास का प्रतीक है और शिक्षा बौद्धिकता को विकसित करती है। अध्यात्म निरपेक्ष शिक्षा मस्तिष्क को प्रबुद्ध बना सकती है, जागतिक सृजन में सक्षम हो सकती है, भौतिक विज्ञान को उन्नत बना सकती है किन्तु वृत्तियों के उदात्तीकरण का प्रश्न वहां गौण हो जाता है। अन्य दूसरी प्रवृत्तियों में भी बहिर्मुखता जब तक रहती है, अध्यात्म का उदय नहीं हो सकता।

वर्षो से हम रचनात्मक कार्यो की चर्चा सुनते आ रहे है। इसके संबंध में भिन्न-भिन्न व्यक्तियों का चिन्तन भिन्न-भिन्न बिन्दुओं पर है। इसलिए रचनात्मकता की कोई एक निश्चित परिभाषा नही है। कुछ व्यक्ति खादी, ग्रामोद्योग आदि को रचनात्मक मानते है। कुछ व्यक्ति स्कूलों और कॉलेजों की स्थापना एवं तदर्थ भवन-निर्माण के कार्य को इस दृष्टि से देखते है। कुछ लोगों की ओर दूसरी धारणाएं है। मेरे अभिमत से सबसे बड़ा रचनात्मक कार्य है—मनुष्य का निर्माण। यह कार्य केवल बड़ा ही नहीं, मौलिक है, ठोस है और अन्य निर्माण कार्यो के लिए सशक्त धरातल के समान है। मूलभूत निर्माण के बिना अन्यान्य कार्य को समग्रता से प्रस्तुत नही किया जा सकता।

मानव-निर्माण कार्य की अपेक्षा भारत में बहुत अधिक है। क्योकि भारत अध्यात्म-प्रधान देश है। जहां अध्यात्म का सर्वोपरि मूल्य हो और मानव-समाज स्वय को उस रूप मे निर्मित न कर सके, उस देश की क्या स्थिति हो जाती है, यह किसी से अज्ञात नही है। मेरा यह कथन किसी वर्ग विशेष के सन्दर्भ मे नही है, क्योकि कोई भी वर्ग इस दिशा में आदर्श नहीं है। आदर्श वर्गो या मानव समाज का निर्माण करने के लिए कुछ विशेष प्रयत्न और प्रयोग की अपेक्षा है। इस अपेक्षा को ध्यान में रखकर हमने पचीस वर्ष पूर्व अणुव्रत की आचार-संहिता देश के सामने रखी। प्रबुद्ध वर्ग ने इस कार्य में रस लिया और मानव-निर्माण के लिए वैचारिक

पृष्ठभूमि पूर्ण रूप से तैयार की गयी तथा आचार के क्षेत्र में भी नये-नये प्रयोग होने लगे है ।

पिछले कुछ वर्षो से मानव-समाज मे तीव्र तनाव का सृजन होता आ रहा है, जो उसकी मानसिक शांति तथा अन्य सृजनात्मक कार्यो के लिए बहुत बड़ी बाधा है। तनाव की यह समस्या जब जटिलतम होने लगी तो कुछ ऐसे प्रयोगों की आवश्यकता का अनुभव हुआ जो मानवीय मन और मस्तिष्क को सन्तुलित रख सके । इसके लिए योग साधना का क्रम चला । विविध क्षेत्रों में अमुक-अमुक विशेषज्ञों के निर्देशन में योग साधना का अभ्यास शुरु हुआ । इससे कुछ लोगों ने हल्कापन महसूस किया। अपने यहा प्रेक्षा-ध्यान साधना का प्रयोग चल रहा है । इस साधना का किसी वर्ग विशेष से सम्बन्ध नही । जैन विश्वभारती (लाडनूं) के साधना विभाग के अन्तर्गत मौलिक और ठोस सृजन के लिए यह कार्यक्रम चलता है ।

मनुष्य निर्माण का यह काम इतना सीधा नहीं है कि हम दस-पन्द्रह दिनो के सत्र-प्रयोग से इस दिशा में सफलता पा सकें । इसके लिए तो निर्माताओं के निर्माण की आवश्यकता है, जो स्वयं निर्मित होकर भावी पीढ़ी के निर्माण मे अपना योगदान दे रहे हैं। ऐसे लोगों में तीन प्रकार के व्यक्ति आ सकते है– अभिभावक, अध्यापक और गुरु स्थानीय सन्त पुरुष । प्राचीन समय में बच्चों के निर्माण-हेतु गुरुकुलों की व्यवस्था थी । वहां हर प्रकार का प्रशिक्षण मिलता और दूसरे बच्चो की अपेक्षा गुरुकुल में रहने वाले बच्चे विशेष रूप से निर्मित होकर सामने आते वर्तमान युग में वैसी व्यवस्था नही है । इस दृष्टि से अल्पकालीन शिविरो का अपना मूल्य बढ़ जाता है । बच्चों के शिविरों में बच्चों के अनुकूल प्रशिक्षण दिया जाता है, पर उस दस-पन्द्रह दिन के प्रशिक्षण को वे अपने जीवन की प्रयोगशाला मे किस प्रकार प्रयोग कर रहे है तथा उन्हें उचित मार्गदर्शन कैसे मिले इसको ध्यान मे रखकर अध्यापक शिविर का आयोजन जैन विश्वभारती के तत्त्वाधान में किया गया है ।

प्रथम शिविर का समायोजन २५ दिसम्बर से ३१ दिसम्बर, १९७७ में हुआ, जिसमें नागौर जिले के लगभग पचीस अध्यापकों ने प्रशिक्षण पाया । उस प्रशिक्षण प्रयोग का परिणाम सुखद रहा । इस दृष्टि का अब दूसरा प्रयोग १६ मई से प्रारम्भ हो रहा है । इसमे लगभग पचास शिक्षकों की उपस्थिति इस बात का साक्ष्य है कि ऐसे शिविरो के माध्यम से अध्यापक बहुत कुछ सीख सकते है ।

भारतीय शिक्षा-पद्धति में अब तक वह वात नहीं आ पायी है जो जीवन-निर्माण के लिए अत्यन्त अपेक्षित है । शिक्षा विभाग में नये-नये आयाम खुल रहे है किन्तु अध्यात्म शिक्षा को बल नही मिल रहा है, यह मूलभूत कमी है । जव

तक इस कमी को पूरा नहीं किया जा सकेगा, शिक्षा के यथेष्ट परिणाम नहीं आ सकेगे।

पिछली बार शिविर में भाग लेने वाले कुछ शिक्षकों ने कहा कि यह क्रम हमे पहले से ज्ञात होता तो आज हमारा स्तर कुछ दूसरा ही होता। कुछ अध्यापकों ने अपने जीवन में अभूतपूर्व परिवर्तन अनुभव किया है। इन परिणाम-बिन्दुओं के आधार पर कहा जा सकता है कि शिक्षा-प्रणाली मे अध्यात्म और नैतिक शिक्षा का समावेश होने से ही शिक्षा के दोषों को दूर किया जा सकता है।

मुझे अध्यापकों से बहुत-बहुत अपेक्षाएं है। वे अपने दायित्व को समझें और उसके निर्वाह हेतु जागरुक रहें। वैसे ऐसे शिविरों में काम करने में हमें काफी सुविधा है, क्योकि यहां बौद्धिक और ग्रहणशील व्यक्ति जिज्ञासु भाव से आते है। शिक्षकों को प्रशिक्षित करने मे न तो लम्बे समय की अपेक्षा है, न अधिक श्रम की। आवश्यकता है उनके मार्गदर्शन की। सही दिशा मे कदम रखकर वे धीरे-धीरे अपनी मंजिल तक पहुच सकते है।

इस शिविर मे अध्यापक अपने जीवन-निर्माण की सर्वांगीण शिक्षा उपलब्ध करे तथा बच्चो के जीवन को बनाने की दृष्टि से भी विशेष लक्ष्य रखे। शिविर कालीन चर्चाओ, सगोष्ठियो और जिज्ञासाओ का एक मात्र उद्देश्य अध्यात्म-संवलित चर्चा का निर्धारण होना चाहिए। शिक्षा का मुख्य फलित जीविका को मानने वाले इस बात को भूल जाते है कि एक निरक्षर व्यक्ति भी अपना और अपने परिवार का पेट पाल सकता है।

तुलसी अध्यात्म नीडम् (साधना विभाग) जैन विश्वभारती की यह शिक्षक प्रशिक्षण योजना नागौर जिले की सीमाओं को अतिक्रात कर व्यापक रूप से क्रियान्वित होगी, तभी समूचे देश की शिक्षापद्धति में मौलिक सुधार की संभावना की जा सकती है। मेरी कल्पना है कि यहा उपस्थित शिक्षक अपने आदर्श व्यवहारों और रूपान्तरित जीवन से दूसरे शिक्षकों के लिए एक प्रेरणा के रूप मे प्रस्तुत हो सकेंगे।

सफलता के सूत्र

इस दुनिया में जो है वह अपूर्ण है। इसलिए मनुष्य पूर्णता की दिशा मे प्रस्थान करता है। जो है उससे अधिक अच्छा होने और जो प्राप्त है उससे अधिक पाने का प्रयत्न करता है। तेरापंथ युवक परिषद् का यह पांचवां अधिवेशन इसी शृखला की एक कड़ी है।

हर युवक के सामने कुछ प्रश्न हैं– उसे क्या होना है ? क्या करना है ? और कैसे करना है ?

उसे एक सफल व्यक्ति होना है। ऐसा होने के लिए उसे समाज को सफलता के सांचे में ढालना है। व्यक्ति का निर्माण केवल उसी पर नहीं, बहुत कुछ अंशो में समाज पर निर्भर है। इसलिए उसे अपने निर्माण को समाज के निर्माण मे देखना है। सफलता का पहला सूत्र है मूल्यों का परिवर्तन। समाज का निर्माण मूल्यो के परिवर्तन से ही होता है। स्वार्थ और संग्रह ये दोनों मूल्य विकसित होते है तब व्यक्ति पुष्ट होता है और समाज क्षीण। क्षीण समाज में समर्थ व्यक्तित्व विकसित नही हो पाते। आज का समाज सही अर्थ मे क्षीण है। उसे पुष्ट करने के लिए स्वार्थ और विसर्जन के मूल्यों को विकसित करना जरूरी है। इनसे समाज पुष्ट होगा। पुष्ट समाज में समर्थ व्यक्तित्व पैदा होंगे। क्षीण कोई नही होगा। मैंने देखा है स्वार्थ और संग्रह परायण समाज ने अनेक प्रकार की क्रूरताओं और अनैतिकताओं को जन्म दिया है। इसे बदलना क्या आज के सामाजिक व्यक्ति का कर्तव्य नहीं है ?

सफलता का दूसरा सूत्र है शक्ति का विकास। शक्ति के दो स्रोत है– मानसिक विकास और संगठन।

मानसिक विकास के लिए धर्म का अभ्यास व प्रयोग करना जरूरी है। वह किया जा रहा है या उसको करने की तैयारी की जा रही है। यहां उपस्थित होने को मैं धर्म करने की तैयारी ही मानता हूं।

संगठन की शक्ति का विस्फोट इतना हुआ है कि अव इसमें कोई विवाद
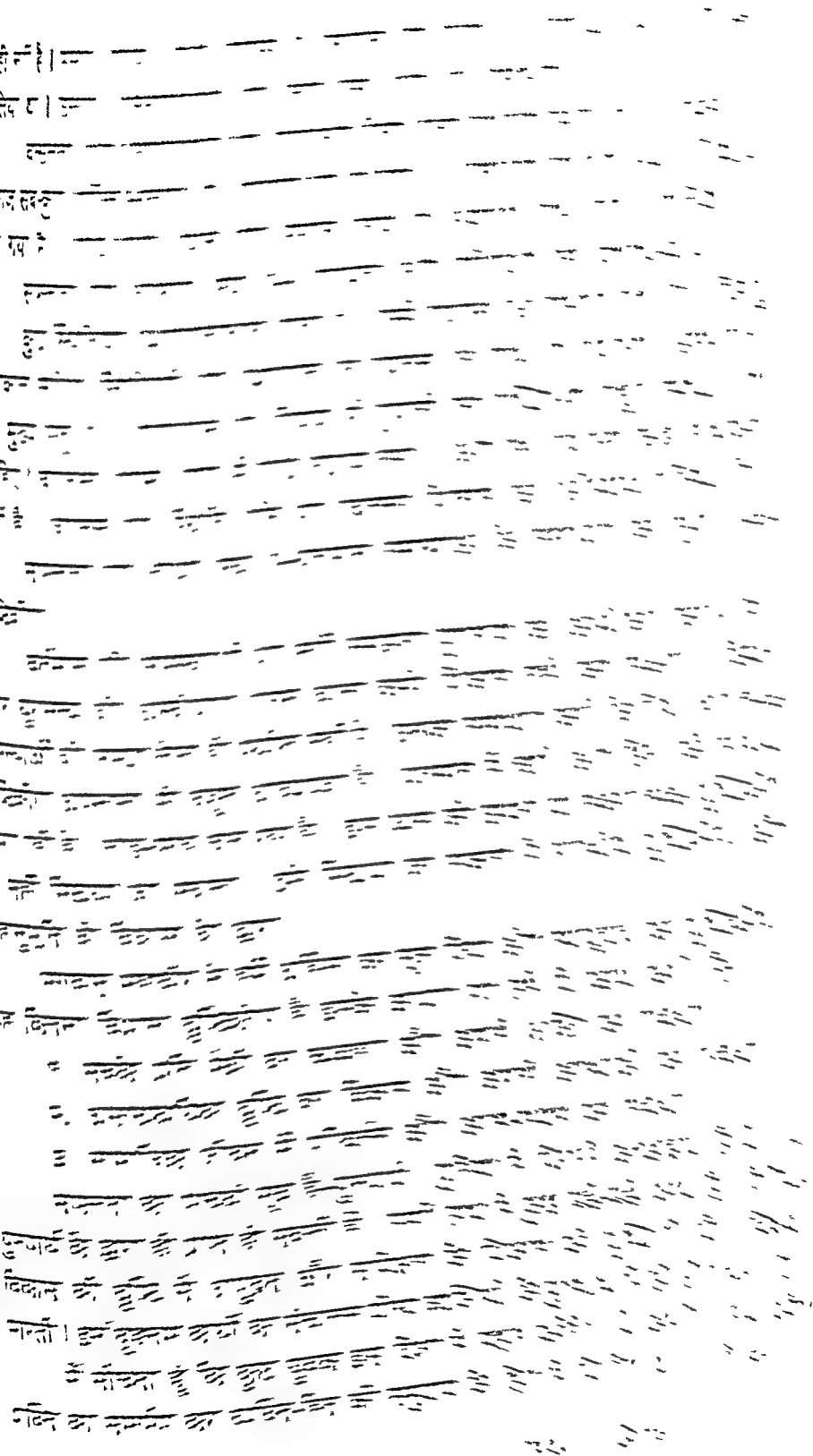
की स्थापना करेगे । यह परम्परा कोई नयी नहीं है । अपने संघ में इसका प्रचलन नहीं है, इसलिए मै इसे नवीन कर रहा हूं। वैसे यह अन्य अनेक संगठनो में चालू है । अपने संघ में इसे चालू करना है । भगवान् महावीर की पचीसवी निर्वाण शताब्दी सामने आ रही है । उपासक श्रेणी की परिकल्पना हमारे सामने है । इन सब मे युवकों को बहुत बड़ा कार्य करना है । मुझे विश्वास है तेरापंथ युवक परिषद् के सदस्य इन दिशाओं में उत्साह के साथ आगे बढ़ेंगे ।

अस्तित्व का प्रश्न

को अहं आसी

राजा श्रेणिक का पुत्र मेघकुमार भगवान महावीर के पास दीक्षित हुआ। मुनि जीवन की प्रथम रात्रि मे ही उसका मन दुर्बल हो गया। उसने निर्णय ले लिया कि प्रातःकाल भगवान महावीर की अनुज्ञा लेकर घर चला जाऊंगा। बड़ी कठिनाई से रात बिताकर वह भगवान् के पास पहुचा, पर अपने मन की बात कहने में संकोच अनुभव करने लगा।

भगवान ने मेघकुमार को देखा और पूछा—मेघ ! तुम थोड़े से कष्टों से कातर हो गए और घर जाने की सोच रहे हो। क्या तुम्हे अपना पिछला भव याद नहीं है ?

इस जन्म से पहले तुम कौन थे ? मेघकुमार ! अपने आपको देखो—हाथी के भव मे तुमने कितना कष्ट सहन किया था। आत्मोत्कर्ष के लिए तुमने किसी अन्य को संत्रास देने की अपेक्षा स्वय को कष्ट की धधकती ज्वाला में झोंक दिया। भीषण वेदना के उन क्षणो मे भी तुम्हारा मन कितना प्रसन्न था! उस समय समभाव की साधना में तुम्हे कितना आत्मसतोष मिला था।

मेघकुमार ने भगवान के ये शब्द सुने और वह अपने-आपको भूल गया। वर्तमान की अस्थिर चेतना ने अतीत मे प्रवेश किया। मेघकुमार सोचने लगा— मैं कौन था ? इस चितन मे चेतना का स्थिरीकरण हुआ और उसे जातिस्मृति ज्ञान उपलब्ध हो गया।

मेघकुमार को अपनी दुर्बलता पर अनुताप हुआ और क्षमता का बोध हो गया। भगवान के पास ऋजुभाव से आलोचना कर वह साधना में लीन हो गया। अतीत भी वर्तमान को त्राण दे सकता है। इस दृष्टि से 'मैं कौन था'—इस सूत्र की सतत स्मृति आवश्यक है।

कोऽहम्

मनुष्य बहुधा अपने अस्तित्व से अपरिचित रहता है। वह अपने अतीत और अनागत को भूलकर वर्तमान में लुब्ध हो जाता है। वर्तमान में भी अस्तित्व बोध की बात विस्मृत कर वह जीवन निर्वाह की प्रक्रिया में उलझ जाता है। ऐसे समय में एक प्रतिबोधक की अपेक्षा रहती है, जो उसे पल-पल सजग करता रहे।

रात्रि के समय कोई दार्शनिक एक पुष्पवाटिका में घूम रहा था। उसकी आहट पाकर माली जग गया। वह हाथ में लाठी और टार्च लेकर इधर-उधर देखने लगा। दार्शनिक के पास पहुंचकर उसने पूछा– तुम कौन हो। दार्शनिक अपनी धुन मे लीन था, अतः कुछ सुन नहीं पाया। माली उसके एकदम निकट पहुंचकर बोला–तुम कौन हो ? यहां क्यों घूम रहे हो ? दार्शनिक ने दो क्षण रुककर उत्तर दिया– मै कौन हूं ? यह प्रश्न मुझे वर्षो से झकझोर रहा है। इसी प्रश्न की गहराई मे पैठकर मैं यहां पहुंच गया हूं। माली ! तुम्ही बताओ, 'मै कौन हूं ?' जिस दिन मुझे इस प्रश्न का उत्तर मिल जाएगा, मै कृतार्थ हो जाऊंगा।

सोऽहम्

व्यक्ति के विकास का पहला अनुबंध है अस्तित्व का बोध। जब तक व्यक्ति अपने अस्तित्व के सम्बन्ध में अनजान रहता है उसकी वृत्तियो और प्रवृत्तियो में अन्तमुर्खता नही आ सकती। इसलिए साधनाशील व्यक्ति 'कोऽहम्' इस मन्त्र मे अपने-आपको भूल जाता है। इस आत्म-विस्मृति में उसकी संवेदना के तन्तु स्पदनशील बनते है और वह अनुभव करता है– जो शब्द द्वारा प्रतिपाद्य नही है, तर्कगम्य नही है, मति का विषय नही है, एकाकी है, अशरीर और ज्ञाता है, जो न दीर्घ है, न ह्रस्व है, न वृत्त है, न त्रिकोण, न चतुष्कोण है और न परिमंडल, जो न कृष्ण है, न नील, न लाल, न पीत और न शुक्ल है, जो न सुगध है, न दुर्गन्ध है, जो न तिक्त है, न कटु, कषाय और अम्ल है, जो न शरीर है, न जन्मधर्मा है, न सलेप है, न स्त्री है, न पुरुष है और न नपुंसक है। जो शब्द, रूप, गंध, रस और स्पर्श से अतीत है, अनुपम है, अमृत है और चैतन्य है, वह मै हूं। कोऽहम् की सोऽहम् में परिणति चेतना-विकास की उत्कृष्ट संभावना है।

सत्य ही भगवान है

हर व्यक्ति किसी महान् व्यक्तित्व की उपासना करना चाहता है। सबसे अधिक व्यक्तित्वशील कोई तत्त्व है तो वह है भगवान शास्त्रो मे सत्य को भगवान कहा गया है– 'सच्च भयवं।' सत्य की उपासना करने वाला ही महान बन सकता है, इसलिए मैने एक गीत मे कहा है–

छोड़ भय खाना अरे ! कर सत्य की समुपासना,
सत्य युग लाना तुझे, कर सत्य की समुपासना।

उपासना का अर्थ है पास में रहना। मनुष्य अकेला नही रह सकता इसलिए उसको किसी न किसी की उपासना करनी पड़ती है। कहा जाता है ईश्वर पहले अकेला था। अकेलापन उसे अखरने लगा। 'स एकाकी न रेमे'–अकेलेपन से उसका मन ऊब गया तो उसने सोचा– 'एकोऽहं बहुस्याम्'–बहुत्व की कल्पना से उसने सृष्टि की रचना की। यह ईश्वर -कर्तृत्ववादियों का अभिमत है।

जैन दर्शन सृष्टि का कर्ता ईश्वर को नही मानता। सृष्टि प्रकृति-जन्य है। वह सदा थी और सदा रहेगी। 'एकोऽहं बहुःस्याम्'–का सिद्धान्त ईश्वर पर नही किन्तु मनुष्य पर लागू हो सकता है। मनुष्य अकेला नही रह सकता इसलिए वह किसी की उपासना करता है। मेरी दृष्टि मे सत्य से बढ़कर कोई तत्त्व नही है, इसलिए सत्य की उपासना करनी चाहिए।

सत्य एक भी है और अनेक भी है। एक ही सत्य को भिन्न-भिन्न दृष्टियो से देखा जाता है तब वह अनेक बन जाता है। लंका-विजय के बाद श्री राम आयोध्या लौट आए। एक दिन सीता और हनुमान उनके पास बैठे थे। अशोकवाटिका का प्रसंग चल पड़ा। सीता ने कहा– 'वाटिका में सभी फूल सफेद थे' हनुमान ने इस बात का विरोध किया। उसके अनुसार वाटिका के फूल लाल थे। सीता और हनुमान– दोनो अपने-अपने कथन पर अडिग थे। श्री राम ने उन दोनों के कथन को सत्य बताते हुए कहा–'मूलतः फूल सफेद थे, इस दृष्टि से सीता सही है। हनुमान

वहां गया, उस समय वह क्रोध मे था। क्रोध के कारण उसकी आंखो मे लालिमा थी। आंखो की लालिमा फूलों पर उतर आई और उसे फूलो का रंग लाल दिखाई दिया, इसलिए हनुमान भी सही है। अनेकान्त-दृष्टि से दोनो का समाधान हो गया।

भगवान का एक विशेषण है 'अनन्त चक्षु'। भगवान एक ही सत्य का अनन्त दृष्टियों से प्रतिपादन करते है। अनन्त दृष्टियो के विना वस्तु के अनन्त धर्मो का ज्ञान नही हो सकता। जब तक भगवान मुक्त नही हो जाते, उनके बाहर की आखे दो ही होती है किन्तु भीतर की विवक्षात्मक दृष्टियां अनन्त है। इनके द्वारा ही सत्य का स्वरूप-बोध हो सकता है।

हिलते हुए पानी मे सूर्य का प्रतिबिम्ब हिलता हुआ दिखाई दिया। बच्चे ने कहा– सूर्य हिल रहा है और एक समझदार ने कहा– प्रतिबिम्ब हिल रहा है। इन दोनो कथनों की सत्यता को जानने के लिए अनेकान्त दृष्टि का उपयोग किया जाता है।

बच्चो की परीक्षा मे एक प्रश्न आया– पृथ्वी स्थिर है या सूर्य ? विद्यार्थी ने उत्तर लिखा– स्कूल मे पृथ्वी चलती है और सूर्य स्थिर है तथा घर मे सूर्य चलता है और पृथ्वी स्थिर है। बाल विद्यार्थी के इस उत्तर को हम गलत नही कह सकते। क्योकि बच्चे का दिमाग अपरिपक्व होता है। वह जैसा सुनता है वैसा ही अनुभव करता है। दो भिन्न स्थानो मे विपरीत बाते सुनकर वह उनको उसी रूप मे देखता है। यह विवक्षा-सत्य वहा होता है जहां सत्य को जानने पर भी उसे छिपाने की वृत्ति होती है।

बच्चे ने लकड़ी का घोड़ा बनाया। यद्यपि वह घोड़ा नही है, फिर भी साधु उसे घोड़ा ही कहता है, क्योकि लकड़ी कहने से बच्चे को बुरा लगता है।

एक पुरुष ने कारणवश स्त्री का वेश बनाया। साधु जानते है कि यह पुरुष है, फिर भी वे उसे स्त्री ही कहते है, क्योकि पुरुष कहने से उस रहस्य का उद्घाटन हो सकता है, जिसे वह छिपाना चाहता है। वर्तमान में जो वस्तु जिस रूप मे है उसे उसी रूप मे बताना व्यवहार सत्य है।

सत्य के अनेक प्रकार है, जैसे–नाम सत्य, स्थापना सत्य, द्रव्य सत्य, रूप सत्य, अपेक्षा सत्य, भाव सत्य आदि भिन्न-भिन्न अपेक्षाओ के आधार पर वस्तु की सत्यता प्रमाणित होती है।

आकाश को कब किसने देखा ? सामान्यतः हर व्यक्ति आकाश का रग नीला बताता है पर सिद्धाततः वह अरूप है। नीला रग व्यवहार सत्य है और अरूप सिद्धांतत सत्य। धर्म का कोई आकार-प्रकार नही है पर हमने उसको एक सीमा मे बाध दिया। उस सीमा-भेद से ही जैन, वौद्ध, वैष्णव आदि रूपो मे धर्म को जाना जाता

है। सम्प्रदाय के विना धर्म की पहचान नही होती पर सम्प्रदाय मे ही धर्म को जकड़ना उचित नही है। सम्प्रदाय को कोई सर्वथा मिटाना चाहे यह उसकी भूल है। सम्प्रदाय बुरा नही, बुरी है उसकी संकीर्णता। संकीर्णता को मिटाने का प्रयास हो, यह नितान्त अपेक्षित है।

राजा भोज की सभा में अनेक पडित थे। वे सब भिन्न-भिन्न मतावलम्बी थे। राजा उन सबको एक करना चाहता था। उसने सब पडितो को बुलाकर एक बड़े हॉल में बन्द कर दिया और आदेश दिया कि लड़कर या मिलकर जैसे भी हो, एक हो जाओ।

वहा एक जैन आचार्य थे। वे राजसभा में आए। राजा ने उनका स्वागत किया। आचार्य बोले–मै धारानगरी से विहार करके गुर्जर देश जा रहा हूं। वहा के लोग धारानगरी के सम्बन्ध मे जानकारी करना चाहे तो मै उन्हें क्या बताऊ? राजा ने अपने राज्य की गरिमा को अभिव्यक्ति देते हुए कहा- हमारे यहां सैकड़ो औद्योगिक कार्य है, सैनिको के अड्डे है, व्यापारी चौहट्टे है और चौहट्टे चौहट्टे मे सैकड़ो दुकाने है।

आचार्य– इतनी दुकाने अलग-अलग क्यो? एक ही वस्तु भिन्न-भिन्न दुकानो मे देखकर ग्राहको के दिमाग खराब नही हो जाएगे?

राजा–तो क्या किया जाए?

आचार्य–सबको एक कर दीजिए, एक बड़ी दुकान मे सब चीजें एक साथ ही मिल जाएगी।

राजा–इससे तो आफत बढ़ जाएगी। एक ही स्थान पर सारे लोगो की भीड़ जमने से काम भी नही हो सकेगा।

आचार्य– तो आप सब धर्म-सम्प्रदायों को एक करने की क्यो सोच रहे है?

राजा– धर्म सम्प्रदाय तो एक होने ही चाहिए। एकता होने से ही परस्पर प्रेम-भाव की वृद्धि हो सकती है, अन्यथा साम्प्रदायिकता का विष घुलता रहेगा और एक धर्म दूसरे से सर्वथा कट ही जाएगा।

आचार्य–ऐसा कभी सभव नही है। एक ही स्थान पर सब लोग एकत्रित होगे तो तनाव बढ़ेगा। तत्त्वज्ञान नही हो सकेगा और विचारों का भेद मनों के बीच एक दीवार खड़ी कर देगा।

आत्मगत धर्म मे कोई विभिन्नता नही होती। क्योकि क्षमा, सत्य, त्याग, आर्जव और समता प्रधान धर्म से किसका मतभेद होगा? किन्तु इस तथ्य को नही समझने के कारण लोग सम्प्रदायगत धर्म को महत्त्व देकर चल रहे है।

सत्य की उपासना करने वाले को सबसे पहले अभय की उपासना करनी होती

है । आज जन-मानस की धारणा यह वन रही है कि सत्य से काम नहीं चल सकता। मेरा अभिमत है कि अभय और सत्य की साधना से कलियुग में भी सतयुग लाया जा सकता है । किन्तु जिसे सब जगह काला-ही-काला दिखाई दे, उसके लिए तो हर युग कलियुग ही है ।

शास्त्रों में कहा है–'उड्ढं अहे तिरियं दिसासु'–सब दिशाओं मे कुछ-न-कुछ सुनाई देगा । जहां ससार है वहां दृश्य और श्रव्य सभी तत्त्व है । कोई व्यक्ति कितना ही एकान्त में रहे, वह विश्व के प्रभाव से तब तक अप्रभावित नही रह सकता जब तक उसे सत्य का साक्षात्कार न हो जाए । सत्य सार है, सत्य ही भगवान है । ऐसी आस्था का निर्माण होने से ही व्यक्ति सत्य की दिशा में गति कर सकता है । सत्य-सधित्सु व्यक्ति अनाग्रही होता है और होता है आत्मोन्मुख । अनाग्रह और आत्मोन्मुखता के माध्यम से ही वह अपनी मंजिल पा सकता है ।

क्षमा बड़न को होत है

जीवन के दो स्तर है–वैयक्तिक और सामूहिक। वैयक्तिकता निरपेक्ष जीवन
प्रतिफल है। सामूहिकता मे सापेक्षता की प्रधानता है। आत्मा की सन्निधि मे
क्ति निरपेक्ष रह सकता है। देह का सान्निध्य सापेक्षता की आवश्यकता अनुभव
राता है। यद्यपि व्यक्ति की स्वतंत्र सत्ता उसे निरपेक्ष मूल्य देती है। किन्तु जब
किसी समूह से प्रतिबद्ध हो जाता है, तब उसकी सार्वभौम सत्ता समाज मे सक्रात
जाती है। संक्रमण की परिस्थितियों से उत्पन्न होता है–मूल्यो का सघर्ष। व्यक्तिवादी
ोवृत्ति के लोग समूह मे रहने पर भी व्यक्ति को अतिरिक्त मूल्य देते है और
ाजवादी दृष्टिकोण से सोचने वाले व्यक्ति इस मूल्य को तोड़ने का प्रयास करते
। यह मूल्यो का संघर्ष पारस्परिक सघर्ष का रूप लेता है और संघर्ष मे व्यक्ति,
र्माण की धुरी पर खड़े होकर भी टूट जाते है।

मनुष्य को इस टूटन से बचने के लिए चार मार्ग बताए गए है–क्षमा, निर्लोभता,
जुता और मृदुता। इन मार्गो की दिशाएं भिन्न नही है। इनका प्रारम्भ कही से
केन्द्र एक है। एक केन्द्र की परिक्रमा करने के कारण चारो तत्त्व परस्पर सापेक्ष
। एक तत्त्व के परिपूर्ण विकास में शेष तत्त्वों का विकास सावकाश है। जो
क्ति अपने जीवन में क्षमा को मूल्य देता है, वह निर्लोभता, ऋजुता और मृदुता
उपेक्षित नही कर सकता; क्योंकि ये क्षमा के पारिवारिक सदस्य है। इस परिवार
पारस्परिक संबंधो मे कही कटुता या तनाव का प्रवेश नही हो पाता। इनका
दात्म्य सबंध इनकी अटूट एकता का प्रबल साक्ष्य है। इस एकत्व की छाया में
वन के क्षण जीने वाले व्यक्ति अपूर्व सुख और आनन्द की उपलब्धि कर सकते
।

मनुष्य को सुखी जीवन का सूत्र देते हुए बर्ट्रेंड रसेल ने कहा–'वही मनुष्य
वी है जो अन्य पुरुषों के साथ अपने संबंधो को न तो अचानक तोड़ देता है
र न उनमे विषैलापन उत्पन्न होने देता है। जिसके व्यक्तित्व में अन्य व्यक्तित्वो

के लिए स्थान है। जो समस्त मानव समाज के साथ आत्मीयता स्थापित करके आनंद का अनुभव करता है।'

उक्त मनःस्थिति का निर्माण सहिष्णुता के धरातल पर हो सकता है। जो व्यक्ति सहना जानता है, वह क्षमा के महान् आदर्श तक पहुंच सकता है। सामूहिक जीवन की सफलता और सरलता का राज है–सहिष्णुता। ईसा की सतरहवी शताब्दी मे जापान के तत्कालीन मंत्री ओचीसान का परिवार अपने सौमनस्य के कारण पूरे जापान में ख्याति प्राप्त कर रहा था। सौ व्यक्तियो का प्रबुद्ध परिवार। वर्षो से सयुक्त परिवार की परम्परा। कभी किसी छोटी-मोटी बात को लेकर परस्पर वैमनस्य नही हुआ। जापान के सम्राट यामार्तो के कानों तक यह बात पहुंची। उनके मन मे आश्चर्य का भाव जागृत हुआ। स्थिति की सही जानकारी प्राप्त करने के लिए वे मत्री के घर पहुंचे। उस परिवार का दृश्य सचमुच विस्मित करने वाला था। सम्राट् ने इस असीम सौहार्द के संबंध में जिज्ञासा व्यक्त की। परिवार का सबसे अधिक बुजुर्ग व्यक्ति वृद्ध हो चला था। वह बोलने में असमर्थ था। उसने सकेत से कलम और पत्र मंगवाकर कांपते हाथों से उस पर लिखा–'सहनशीलता'।

सहनशीलता क्षमा की निष्पति है। इसमें बड़े और छोटे का प्रश्न नही उठता। बड़े छोटो को सहन करते है और छोटे बड़ों को सहन करते है। इस सहने मे किसी के प्रति अहसान का भाव नही, आत्मधर्म की प्रेरणा होती है। जहा सहना पड़ता है या किसी स्वार्थ की पूर्ति के लिए सहा जाता है, वह विवशता है। क्षमा व्यक्ति का स्वभाव है। स्वभाव पर विभाव का प्रभुत्व हो जाता है तब ऐसा अनुभव होता है कि क्रोध स्वभाव है। और क्षमा के लिए प्रयत्न करना पड़ता है। मेरा अनुभव है कि क्रोध आगंतुक है। वह विशेष तत्त्व की प्रभुसत्ता प्रतिष्ठित होने पर होता है। इस प्रभुसत्ता को तोड़ने के बाद मनुष्य की धारणा में क्षमा सब गुणो की आधारशिला बनकर प्रतिष्ठा पाती है।

क्षमा वीरत्व की अलंकृति है। दुर्बल और विवश व्यक्ति द्वारा उद्‌गीत क्षमा का माहात्म्य उतना प्रखर नही हो सकता। महाकवि कालिदास ने क्षमा की सार्थकता बताते हुए लिखा है–'ज्ञाने मौनं क्षमा शक्तौ, त्यागे श्लाघाविपर्यय।'

ज्ञान की स्फुरणा में मौन की सार्थकता है। शक्ति-सम्पन्नता मे क्षमा की सार्थकता है और त्याग-भावना में आत्मगोपन या अप्रशस्ति की सार्थकता है। शक्ति के अभाव मे स्वीकृत 'क्षमा' का कवच व्यक्ति को कई अवांछनीय परिस्थितियो से त्राण दे तो सकता है, पर उससे क्षमा का वर्चस्व धुंधला हो जाता है। मन के प्रतिकूल परिस्थिति उत्पन्न होने पर संभावित क्रोध को शाति से प्रतिहत करने वाला व्यक्ति अपनी क्षमा को तेजस्वी बनाता है।

क्षमा के स्वरूप और उसकी क्रियान्विति के संबंध में कोई निश्चित सिद्धांत नही बन सकता। अपराध करने वालों और क्षमाशील रहने वालों की अनेक भूमिकाएं है। एक मुनि अपराधी व्यक्ति को क्षमा नही करता है तो उसका मुनित्व संदिग्ध हो जाता है। भगवान् महावीर के साधनाकाल मे कितनी बार प्रतिकूल परिस्थितियां पैदा की गयी। शूलपाणि यक्ष, चण्डकौशिक सर्प, संगम देव आदि ने अज्ञानवश कितने-कितने अपराध किये, पर भगवान महावीर के अन्तःकरण में उन सबके प्रति प्रेम की पवित्र धारा प्रवाहित होती रही। महावीर का महावीरत्व उनकी इस क्षमाशीलता में ही पल्लवित हुआ।

राजधर्म क्षमा को ऐकातिक महत्त्व नही देता। 'दुष्टस्य दण्डम्'–दुष्ट व्यक्ति को दंडित करना राजधर्म के अनुसार विहित है। दंडनीय को दंड न देना राजधर्म का लोप माना जाता है। इससे अराजकता को प्रोत्साहन मिलता है और अपराधी तत्त्व निरकुश हो जाते है। दण्डसंहिता की सारी धाराएं अपराधो का प्रतिकार करने के लिए है। समाज के साथ अपराध और अपराधों के साथ दंड-पद्धति का सृजन स्वाभाविक माना जाता है। किन्तु यह लोक-व्यवस्था या राज्य-व्यवस्था का सिद्धांत है। अध्यात्म की भूमिका इससे भिन्न है। इसमे अपराधी व्यक्ति स्वयं अपराध-शोधन के लिए प्रायश्चित स्वीकार करता है। अपराधी को बलात् दंडित करने या उसके प्रति क्रोध प्रदर्शित करने की बात क्षमा-धर्म द्वारा संभव नही है।

साधना के पथ पर अग्रसर साधको के लिए क्षमा के अतिरिक्त दूसरा मार्ग ही नही है। किसी की गलती पर क्रोध करना उसकी बुराई को स्वय पर ओढ़ना है। क्षमा का प्रभाव अप्रतिहत होता है। पर क्षमा-धर्म की साधना है बहुत कठिन। छोटी-छोटी बातो मे उलझने वाले व्यक्ति क्षमा के सागर की गहराइयो का स्पर्श भी नही कर सकते। क्षमा शब्द की निष्पत्ति क्षमुषड्–सहन करने के अर्थ में व्यवहृत क्षम् धातु से होती है। क्षमापरक सहनशीलता का अर्थ यह नहीं है कि व्यक्ति अपराधो की शृखला को सहता ही जाए, उसके प्रति उपेक्षा प्रदर्शित करे या आंख मूंद ले। अपराध के प्रति उपेक्षा भाव रखना अपने आप मे एक अपराध है। क्षमा की परिभाषा है– अपराधी को उसके अपराध की अनुभूति कराते समय अनुत्तेजित रहना। आवेश की परिस्थिति उत्पन्न होने पर भी चित्तवृत्ति को शांत रखना।

क्षमा विनिमय का सूचक तत्त्व है। क्षमादान और क्षमा का आदान यह प्रक्रिया साथ-साथ चलती है। इससे हीनता और अतिरिक्तता की गांठ नही पड़ती। क्षमा का स्वभाव एकागी होगा तो क्षमा देने वाले के मन मे अह के अंकुर फूट पड़ेगे और क्षमा लेने वाला हीन भावना से अक्रांत हो जायेगा। क्षमाशील व्यक्ति विनम्र होता है। उसमें एक विशेष प्रकार की लचक होती है। वह कभी टूटता नही।

अहं व्यक्ति को तोड़ देता है, पर झुकने नहीं देता। समूह चेतना को विघटित होने से बचाने वाला कोई तत्त्व है तो वह है क्षमा। अर्हतों का शौर्य उनकी क्षमाशीलता के द्वारा ही प्रबल बनता है। क्षमा वही व्यक्ति कर सकता है जिसका हृदय विशाल हो, जिसमें सहज सरलता हो और जीवन को अभिभूत बनाने वाली मृदुता हो। ओछी प्रकृति के व्यक्ति क्षमा की गरिमा से मण्डित नहीं हो सकते। इस तथ्य की पुष्टि में रहीम का वह पद्य आज भी कानों में अनुगुंजित हो रहा है—

"क्षमा बड़न को होत है छोटन को उत्पात।"

वर्तमान में जीना

मनुष्य क्रियाशील प्राणी है। लेकिन क्रियाशीलता मे कर्तव्य-अकर्तव्य का निर्धारण अपेक्षित है। बिना इस विवेक के क्रिया, कुक्रिया बन जाती है। मनुष्य के कार्यो की लम्बी-चौड़ी सूची है, जिनमे कुछ काम ऐसे है, जो ऑटोमेटिक होते रहते है, जिनके लिए अतिरिक्त प्रेरणा की जरूरत नहीं रहती, जैसे–खाना, नाश्ता, खेल-कूद, विश्राम आदि।

कुछ कार्य ऐसे है जो बिना प्रेरणा स्वतः नहीं होते। उनमें पहला कार्य है प्रमाद से बचना, बर्बादी से बचना। किसी भी प्रकार का व्यसन बर्बादी का सूचक है। व्यसन-ग्रस्त मानव चेतना-शून्य-सा हो जाता है, फिर उसे करणीय-अकरणीय का बोध नही रहता। इसलिए उसे आगम की भाषा मे कहा जाता है–"उट्ठिए णो पमायए"–मनुष्य ! उठ, प्रमाद मत कर। प्रमाद को रोकने के लिए दो कार्य करने आवश्यक है–रुकावट और संशोधन। इसी अर्थ के द्योतक जैन दर्शन में दो शब्द आये है–सवर और निर्जरा। नये सिरे से कचरा न आये, इसलिए किवाड़ बन्द कर लेना संवर या रुकावट है। जो कचरा आ चुका उसकी सफाई करना निर्जरा है, संशोधन है।

पूरी सफाई के लिए पहले स्रोत बन्द करना होगा। इसके लिए शास्त्रों मे एक प्रतिज्ञा सूत्र दोहराया गया है–'इयाणिं णो जमहं पुव्वमकासि पमाएणं' –अब मै वह कार्य नही करूंगा, जो मैने प्रमाद के वश पहले कर लिया है। इस प्रतिज्ञा-सूत्र के परिवहन से शीघ्र ही सफाई होनी संभव है। अन्यथा एक ओर से सफाई हो और दूसरी ओर से कचरा आता रहे तो कमरा साफ कैसे होगा ?

उत्तर प्रदेश की यात्रा में दमे का एक रोगी मेरे पास आया। खांसी और श्वास से वह परेशान हुआ जा रहा था। अपनी धारणा के अनुसार उसने कहा–बाबा ! मै बीमार हूं कुछ दवा बताओ। मैने समझाया कि मै कोई वैद्य या डॉक्टर नहीं, लेकिन उसने आग्रह किया, तब मैने कहा– 'क्या तम्बाकू खाते हो ?' उसने कहा–'हां, यह तो वर्षो से चलती है।' मैने कहा– 'यदि ठीक होना है तो पहले इस नशे

को छोड़ दो, वरना कोई दवा काम नही कर सकेगी।'

मेरे बहुत समझाने पर भी वह तम्बाकू छोड़ने के लिए तैयार नही था। जो आदत नही छोड़ सकता वह स्वस्थ कैसे हो सकता है ? अस्वस्थता का कारण है– उत्तेजना और चिन्ता। स्वस्थ बनने के लिए उत्तेजना को छोड़ना होगा। उत्तेजना वही छोड़ सकता है जो अपने आप मे रहना सीख गया हो। अपने आप मे रहने का अभ्यास होने के बाद जीवन तनाव-मुक्त हो जाता है। उत्तेजना और चिन्ता उसके पास तक नही आती। वह पूर्ण निश्चितता का जीवन जीता है।

जो भविष्य का अनुसधान नही करता, अतीत का चिन्तन नही करता, वर्तमान मे निश्चितता से रहता है, वह व्यक्ति स्वस्थ होता है। मनुष्य की एक समस्या है कि वह वर्तमान मे रहना ही नही जानता। कोई भविष्य की योजनाओ मे उलझा हुआ है तो कोई अतीत के चिन्तन मे।

भोजन देने नहीं, अक्ल लेने

सेठानी भोजन लिए बैठी है सेठजी की इन्तजार मे। लेकिन सेठजी आज किसी बड़े काम मे उलझे है। आखिर सेठानी बैठी-बैठी बोर हो चली। वह स्वय उठी सेठ को बुलाने। सेठ ने कहा– तुझे मालूम नहीं, आज मै सात पीढ़ी का इंतजाम कर रहा हू। थोड़ा-सा हिसाब बाकी रहा है। सेठानी सेठ की इस दूरदर्शिता पर खेद खिन्न हो उठी।

सेठ आया तो सेठानी ने कहा– जाओ, पड़ोस के महात्माजी को यह भोजन दे आओ। सेठ हैरान था, सोचा–इतनी देर से जल्दी मचा रखी है और मुझे ही खाना देने के लिए भेज रही है। मजबूर होकर वह महन्तजी के पास गया। उधर महन्त जी मस्ती मे झूम रहे थे। सेठ ने भोजन की मनुहार की, पर महन्तजी ने कहा–मै भोजन कर चुका हूं। अब आपका भोजन मुझे नही चाहिए। बहुत कहने पर भी जब महात्मा नही माने, तब सेठ ने कहा–महाराज! ऐसी क्या बात है! शाम को काम आ जाएगा। महात्मा ने कहा–मै शाम की चिन्ता नही करता। वर्तमान मे ही रहता हू।

यह बात सेठ पर गहरा असर छोड़ गई। उसने सोचा–सेठानी ने मुझे भोजन देने नही, अक्ल लेने भेजा है। कहां तो यह योगी जो शाम की भी चिन्ता नही करता और कहां मै जो सात-सात पीढ़ी के हिसाब मे खाना तक भूल गया।

वास्तव में वर्तमान में रहना साधुत्व का लक्षण है। श्रावक भी इसकी गहराई को समझकर इसे जीवन मे स्थान दे। मै समझता हू, धर्म की पहचान वेश, क्रियाकाण्ड या उपासना आदि नही, उसकी पहचान है–जीवन के व्यवहार। जो धर्म जीवन-

व्यवहारों मे न होकर उपासनाओ से जुड़ा है, वह वास्तविक धर्म नही है ।

श्रेष्ठ साधु वह है जो गुस्से की स्थिति मे भी गुस्सा न करे, विद्वान् होते हुए भी अभिमान न करे और जिसके विकार शात रहें, मन पवित्र रहे, जो समय का सदुपयोग करे ऊपर के नियम परिवर्तनशील है । उनका इतना महत्त्व नही है ।

प्रत्येक धार्मिक का कर्तव्य है, वह धर्म को जीवन का अनिवार्य अंग माने। भाग्य से बहुत सहज धर्म हमे प्राप्त है । धार्मिक बनने के लिए किन्ही महान् योजनाओ की अपेक्षा नही है । जीवन को व्यसन-मुक्त और आकाक्षा-मुक्त बनाया जाए, यही अपेक्षित है ।

आत्माभिमुखता

विषय-वासना, भोग, राग आदि न जाने कब से हमारे पीछे लगे हुए हैं ? कब से हमारे साथ है ? कब से परिचित है ? इस विषय में कुछ भी कहना बहुत कठिन है। छोटे बच्चे को रोना सिखाना नही पड़ता। थोड़ा-सा कष्ट पड़ते ही वह रोएगा। थोड़ी-सी भूख लगते ही वह रोएगा। मन में तड़प होते ही वह रोएगा। क्या रोना उसकी मां ने सिखाया है ? कभी नही। किन्तु यह सत्य है कि जब इच्छा सताने लगती है, तब रोना स्वयं आ जाता है। मां ने न हंसना सिखाया और न रूठना सिखाया। छोटे-छोटे बच्चे रूठ जाते है, आंखें बदल लेते है, जमीन पर लुढ़क जाते है, खड़े हो जाते हैं, काटने लग जाते है, नोचने लग जाते है। यह सब किसने सिखाया ? किसी ने नहीं। जन्म-जन्म के संस्कार उनको वैसा करने के लिए मजबूर करते है। परन्तु उन्हीं बच्चों को 'णमो अरहंताण' कितनी बार रटाना पड़ता है ? अनेक बार प्रयत्न करने पर भी उन्हें वह याद नही होता, क्योकि वह बच्चा उससे परिचित नहीं है। वन्दना करना, प्रार्थना करना सिखाना पड़ता है। क्योकि वह उनसे अपरिचित है।

प्रत्येक व्यक्ति अच्छी आकृतियां, अच्छे रस, अच्छी गंध और अच्छे स्पर्श के प्रति आकृष्ट होता है और उन्हें भोगने के लिए आकुल-व्याकुल रहता है। किन्तु जो योगी होता है वह इन सबसे दूर रहता है। वह कभी मूढ नहीं होता, रूप-रस आदि में आसक्त नहीं होता।

योग का अर्थ है—मोक्ष की साधना। मोक्ष की साधना अर्थात् मुक्त होने की साधना, संपूर्ण स्वातंत्र्य की साधना।

योग का अर्थ है—एक हो जाना। आत्मा के साथ एकीभाव हो जाना योग है। योग और योगी का एकात्मभाव है योग। धर्म और धर्मी दो है, किन्तु एक अवस्था ऐसी भी है जहां धर्म और धर्मी एक हो जाते हैं। यही उत्कृष्ट अवस्था है। जब तक सामायिक और सामायिक करने वाला एक नही हो जाता, तब तक सामायिक सफल नहीं होती। सामायिक शुद्ध तब होगी जब सामायिक करने वाला

सामायिक में पूरा ओत-प्रोत हो जाए। इसी प्रकार जब मनुष्य धर्म में ओत-प्रोत हो जाता है तभी वह धार्मिक कहलाता है, अन्यथा नहीं। ओत-प्रोत होना अर्थात् तल्लीन होना।

विषय भोगों से विराग होना, उनसे विरक्ति होना, सचमुच आश्चर्य की बात है। उसी प्रकार योग से, तपस्या से, धर्म से तादात्म्य स्थापित कर लेना भी आश्चर्य की बात है।

धर्म के साथ अभिन्न हो जाना कठिन कार्य है। किन्तु ऐसा हुए बिना धर्म का फल जो आना चाहिए, वह नही आता। आवश्यकता यह है कि धर्म के साथ हमारे सम्बन्ध इस प्रकार से जुड़ जाएं कि हम धर्म और अपने को दो नहीं मानें। धर्म करना हमारे लिए इतना अनिवार्य है जितना कि खाना अनिवार्य है। धर्म का भार ढोने वाले बहुत मिलेगे, परन्तु उसे आत्मसात कर चलने वाले बहुत कम मिलेंगे। अनेक मनुष्य मनुष्यपन का भार ढोते है। वे सब पशु जीवन जीते हैं।

गधा चन्दन का भार ढोता है। परन्तु उसकी सुगन्ध नही ले पाता। वह बेचारा चन्दन तो पा नहीं सकता, किन्तु पवन के साथ आने वाली सुगन्ध का भोग भी नहीं कर पाता, क्योकि वह तो भारवाही है। इसी प्रकार कुछ लोग केवल भारवाही होते है। मै यह कहने का अधिकारी नही हूं कि अमुक भारवाही है और अमुक नही। आप स्वयं सोचें। कौन साधु है और कौन साधुपन का भार ढोता है। कौन श्रावक है और कौन श्रावकपन का भार ढोता है, मै नहीं कहूगा, सब अपनी-अपनी सोचे। धर्म का भार ढोने वाला वह होता है जो दबाव पड़ने पर धर्म का आचरण करता है और दबाव न पड़ने पर पोल चलाता है। वह भारवाही है। अरे, सन्त क्या कहेगे ? बुजुर्ग क्या कहेंगे ? मुझे माला फेरनी चहिए– जो इस भय से धर्म करता है वह धर्म का भार ढोता है। अभ्यास की अवस्था में यह भय अवश्य हो सकता है, किन्तु आगे नहीं। कहने की जरूरत ही क्या है ? कौन आपको कहने आएगा कि रात को सोना है ? आप स्वयं समय पर सो जाते है। कौन कहेगा आपको कि पानी पीना है। प्यास लगते ही पानी पी लेते है। भीतर से जब पानी की मांग होती है, व्यक्ति पानी पी लेता है। वह किसी के कहने की प्रतीक्षा नहीं करता। इसी प्रकार धर्म के लिए भी भीतरी तड़प होनी चाहिए। किसी के कहने की आवश्यकता नही।

दो वर्ग होते है– एक होता है भारवाही और एक होता है अधिकारी। भारवाही मजदूर होता है और अधिकारी मालिक। आज मजदूर मालिक बनने लग गए है, इसका भी एक कारण है। आज के मालिक मजदूर को दास मानते हैं, इसलिए उनके मन में मालिक बनने की बात आ रही है। अगर उनको दास या नौकर

नही मानते, आदमी मानते तो शायद उनके मन मे मालिक बनने की बात नही आती ।

अब्राहम लिकन से पूछा गया--आप गणतंत्र का क्या अर्थ समझते है ?

उन्होने कहा--मै इतना ही अर्थ समझता हू कि मै किसी का दास बनना नही चाहता, क्योकि दास बनने में स्वतत्रता नष्ट हो जाती है । जब मै किसी का दास बनना नहीं चाहता तो दूसरे दास बनना क्यों चाहेगे ? मै दास बनना नही चाहता तो मालिक बनना भी नही चाहता । यह है गणतत्र । यह है गणतंत्र का दर्शन। सब अपने आप मे रहे । न कोई किसी का दास हो और न कोई किसी का स्वामी। सब अपने-अपने विचारो मे रहें । सब अपने-अपने स्वामी है । सब अपने-अपने नौकर है ।

हमारे धर्मसघ मे भी यही व्यवस्था है । सब साधु अपने-अपने स्वामी है तो नौकर भी है । आचार्य-शिष्य का सम्बन्ध दास-स्वामी का सम्बन्ध नही । वह पिता-पुत्र का सम्बन्ध है । अनुशास्ता और अनुशासित का सम्बन्ध आत्मीय नही होता। उसमे स्वार्थ बोलता है । पिता-पुत्र का सम्बन्ध आत्मीय होता है, उसमे हित बोलता है । कालूगणी कहा करते थे--ये सब साधु-साध्विया मेरे अग-प्रत्यग है । जैसे मनुष्य पैरो के बिना चल नही सकता, हाथ के बिना कपड़े नही पहन सकता, आख के बिना देख नही सकता, कान के बिना सुन नही सकता, मस्तिष्क के बिना सोच नही सकता, रीढ़ के बिना सीधा बैठ नही सकता, उसी प्रकार मै भी इन साधु-साध्वियो के बिना चल नही सकता, बैठ नहीं सकता, सो नही सकता । एक शब्द मे-- कुछ भी नही कर सकता । मै इनके बिना अपंग हो जाता हू । सब-के-सब मेरे अग-प्रत्यग है । अंग-प्रत्यग के बिना शरीर का अस्तित्व ही क्या है ?

अब्राहम लिंकन ने जो कहा कि कोई दास भी नही है तो कोई स्वामी भी नही है, वह व्यवस्था है गणतंत्र की । भगवान महावीर ने पचीस सौ वर्ष पहले यही बात कही और उन्होने कहा--

- किसी को दास मानना हिंसा है ।
- किसी पर जबरन अधिकार करना हिसा है ।
- किसी का शोषण करना हिसा है ।
- किसी को पीड़ित करना हिंसा है ।

जनतंत्र धर्म के लिए बहुत अनुकूल है । एकतंत्र में धर्म के लिए बहुत बाधाएं आती है और जनतंत्र में धर्म गतिशील रहता है । आत्माभिमुखता धर्म का प्रमुख अंग है । जो आत्मा के लिए काम करते है, वे धर्म को गतिशील बनाए रखते है और जो केवल शरीर के लिए काम करते है वे धर्म में बाधा उत्पन्न करते है ।

सुन्दरता के लिए कपड़े पहनना शरीर के लिए काम करना । स्वाद के लिए खाना भी शरीर का ही काम है । यह शरीर की नौकरी करना है, गुलामी करना है । स्वाध्याय करना, ध्यान करना, अध्ययन करना—ये सारे काम आत्मा के है । जो इनको करता है, वह धर्म को गतिशील रखता है । वह जड़ नहीं होता । वह होता है सक्रिय ।

जैन धर्म आत्मा की धुरी पर घूमता है । आचार्यो ने कहा—स्वाध्याय आत्मा है, ध्यान आत्मा है, चरित्र आत्मा है, ज्ञान आत्मा है, दर्शन आत्मा है । अगर हम आत्मा को नही पहचानते तो सब बेकार है । अगर हम आत्मा को पहचान लेते है तो आत्मस्थ हो जाते है ।

अग्नि से धुआं निकलता है । वह अपने आप ऊपर जाता है । उसे दूसरा कोई नही, स्वयं का हल्कापन ही ऊपर ले जाता है । जिस दिन हम भी इतने हल्के हो जाएगे, तब हमे कुछ खोजना नही पड़ेगा । मुक्ति स्वय प्राप्त हो जाएगी । पर यह काम है कठिन । एक वाक्य मे कहें तो जितनी आत्माभिमुखता, उतनी साधुता और शेष असाधुता ।

अध्यात्म-साधना की प्रतिष्ठा

भारतीय साधना-पद्धति में संन्यास और कर्मयोग का समान महत्त्व रहा है। गीता में कहा गया है–

'संन्यासः कर्मयोगश्च निःश्रेयस्करावुभौ ।'

संन्यास और कर्म योग दोनों ही निःश्रेयस्कर है। जैन तीर्थकरों ने संवर और निर्जरात्मक साधना पद्धति का विधान किया। संवर, निर्जरा को हम क्रमशः संन्यास और कर्मयोग कह सकते है। संवर निवृत्ति-प्रधान है और निर्जरा प्रवृत्ति-प्रधान। संपूर्ण सवर अथवा संपूर्ण संन्यास साधना के प्रारंभ मे संभव नही है, इसलिए निर्जरा अथवा कर्मयोग का विधान किया गया। इसी अशक्यता को ध्यान मे रखते हुए श्रीकृष्ण ने कहा–

"नहि देहभृतां शक्यं, त्यक्तुं कर्माण्यशेषतः ।
यस्तु कर्मफलत्यागी, स त्यागीत्यभिधीयते ॥"

देहधारियों के लिए समस्त कर्मो को छोड़ना–अकर्म होना शक्य नही है। इसलिए जो कर्म-फल का त्याग करने वाला है, उसे त्यागी कहा गया है। भगवान महावीर ने भी साधक के लिए अयोग अवस्था साधना की अन्तिम स्थिति मे स्वीकार की है। उससे पहले योग–मन, वचन और शरीर की प्रवृत्ति का सर्वथा निरोध सभव नही है।

आज की चिंतनधारा में संन्यास और कर्मयोग को अलग-अलग करके देखा जा रहा है। महर्षि अरविंद ने अपने साधना-क्रम मे संन्यास को कोई स्थान नही दिया। उन्होंने कर्मयोग का ही विधान दिया। इसी प्रकार कई विचारधाराएं तो संन्यास-विरोधी भी हो गई है। किन्तु मै संन्यास और कर्मयोग मे कोई विरोध नही देखता। मेरे अभिमंत से कर्म योग से साधना का प्रारम्भ होता है और संन्यास उसकी चरम अवस्था है। देहमुक्त अवस्था को प्राप्त करने के लिए संन्यास की स्वीकृति अनिवार्य है और संन्यास तक पहुंचने के लिए कर्मयोग की साधना से गुजरना अनिवार्य है। कर्मयोग के बिना संन्यास नहीं और संन्यास के बिना मुक्ति नही। फिर दोनो में विरोध कैसे हो सकता है ?

सन्यास से मेरा मतलव किसी वेशभूषा से नही है । वह तो मात्र संन्यास की परिचायक है । उससे न केवल औरों को संन्यास का परिचय मिलता है, स्वयं साधक को भी अपनी साधना का भान रहता है । भगवान् महावीर ने श्रमण-वेश-धारण के कारणो पर प्रकाश डालते हुए कहा है—जत्तत्थं च लोगे लिंगप्पयोयणम्—संयम-यात्रा के वहन के लिए तथा मुनि-स्वरूप के ग्रहण के लिए लोक में साधु-वेश का प्रयोजन है। इससे साधक को अपनी साधना का प्रतिपल ध्यान रहता है। समणोऽहं—मै श्रमण हूं, मुझे साधुत्व के प्रति जागरुक रहना है, यह विचार प्रतिक्षण उसकी स्मृति मे रहता है । इस प्रकार साधु-वेश का भी अपना महत्त्व और उपयोग है । किंतु संन्यास से यहां मेरा मतलब साधु-वेश से नही, आत्मा की उस स्थिति से है जब वह इन्द्रिय-जगत् से स्वयं ऊपर उठ जाती है । उस स्थिति के आये बिना कोई भी आत्मा अपना लक्ष्य पा नही सकती । कर्मयोग की साधना भी अकर्म की अवस्था मे से गुजरती हुई साध्य तक पहुंचती है ।

जन-समूह के बीच रहते हुए साधना करना तथा निर्जन जगल मे रहकर साधना करना—साधना के ये दो प्रकार रहे है । दोनो का अपना अलग-अलग महत्त्व है। दोनो के अपने स्वतन्त्र आयाम है । भगवान महावीर के समय मे भी दोनों प्रकार की परम्पराए प्रचलित थी । कुछ परम्पराएं एकांत साधना पर बल देती थी । भगवान महावीर ने कहा—साधना के तीन प्रकार है—

१ स्व-साधना

२. पर-साधना

३. स्व-पर-साधना

उन्होने कहा—मै अपने सघ में स्व-पर साधना का विधान देता हूं। मुनि अपनी साधना करे, औरो को भी साधना की प्रेरणा दे । ये दोनो उसकी साधना के अंग है।

यदि साधक का मन और इन्द्रियां उसके वश मे नही हैं, वह अरण्य मे जाकर क्या करेगा ? यदि उसका मन और इन्द्रियां वश में है, फिर वह अरण्य मे जाकर क्या करेगा ? प्रश्न अरण्य और शहर का नही, जितेन्द्रियता का है । जितेन्द्रिय व्यक्ति के लिए अरण्य या बस्ती मे कोई अन्तर नही होता । किन्तु जनसमूह के बीच रहने के कुछ अपने खतरे भी हैं, जिन्हें नजरअंदाज नहीं किया जा सकता। साधना की परिपक्वता के अभाव में साधक यदि जनसमूह के बीच रहे तो उसके सामने फिसलने का बहुत डर रहता है । आन्तरिक अविजित वासनाएं, महत्त्वाकांक्षाएं, लोकैषणाए और इन सबको उभारने वाले बाह्य आकर्षण—इन सबके बीच साधक अपना संतुलन रख सके, यह बड़ा कठिन होता है । आज के सुख-सुविधाप्रिय वातावरण को देखते हुए इस प्रश्न पर गंभीरता से विचार करना और अधिक आवश्यक है ।

मै समझता हूं इस दृष्टि से साधना की कुछ भूमिकाओं का होना आवश्यक है। मुमुक्षु व्यक्ति संन्यास के आरंभ में पांच महाव्रतों और चर्या के कुछ अन्य व्रतो को स्वीकार करता है। यह संकल्पों के स्वीकरण की भूमिका है। अहिंसा आदि का संकल्प करने मात्र से वह संपूर्णतया मनसा, वाचा, कर्मणा अहिंसक नहीं बन जाता है। उस अवस्था तक पहुंचने के लिए उसे बहुत खपना पड़ता है। बहुत तपना पड़ता है। उस खपने और तपने की प्रक्रिया में से गुजरने से पहले यदि वह जनसंकुल वातावरण में आ जाता है, तब साधना के क्षुण्ण होने का भय बराबर बना रहता है। इसलिए यह जरूरी है कि संकल्प-स्वीकार को ही लक्ष्य न मान लिया जाए, किन्तु उसे प्रथम मानते हुए अग्रिम सोपानों पर आरोहण की विधि दी जाए। इसके लिए एक निश्चित अभ्यास-क्रम का निर्धारण भी करना होगा। स्वाध्याय, ध्यान, तपस्या, योग—ये सब इस अभ्यास-क्रम में समाविष्ट होगे। इन सबकी निर्विघ्न साधना के लिए साधक को जनसंपर्क से दूर भी रहना होगा। मेरा विश्वास है एक निश्चित अवधि तक होने वाला अभ्यास साधना को परिपक्व बनायेगा, साधक को साधना का महत्त्व समझाएगा तथा संसार और मुक्ति के स्वरूप का भी विशद विश्लेषण देगा।

मेरे विचार से साधक अपने विश्वास और साधना को परिपक्व बनाने की दृष्टि से सर्वप्रथम जनसकुल-मुक्त वातावरण में जाए, फिर वह समाज के बीच आकर समाज-कल्याण का कार्य करे और शेष समय में फिर संपूर्ण समाधि की अवस्था में चला जाए। समाज से सर्वथा कटकर होने वाली साधना और साधना से भटक कर समाज-कल्याण की साधना—दोनों ही ऐकांतिक है। साधक को न साधना-पराङ्मुख होना चाहिए और न समाज-पराङ्मुख ही। वह अपनी साधना को अक्षुण्ण और परिपुष्ट बनाता हुआ समाज का भी मार्गदर्शन करे, मै इसे सर्वोत्कृष्ट साधना मानता हूं।

साधना और संप्रदाय का परस्पर क्या सम्बन्ध है, यह प्रश्न भी काफी जटिल है। संप्रदायों का जन्म तो इसलिए हुआ था कि साधना मे वे साधकों का सहयोग करें। किन्तु कालान्तर में सांप्रदायिक अभिनिवेश बढ़ता गया, उनमे साधना पक्ष गौण होता गया और एक-दूसरे से उत्कृष्ट दिखाने का मनोभाव मुख्य होता गया। सांप्रदायिक कट्टरता ने कलह के बीज बोये और जन-जन में प्रेम की भावना भरने वाला धर्म फूट और संघर्ष का कारण बन गया। आज लोगों का मानस पुनः प्रबुद्ध हो रहा है। इस स्थिति में यह आवश्यक है कि सप्रदाय अपने मुख्य प्रयोजन की ओर ध्यान दें। वे साधक की साधना में सहयोगी बनें, बाधक न हों। संप्रदाय को गौण स्थान देते हुए साधना को मुख्य स्थान दिया जाए। जैसे नौका मनुष्य को पार पहुंचाकर कृतकृत्य हो जाती है, वैसे ही संप्रदाय भी साधक को साधना

की एक भूमिका तक पहुंचाकर कृतकृत्य हो जाए। सांप्रदायिक आग्रह ने न साधना को तेजस्वी होने दिया है और न साधक भी उसके अभाव में लक्ष्य तक पहुंच पाए हैं।

अब प्रश्न शेष रह जाता है शास्त्र के स्वीकार का। साधना-काल में साधक किसी शास्त्र को स्वीकार कर चले या नहीं। आजकल इस विषय में काफी उलझन-भरा वातावरण सुनने को मिल रहा है। किन्तु मुझे इसमें उलझन जैसा कुछ भी नही लगता। शास्त्र अनुभव की वाणी है। जिस संत ने अपना लक्ष्य पाया, उसने अपने अनुभव के आधार पर साधना का स्वरूप, उसका मार्ग और मार्ग में आने वाले उतार-चढ़ावों का जो विश्लेषण दिया, उसी का नाम शास्त्र है। इस अनुभव की वाणी से यदि हम लाभ उठा सकते है तो उठाएं, यदि लाभ उठाना नहीं चाहते तो भी उस वाणी का अपना मूल्य कम नही होने वाला है। शास्त्र-वाणी को साधना मे मै बहुत सहयोगी मानता हूं। वेद, उपनिषद, बौद्ध-त्रिपिटक और जैन-आगम साहित्य हमारी अमूल्य थाती है। किन्तु हमारी उस भूल की ओर अवश्य इंगित करना चाहूंगा, जिसने इस वाणी का मूल्य घटाया है। वह यह है कि हमने या तो शास्त्र-वाणी की पूजा शुरू कर दी या उसे कोसना शुरू कर दिया किन्तु उससे लाभ नही उठाया। जिस गहराई में पैठकर इन शास्त्रों की सर्जना की गई, हमने वहा तक पहुंचने की कोशिश नही की। आज इस विषय में पश्चिम जगत् बहुत अवधानपूर्वक अनुसंधान कर रहा है। आत्म-जगत् के अनेक रहस्यों को खोजने में वह सफल भी हुआ है। इस उपलब्धि ने पश्चिम के लाखो-लाखो युवको को अध्यात्म विद्या की ओर आकृष्ट किया है, जबकि भारतीय युवा पीढ़ी अध्यात्म से पराङ्मुख-सी होती जा रही है। इसका एकमात्र कारण यही रहा है कि यहां उस अध्यात्मवासणी की केवल पूजा हुई, उसके माहात्य को केवल शब्दों से गाया गया, किन्तु उस अनुभव को प्राप्त करने की कोशिश नही की गई।

पश्चिम की आध्यात्मिक हलचल ने भारत का ध्यान भी इस ओर आकृष्ट किया है। भारत में भी अब जहां-तहां अध्यात्म, ध्यान, योग आदि की चर्चाएं सुनने को मिल रही हैं। इसे भी शुभ संकेत ही मानना चाहिए। किन्तु हमें इस बात को नही भूल जाना चाहिए कि अध्यात्म-साधना की सही प्रतिष्ठा तभी हो सकती है जब हम उसे अपने अनुभव के आधार पर वैज्ञानिक ढंग से प्रस्तुत करेगे।

मृत्यु दर्शन और अगला पड़ाव

ढाई हजार वर्ष पहले की बात है। उस समय पोलासपुर नामक नगर मे विजय नाम का राजा राज्य करता था। उनकी रानी का नाम था श्री। श्रीदेवी का आत्मज अतिमुक्तककुमार बचपन से ही धार्मिक वृत्ति वाला बालक था। एक दिन वह राजभवन से बाहर अपने मित्रों के साथ क्रीड़ा कर रहा था। वहा उसने भगवान महावीर के प्रमुख शिष्य इन्द्रभूति को देखा। राजकुमार उन्हें अपने घर ले गया। श्रीदेवी ने मुनि को अपने हाथ से भिक्षा दी। इन्द्रभूति भिक्षा लेकर लौटने लगे। राजकुमार ने उन्हें बीच मे रोककर पूछा—भन्ते! आप कहां रहते है? इन्द्रभूति बोले—मेरे धर्माचार्य भगवान महावीर इसी नगर के बाहर-श्रीवन उद्यान में ठहरे हुए है। मै उनके पास रहता हू। राजकुमार यह सुनकर बोला— भन्ते! मै आपके साथ चलकर भगवान महावीर के दर्शन कर सकता हूं? इन्द्रभूति ने बालक के भावुक मन की उत्सुकता को पढ़कर कहा—देवानुप्रिय! शुभ कार्य मे विलम्ब मत करो। तुम अभी भगवान के दर्शन करो।

राजकुमार अतिमुक्तक ने श्रीवन उद्यान में पहुंचकर भगवान् महावीर के दर्शन किए। अब तक वह अवस्था में बहुत छोटा था, पर उसका विवेक जागृत था। वह भगवान की वाणी सुनने के लिए समवसरण में बैठ गया। भगवान की देशना सुनकर उसका मन विरक्त हो गया। उसने भगवान महावीर को वन्दन कर निवेदन किया— भन्ते! मै आपके पास मुनि धर्म मे दीक्षित होना चाहता हू। मेरे माता-पिता राजभवन मे है। उनकी अनुज्ञा लेकर आपके चरणों में उपस्थित हो रहा हूं।

राजकुमार के इस निर्णय ने समवसरण में उपस्थित सभी लोगों को विस्मित कर दिया। इतना सौम्य! इतना सुकुमार! यह किशोर मुनि धर्म की चर्या का पालन कैसे करेगा? एक प्रश्नचिह्न उभर आया लोगों के मनों में। राजकुमार शातभाव से राजभवन मे पहुंचा। वहां माता-पिता को प्रणाम कर उसने दीक्षित होने के लिए अनुज्ञा मांगी।

राजा विजय और रानी श्री ने अपने किशोर पुत्र के इस अभिप्राय को उसकी बाल लीला मानकर टालना चाहा, पर राजकुमार अपने निर्णय पर अटल था। जब वह किसी प्रकार भी उस बात को छोड़ने के लिए राजी नहीं हुआ– तो वे बोले–पुत्र! तुम अभी तक बच्चे हो। क्या तुम धर्म को जानते हो? राजकुमार अपनी सहज ज्ञानधारा को प्रवाहित करता हुआ बोला–"जं चेव जाणामि त चेव न जाणामि, ज चेव न जाणामि तं चेव जाणामि। मै जो जानता हूं, उसे नही भी जानता हू। मै जो नही जानता हू, उसे जानता भी हू।"

राजा और रानी को राजकुमार की यह बात एक पहेली-सी लगी। वे बोले–पुत्र! हम तुम्हारी बात को समझ नहीं पाए है। तुम क्या जानते हो? और क्या नही जानते। स्पष्ट बताओ। राजकुमार बोला–जाणामि अह जहा जाएण अवस्सं मरियव्वं, न जाणामि अहं काहे वा कहि वा कहं वा कियच्चिरेण वा? मै जानता हू कि जो जन्म लेता है उसे अवश्य ही मरना होता है। पर यह नही जानता कि मरने वाले को, कहा कैसे, और कब मरना होता है। राजकुमार अतिमुक्तक ने इस छोटी-सी बात मे एक गूढ़ तत्त्व-दर्शन देकर बता दिया कि मृत्यु एक शाश्वत तत्त्व है।

मृत्यु एक शाश्वत तत्त्व है। यह अनुभूति प्रत्यक्ष प्रमाणित है, फिर भी इसके सम्बन्ध मे कोई दर्शन नही है। अब तक जितने ऋषि-महर्षि या संत महंत हुए है, उन्होने जीवन दर्शन की चर्चा की है। जीवन के बारे मे ऐसी अनेक दृष्टिया उपलब्ध है, जिनसे जीवन को सही रूप मे समझा जा सकता है और जिया जा सकता है। किन्तु मृत्यु को एक अवश्यंभावी घटना मात्र मानकर उपेक्षित कर दिया गया। मत्यु के पीछे भी कोई दर्शन है, इस रहस्य को अधिक लोग पकड़ ही नही पाए। यही कारण है कि जीवन-दर्शन की भांति मृत्यु-दर्शन लोक जीवन में उपयोगी नही बन सका।

जैन दर्शन एक ऐसा दर्शन है, जिसने जीवन को जितना महत्त्व दिया, उतना ही महत्त्व मृत्यु को दिया। बशर्ते कि वह कलात्मक हो। कलात्मक जीवन जीने वाला व्यक्ति जीवन की सब विसगतियों के मध्य जीता हुआ भी उसका सार तत्व खीच लेता है। इसी प्रकार मृत्यु की कला को समझने वाला व्यक्ति भी मृत्यु से भयभीत न होकर उसे चुनौती देता है। जैन-दर्शन मे इसका सर्वागीण विवेचन उपलब्ध है।

मृत्यु का अर्थ है–आयुष्य प्राण चुक जाने पर जीव का स्थूल शरीर से वियोग। इसके कई प्रकार है। उन सबका संक्षिप्त वर्गीकरण किया जाए तो मृत्यु के दो प्रकार होते है–बाल मरण और पडित मरण। असंयम और असमाधिम बाल मरण है। अकाल मृत्यु, आत्महत्या, अज्ञान मरण आदि सभी प्रकार के

में अन्तर्निहित हैं। संयम और समाधिमय मृत्यु पंडित मरण है। जीवन के अंतिम क्षणों में भी संयम और समाधि का स्पर्श हो जाए तो वह मरण पंडित मरण की गणना मे आ जाता है।

कुछ व्यक्ति मौत के नाम से ही घबराते हैं। वे जीवन को महत्त्व देते हैं। अपना-अपना चिन्तन है। मुझे इस सम्बन्ध में अपने विचार देने हों तो मै मृत्यु को वरीयता दूंगा। क्योंकि जीवन की सार्थकता भी मृत्यु पर ही निर्भर करती है। किसी व्यक्ति ने तपस्या की है, व्रतों का पालन किया है और जागरूकता के साथ धर्म की आराधना की है, उसका फल समाधिमय मृत्यु ही है। मृत्यु के इस दर्शन को जिसने समझा, उसने ही लिखा है–

तप्तस्य तपसश्चापि पालितस्य व्रतस्य च,
आराधितस्य धर्मस्य फलं मृत्युः समाधिना ॥

जैन-दर्शन के इसी कला पक्ष से प्रभावित होकर आचार्य हेमचन्द्र ने लिख दिया–

जिनधर्मविनिर्मुक्तो मा भूवं चक्रवर्त्यपि,
स्याम् चेटोऽपि दरिद्रोऽपि जिनधर्माधिवासितः।

जैन धर्म से वंचित रखकर मुझे कोई चक्रवर्ती भी बनाना चाहे, वह मुझे स्वीकार नहीं है। यदि मेरी आत्मा जिनधर्म से भावित है तो मुझे दास और दरिद्र बने रहने में भी कोई आपत्ति नहीं है।

व्यक्ति जीने के लिए तड़पता रहे और मृत्यु आकर उसे धर दबोचे, यह कोई बहुत अच्छी स्थिति नहीं होती। मौत को खुला आमंत्रण देना पुरुषार्थ का प्रतीक है। मृत्यु को निमंत्रण कब देना चाहिए ? इस सम्बन्ध मे जैन शास्त्रो मे पूरी प्रक्रिया बताई गई है। संक्षेप में वह प्रक्रिया इस प्रकार है–

चरे पयाइं परिसंकमाणो,
जं किंचि पासं इह मण्णमाणो।
लाभंतरे जीविय वूहइत्ता,
पच्छा परिन्नाय मलावधंसी ॥

साधक पग-पग पर दोषों से भय खाता हुआ और थोड़े से दोष को भी पाश मानता हुआ चले। जब तक नये-नये गुणों की उपलब्धि हो, तब तक जीवन को पोषण दे। जब यह ज्ञात हो जाए कि इस शरीर या जीवन से अब किसी विशिष्ट गुण की उपलब्धि नहीं हो रही है, तब विचारपूर्वक इस शरीर का ध्वंस कर डाले।

एक दृष्टि से देखा जाए तो जीवन और मृत्यु दोनो स्वाभाविक है। पर जो कुछ सहज रूप से घटित होता है, उसमें मनुष्य का कर्तृत्व क्या है ? मनुष्य का कर्तृत्व इसी में है कि वह अपने जीवन को कलापूर्ण बनाए और मृत्यु को भी कलापूर्ण

बनाए। कलात्मक मृत्यु के लिए एक विधि है सलेखना की। संलेखना के द्वारा कर्म, कषाय और शरीर कृश होने लगते है। शरीर की कृशता के साथ जब यह बोध हो जाए कि अब यह शरीर साधना में सहयोग नहीं कर सकता, उस समय अपने मनोबल का आकलन कर तीन प्रकार के आहार का परिहार कर देना चाहिए। इसके बाद धीरे-धीरे पानी भी छूट जाता है। उस स्थिति में आत्म-दर्शन का पथ प्रशस्त होता रहता है। अन्तःकरण की प्रबल भावना से अन्न और जल का परित्याग करने के बाद एक क्षण के लिए भी मृत्यु की आकांक्षा नहीं करना, यह मृत्यु का बहुत बड़ा दर्शन है। जैन दर्शन में इस स्थिति को अनशन या अपश्चिम मारणान्तिक संलेखना-झूसणा कहा जाता है।

मारणान्तिक संलेखना का व्रत स्वीकार करने वाले व्यक्ति के लिए पांच प्रकार की आकाक्षाएं वर्जित है–

–इस लोक संबंधी किसी भी भौतिक पदार्थ की आशंसा।

–परलोक सम्बन्धी किसी भी भौतिक पदार्थ की आशंसा।

–जीवन की आशंसा।

–मृत्यु की आशंसा।

–काम भोग की आशंसा।

इन पांच प्रकार की आशंसाओ से सर्वथा मुक्त होकर, सतत जागरूकता के साथ अपनी जीवन-यात्रा को समाप्त कर देना समूचे जीवन का निष्कर्ष पा लेना है। कितना विचित्र है यह मृत्यु का दर्शन, जिसमे जीने की आकाक्षा तो है ही नही मरने की भी कोई अकांक्षा नही। उस स्थिति में आकांक्षा रही है केवल आत्म-रमण की। आत्मलीनता के उन क्षणों में जो प्रस्थान करता है, उसका अगला पड़ाव भी निश्चित रूप से सुखद और शुभंकर होता है।

जीवन का परमार्थ

अरति-निवर्तन

मनुष्य कर्मशील प्राणी है। पुरुषार्थ उसका अलंकार है। वह जितना पुरुषार्थ करता है उतना ही चमकता है। पुरुषार्थहीनता अभिशाप है। यह जानकर भी व्यक्ति कर्म से पराङ्मुख होता है। अपनी अकर्मण्यता के लिए वह परिस्थितियो को दोषी ठहराता है। पर परिस्थितियां किसके सामने नही है ? पुरुषार्थी व्यक्ति उन्हे पार कर आगे बढ़ जाता है और निष्क्रिय उनके सामने घुटने टेक देता है।

गांव के सब लोग श्रमदान कर रहे थे। एक व्यक्ति वहा उदास खड़ा था। किसी ने पूछ लिया—भैया ! सब लोग काम कर रहे है, तुम हाथ क्यों नही बंटाते ? वह बोला—मै भूखा हू। भूखे पेट काम नही होता। गांव वालों का मन उसके प्रति करुणा से भर गया। उन्होने उसे भरपेट भोजन कराया। भोजन करने पर भी वह वैसे ही खड़ा रहा। उसे फिर पूछा गया—अब तुम काम क्यों नहीं करते हो ? वह बोला—पेट भर गया है, अब काम करने की स्थिति नहीं है लोगों ने समझ लिया कि इसे काम नही करना है। बहाना बनाना है।

कर्म के क्षेत्र में बहानेबाजी आन्तरिक निराशा की अभिव्यक्ति है। निराश व्यक्ति मेधावी नहीं बन सकता। भगवान् ने कहा है—'अरइ आउट्टे से मेहावी'—मेधावी वह है जो निराशा का निवर्तन कर लेता है।

पमत्ते गारमावसे

राजा बलभद्र और उसकी अग्रमहिषी मृगावती अपने इकलौते पुत्र बलश्री (मृगापुत्र) की विरक्ति से खिन्न हो उठे। उन्होने साधु-जीवन की कठोर चर्या से उसे अवगत किया। मृगापुत्र को संसार में किसी चीज से लगाव नहीं रहा। उसे अपने माता-पिता और पत्नियां भी बन्धन की प्रतीति कराने लगे। उसने अपनी मन.स्थिति का चित्रण करते हुए कहा—तात ! संसार दुःख से भरा है। जन्म दुख

है, जरा दुख है, मरण दुख है, रोग दुख है, संयोग दुख-है, वियोग दु.ख है। शरीर अनित्य है, अशुचिमय है। इसे आज नहीं तो कल छोड़ना होगा। मुझे इसके प्रति कोई आसक्ति नहीं है। मै प्रव्रज्या का प्रशस्त पथ स्वीकार करना चाहता हूं।

मृगापुत्र की अनासक्त चेतना का उसके परिवार पर प्रभाव था, फिर भी मोह का घेरा अब तक टूटा नही था। परिवार की ओर से उसे कहा गया—राजकुमार! कहां तुम्हारा यह कमनीय और कोमल शरीर तथा कहां श्रामण्य की कठोरता? तुम श्रमण धर्म का पालन नही कर पाओगे इसलिए अपने इस निर्णय को बदल दो।

मृगापुत्र ने अपने आत्मविश्वास को तोलकर कहा—'पमत्ते गारमावसे' घर मे वह रहता है जो प्रमादी होता है, आत्म-विमुख होता है। मैं अपनी आत्मा की पुकार सुन रहा हूं, मेरा प्रमाद टूट गया है, मै गृहवासी रहकर प्रमाद को प्रोत्साहन नहीं दूगा। इस प्रकार अपने परिवार को प्रतिबोध देकर वह मुनिधर्म में दीक्षित हो गया।

सत्य का आलम्बन

सत्य जीवन का परमार्थ है। इस अर्थ को समझने वाला व्यक्ति हर अर्थ को समझ सकता है। सत्य के पथ पर चलने वाले व्यक्ति के सामने प्रतिकूल परिस्थितियां आती रहती है, पर वह हसता-हंसता उन्हे पार कर देता है। सत्यनिष्ठ व्यक्ति आग्रही नही हो सकता। आग्रह सत्य में बाधा है। किसी भी व्यक्ति का सत्य तभी सत्य है जब वह दूसरे के सत्य को भी किसी-न-किसी रूप मे सत्य मानने के लिए तैयार रहता है।

सत्य स्पष्ट होता है। उसमे किसी प्रकार का अवरोध या संदेह नही रहता। आवरण सत्य में बाधक बनता है। विद्योतमा और उदयन के बीच में जब तक आवरण रहा, वे एक-दूसरे को चक्षुहीन और कोढ़-ग्रस्त मानते रहे। राजा प्रद्योत ने जानबूझकर उनके बीच मे आवरण डाल रखा था। एक दिन आकस्मिक रूप से वह आवरण हटा। राजकुमार और राजकुमारी यथार्थ के धरातल पर पहुच गये।

सत्य परिस्थिति-सापेक्ष तत्त्व नही है। वह अतीत मे सत्य था, वर्तमान मे सत्य है और भविष्य में सत्य रहेगा। अतः अपने संदिग्ध मन को समाधान देने के लिए सत्य का आलम्बन लेना अपेक्षित है। 'सच्चंति धिति कुव्वह' यह सूक्ति व्यक्ति को सत्य के प्रति समर्पित रहने की दिशा देती है।

असंदीन द्वीप

समुद्र में भटकता हुआ यात्री द्वीप को देखकर आश्वस्त हो जाता है। अंधेरे

रात में पथ भूले व्यक्ति को दीपक का प्रकाश सही पथ-प्रदर्शन दे देता है। भटकन के उन क्षणों में द्वीप और दीप का आलम्बन न मिले तो व्यक्ति अज्ञात भावी के हाथों में थपेड़े खाता रहता है।

द्वीप दो प्रकार का होता है—असंदीन और संदीन। संदीन द्वीप वह होता है जो कभी जल से भर जाता है और कभी जल-मुक्त रहता है। असंदीन द्वीप में कभी पानी नहीं भरता। इसी प्रकार संदीन दीप कभी जलता है और कभी बुझ जाता है। असंदीन दीप हर क्षण जलता रहता है।

धर्मसंघ को भी असंदीन द्वीप से उपमित किया जा सकता है। संसार समुद्र मे भटके हुए प्राणी को जब तक कोई निरापद आलम्बन नहीं मिलता है, वह शान्ति से जी नही सकता। मुमुक्षु व्यक्ति के लिए वैसा निरापद आलम्बन है धर्म। धर्माराधना का आधारभूत केन्द्र होने के कारण धर्मसंघ भी असंदीन द्वीप की भांति मनुष्य को त्राण देता है। आचार्यश्री भिक्षु ने जिस धर्मसंघ की नींव डाली, वह हमारे लिए 'जहा से दीवे असंदीणे'—असंदीन द्वीप बना हुआ है।

सुरक्षा : धर्म की या सम्प्रदाय की ?

सब्जीमंडी क्षेत्र के बधुओं ने एक बहुत बड़ा कदम उठाया है। आज का यह विशाल समारोह उसी कदम का क्रियान्वयन है। खुले मैदान मे आयोजित यह कार्यक्रम अनेक वर्गो के लोगों को लाभान्वित कर सकेगा।

आखिर चारदवारी तो चारदीवारी ही होती है। उन दीवारो को हमे तोड़ना ही होगा। इस बाहर की दीवार की अपेक्षा वैचारिक संकीर्णता की दीवार और अधिक भयावह होती है। मुझे प्रसन्नता है कि उस दीवार को ढहाने में भी हम काफी सफल हुए है।

ऐसे कार्यक्रमों को देखकर मेरे भीतर आनन्द छलकने लग जाता है। मै भाव-विभोर हो उठता हूं। लेकिन जब यह सुनता हूं कि इतना बड़ा समारोह हुआ और परिणाम कुछ भी नही निकला तो जरा उदास भी हो जाता हूं। मै उदास होता हू पर निराश कदापि नही होता। उदासी और निराशा ये दो भिन्न मनःस्थितियां है। उदास का अर्थ है तटस्थ– मध्यस्थ रहना। इसका वाच्यार्थ है श्रम करने पर भी यदि इच्छित सफलता न मिले तो हम अधीर न बने अपितु मध्यस्थ रहें। भगवान महावीर ने भी यही कहा था,"तुम उदास भले ही बनो पर निराश मत बनो।" उन्होने कहा–"रुको मत। चलते चलो। एक बार सफलता न मिले तो पुन. प्रयत्न करो।" मारवाड़ी कहावत भी इसी ओर संकेत करती है–"तीजै चावल सीजै, चौथे लोक पतीजै।" वस्तुतः पुरुषार्थ ही सफलता का द्वार है।

हम लोग मात्र औपचारिकता से ही यहां उपस्थित नही हुए है, अपितु सबके अन्तःकरण मे पवित्र भावनाएं है और कुछ कर गुजरने की प्रवल उत्कंठा है। यद्यपि मै बहुत दूर से चलकर आया हूं, लगभग सात मील से। पर यहां के सरस और शालीन वातावरण को देखकर मेरी थकान उतर गयी है।

हमारी हर प्रवृत्ति सोद्देश्य होती है। क्योंकि हमारे मुनिजन और साध्वीवर्ग प्रवुद्ध और चिंन्तनशील है। उनकी कोई भी प्रवृत्ति निरुद्देश्य कैसे हो सकती है? हमारी इन संगोष्ठियो का प्रमुख उदेश्य है–सदियो से छिन्न-भिन्न एकता की

को पुनः जोड़ना । इस दिशा मे हमारे अनेक मुनि प्रयत्नशील हैं ।

आस्तिक-नास्तिक, शून्यवादी-शाश्वतवादी, क्षणिकवादी-कूटस्थनित्यवादी जैसे परस्पर-विरोधी दर्शनों में स्याद्वाद के माध्यम से सामंजस्य स्थापित करने वाले जैन भी तुच्छ वैचारिक आग्रह पर अड़े रहे, छोटे-छोटे मतभेदों को लेकर लड़ते झगड़ते रहें– यह स्थिति कितनी हास्यास्पद है उनके लिए, जिनको अनेकान्त दृष्टि विरासत में मिली है ।

स्याद्वाद के परिप्रेक्ष्य में जागतिक समस्याओं का समाधान प्रस्तुत करने वाले जैन भी यदि उन समस्याओं में उलझे रहेंगे तो फिर वे विश्व को कुछ दिशा-दर्शन दे सकेंगे– यह आशा ही कैसे की जा सकती है ?

मैं चाहता हूं यदि हम अपने खोए हुए गौरव और प्रतिष्ठा को पुनः पाना चाहते है तो इन तीन बातों–पर गहराई से ध्यान दें । वे ये है–

हम सब संगठन में सहयोगी बनें, न कि विघटन में । कभी-कभी ऐसा होता है, हम संगठन या एकता की दिशा में कोई कदम उठाते है तो उसमें आपका सहयोग नही मिलता और आप यदि कोई प्रयास करते है तो हम अपना योगदान नही दे सकते ।

एकता का अर्थ यह नहीं है कि हम पांचों अंगुलियों को एक कर हाथ की कार्यक्षमता को ही समाप्त कर दें । अपितु उसका अर्थ है पांचों अंगुलियां अलग-अलग रहती हुई भी परस्पर सापेक्ष रहें । एकजुट होकर कार्य करें ।

भगवान महावीर ने स्थानांग सूत्र में धर्म और सम्प्रदाय के सम्बन्ध में धार्मिको की मन.स्थिति का चित्रण करते हुए बताया है कि जब धर्म या सम्प्रदाय पर कोई विपत्ति आ जाती है या व्यक्ति स्वयं किसी संकट से घिर जाता है तो ऐसी स्थिति में कुछ व्यक्ति सम्प्रदाय को छोड़ देते है पर धर्म को नहीं, कुछ व्यक्ति धर्म को त्याग देते है पर सम्प्रदाय को नहीं छोड़ते, कुछ धर्म को भी छोड़ देते है और सम्प्रदाय को भी, और कुछ व्यक्ति ऐसे दृढ़मना होते है कि वे न सम्प्रदाय को छोड़ते है और न धर्म को ।

धर्म और सम्प्रदाय दोनों की सुरक्षा करना अच्छी बात है, लेकिन जहां धर्म और सम्प्रदाय के बीच द्वन्द्व उपस्थित हो जाता है, वहां मात्र सम्प्रदाय को प्राथमिकता देना कहां तक उचित है ? होना तो यह चाहिए कि वहां हम सम्प्रदाय को गौण कर धर्म की हर कीमत पर सुरक्षा करें । लेकिन जटिल गुत्थी यही है कि जब भी एकता का प्रश्न उठता है सब अपने-अपने सम्प्रदायों की सुरक्षा के परिवेश में ही सोचने लगते है कि कही इस प्रक्रिया से हमारे संघ की परम्परा में तो कोई वाधा नहीं आने वाली है ? इस संगठन की सुरक्षा की चिन्ता मे धर्म गौण हो जाता है ।

पर क्या धर्म-शून्य संगठन की सुरक्षा का भी कोई मूल्य है ? धर्म की हत्या कर संगठन भी कैसे और कब तक जीवित रह सकता है।

भगवान महावीर ने तो यहां तक कहा कि जहा धर्म और वेश की सुरक्षा का प्रश्न हो, प्रसंग आने पर मुनि, वेश को छोड़ दे पर धर्म को न छोड़े। इस परिप्रेक्ष्य में अपेक्षा इस बात की है कि जैन शासन की एकता और प्रभावना का जहां तक प्रश्न है, अपनी संघीय परम्परा के व्यामोह में न फसे रहें। वहा हम अपने उदार चिन्तन और दृष्टिकोण का परिचय दे। हमारे उदारमना मुनि और महासतियां इस सम्बन्ध में गहराई से सोचें।

हम सब एक-दूसरे को सहन करना सीखें। आखिर हमें सहन कहाँ नहीं करना पड़ता ? सम्मिलित परिवार, सम्मिलित व्यवसाय और प्रोग्रामों में कितना कुछ सहना पड़ता है, तब कहीं सफलता प्राप्त होती है, जरा-सी प्रतिकूलता में सतुलन खो देने वाले व्यक्ति से किसी भी महान कार्य की आशा नही की जा सकती।

आर्य समाज मे दो प्रभावशाली नेताओं का वह घटना-प्रसंग आज भी हमारे लिए प्रेरक सिद्ध हो रहा है-

स्वामी दर्शनानन्दजी और श्रद्धानन्दजी दोनों ही आर्यसमाज के पहुंचे हुए साधक और प्रकाण्ड विद्वान् नेता थे। दोनो के सम्बन्ध स्नेहिल और प्रेम से परिपूर्ण थे। समय-समय पर मिलन और चर्चा-परिचर्चाएं होती रहती थी। सदा की भाति वे एक दिन शाम को मिले। गहरी शास्त्रीय चर्चाएं चल पड़ी। किसी प्रसंग को लेकर दोनों में कुछ खिचाव हो गया। दर्शनानन्दजी कुछ उत्तेजित हो गए। उन्होंने श्रद्धानन्दजी को कुछ खरी-खोटी, कड़वी-मीठी बाते सुना दी। तनावपूर्ण वातावरण मे ही गोष्ठी संपन्न हो गयी।

अपने स्थान पर लौटकर दर्शनानन्दजी ने आत्म-निरीक्षण किया। उनका चिन्तन मुड़ा। आवेग शान्त हुआ। अपनी गलती की अनुभूति कर उनका मन ग्लानि और पश्चात्ताप से भर गया। उन्होने श्रद्धानन्दजी के नाम एक विनय-पत्र लिखा और अपनी भूल के लिए क्षमा मांगी।

श्रद्धानन्दजी ने पत्र पढ़ा और उसके उत्तर स्वरूप एक पद्य लिखकर भेजा-

"अस्मानवेहि कलमानलमाहतानां,
येषां प्रकाण्डमुशलैरवदाततैव।
स्नेहं विमुच्य सहसा खलतां व्रजन्ति,
ये स्वल्पमर्दनवशान्न वयं तिलास्ते।"

दर्शनानन्दजी। क्या आपने हमें तिल समझ लिया है, जो थोड़ा से मलते अपने भीतर के स्नेह (तेल) को छोड़कर सहसा खल बन जाते हैं ?

चिन्तन को बदले । हमें उन कलमों–शाली-चावलों के समान समझें जो भारी-भरकम मूसलों से कूटे-पीटे जाने पर भी अधिक से अधिक उजले होते जाते है । आपने कुछ भी किया और कहा हो, मेरे मन मे अब भी आपके प्रति स्नेह की वही धारा बह रही है ।

हम भी इस उदाहरण से प्रेरणा लेकर अपने पारस्परिक सम्बन्धों को और अधिक मधुर. सरस और स्नेहसिक्त बनाएं ।

आने वाले निर्वाण शताब्दी समारोह की सफलता के लिए हम मिल-जुलकर कार्य करें । छत्तीस का अंक नही, अपितु तिरसठ का अंक बनकर रहें ताकि इस सुनहले अवसर के लिए हमने जो सपने संजोए है वे साकार हो सकें ।

आशा है सभी जैन सम्प्रदाय इन सूत्रो पर गम्भीरता से सोचेंगे और जैन शासन की प्रभावना के लिए बड़ा उत्सर्ग करने के लिए तत्पर रहेगे ।

आस्तिक-नास्तिक की भेद-रेखा

धर्म का सबसे बड़ा काम है 'अपनी महचान ।' 'अपने-आपको पहचाने बिना कोई व्यक्ति धार्मिक नही बन सकता । धार्मिक बनने का अर्थ रूढ़ क्रियाकांड मे प्रवृत्त होना या केवल वेशभूषा बदलना नहीं है । जो अपने-आपको पहचान लेता है, प्रत्येक काम विवेक से करता है और धर्म के सिद्धान्तो को जीवनगत कर लेता है, वही सच्चा धार्मिक है ।

जो व्यक्ति स्वयं को नहीं पहचानता है, वह कही भी भटक सकता है । एक दार्शनिक था । वह नीद टूटते ही सोचने लगा –'आत्मा क्या है ? परमात्मा क्या है ? मै कौन हू ?' इसी चितन मे वह घर से बाहर निकल गया । चलते-चलते वह एक निजी बंगले मे घुसने लगा । द्वार पर प्रहरी खड़ा था । उसने पूछा– "तुम कौन हो ?" यह सुनकर वह चौका । उसने प्रत्युत्तर में कहा–"मै कौन हूं, यह जानने के लिए ही तो भटक रहा हू । काश, मै अपने आपको पहचान पाता !"

यह एक उदाहरण है, इसके आधार पर यह जाना जा सकता है कि अपनी पहचान के अभाव मे व्यक्ति नही करने योग्य काम कर लेता है और नही कहने की बात कह देता है । आज संसार को जानने के लिए अनेक प्रयत्न हो रहे है किन्तु स्वयं की पहचान करने मे उदासीनता छा रही है । इस उदासीन वृत्ति से कोई भी व्यक्ति धार्मिक कहलाने का अधिकारी नहीं बन सकता ।

हमारे चिन्तन का एक बिन्दु यह है कि धार्मिक और अधार्मिक, आस्तिक और नास्तिक–इनमें अन्तर क्या है ? नास्तिक और अधार्मिक, पाप करता है तो क्या धार्मिक और आस्तिक कहलाने वाला पाप से सर्वथा उपरत है ? पाप वह भी करता है और यह भी । इसमें अन्तर है तो केवल विवेक-जागृति का है । एक नास्तिक व्यक्ति पाप करते समय प्रसन्न होता है और आस्तिक व्यक्ति उसे अपनी मजदूरी मानता है, इसलिए वह समय पर पापात्मक प्रवृत्ति कर भी लेता है तो बाद मे उसे बड़ा पश्चात्ताप होता है ।

आप आस्तिक है या नास्तिक, यह मुझे पूछने की आवश्यकता नही है । इस

प्रश्न का उत्तर आपका अन्त.करण स्वयं देगा । आस्तिक या नास्तिक का चिन्तन आपके दिमाग मे आ गया तो आप पानी जैसे सूक्ष्म जीवो की हिंसा में भी सावधान रहेंगे । पानी के जीवों की हिसा के लिए पृथक्-पृथक् शस्त्रों का कथन है । मन, वाणी और शरीर के द्वारा जीवो की हिंसा हो सकती है ।

भगवान महावीर ने कहा–'अदुवा अहिन्नादाणं अप्काय की हिंसा मे केवल हिसा ही नहीं है, चोरी भी होती है । अदत्तादान का अर्थ है–बिना दी हुई वस्तु का ग्रहण। प्रश्न हो सकता है कि पानी की हिसा के साथ चोरी का क्या सम्बन्ध है ? तालाब, कुआ, प्याऊ आदि जिनके अधीन है, उन्हे पूछकर पानी पीया जाता है । यह ठीक है, किन्तु वे तो तालाब आदि के मालिक है, पानी के जीवो के स्वामी तो नही है। पानी के जीवो ने कब स्वीकार किया कि हम आपके अधिकृत है । उनकी स्वीकृति के बिना उनका हनन करना चोरी नही तो क्या है ?

एक प्रश्न यह भी हो सकता है कि तीसरे अणुव्रत को ग्रहण करने वाला इस चोरी से कैसे बच सकता है ? यह सच है कि कोई भी गृहस्थ सूक्ष्म अदत्तादान से सर्वथा नही बच सकता किन्तु वह अपने लिए एक सीमा का निर्धारण कर सकता है । उस सीमा से अतिरिक्त जीवो की हिसा से वह बच सकता है तथा हिसा न करने से चोरी से भी बचाव हो जाता है । सम्पूर्ण हिसा या चोरी से न बच सके तो एक सीमा तक का बचाव तो हर व्यक्ति के लिए सम्भव है । साधु प्राणिमात्र की हिसा से सर्वथा बचते है, इसलिए वे चोरी से भी बच जाते है ।

कुछ व्यक्तियों का प्रश्न है–पानी पिलाने मे पाप है या नही ? इस प्रश्न के बारे मे, मै कुछ कहू इसकी अपेक्षा आप स्वय सोचो, यह अधिक उचित है । पानी पिलाने मे पाप बताकर लोगों को भड़काना ठीक नही है । भगवान ने इसे अदत्तादान पाप कहा है । पाप शब्द का प्रयोग दो अपेक्षाओं से होता है । जुआ, व्यभिचार, हत्या, क्रूरता, मासाहार, मद्यपान आदि लौकिक दृष्टि से भी पाप है । साधारणतया खाना-पीना लौकिक पाप नही है । इसके बिना दुनिया का काम नही चलता । इसलिए ऐसा करना आवश्यक हो जाता है । पानी पीना और पिलाना भी लौकिक दृष्टि से पाप नही है ।

दूसरी अपेक्षा आध्यात्मिक है । इस अपेक्षा से जो भी क्रिया मोक्ष से दूर ले जाती है, वह लौकिक दृष्टि से ऊची होने पर भी आध्यात्मिक नही है । लोक-दृष्टि से बड़े आदमी को फूलमाला पहनाना अच्छा काम है, पर अध्यात्म-दृष्टि से फूल को छूना भी पाप है । विवाह आदि के प्रसग पर मंगल दीप जलाना लोकमान्यता से अभीष्ट है, किन्तु तत्त्वतः इसमे असंख्य जीवो की हिसा होती है । अपेक्षा-भेद

से तत्त्व को समझना आवश्यक है। दोनो दृष्टियो-का मिश्रण कर देने से तत्त्व समझ में नही आ सकता।

मै व्यावहारिक दृष्टिकोण को मिटाना नहीं चाहता। धूप-दीप को मै अमागलिक कब कहता हूं ? किंतु अध्यात्म-मंगल का जहां तक प्रश्न है, उसके चार प्रकार है—अरिहत, सिद्ध, साधु और केवली-प्ररूपित धर्म। इन चारों के अतिरिक्त पाचवां मंगल कोई नही है। लौकिक दृष्टि से मनुष्य हर काम में भाग लेता है, इसमे निषेध करने जैसी कोई बात ही नही उठती।

आप स्वयं पानी पीते है, नहाते हैं, वस्त्र धोते है, दूसरे भी सब काम करते है। ऐसा करते समय कोइ आपसे यह नहीं पूछते कि इसमे पाप होगा या नही ? दूसरा कोई पानी मागता है तब आप पाप और धर्म का प्रश्न उपस्थित करते है। पानी के जीवो की हिसा जहा होती है वहां अध्यात्म-दृष्टि से पाप निश्चित है। लौकिक व्यवहार निभाने के लिए व्यक्ति क्या नहीं करता ? हिंसा से बचने के लिए विवेक रखना आवश्यक है। आप अपने विवेक से जितनी हिसा से बचते हैं, वह धर्म है।

अक्षमता अभिशाप है

प्राणी की स्वार्थ-चेतना उससे कोई भी गलत काम करवा सकती है। गलत काम करने के लिए बहाने भी बनाए जाते है। सबल व्यक्ति उनका प्रतिकार करने का प्रयास करते है और निर्बल प्राणी बिना कुछ किए उस व्यूह में फंस जाते है। स्वार्थ की यह चेतना मनुष्य जगत् की भांति पशु-पक्षियों मे भी देखी जा सकती है।

नदी के तट पर खड़े अनेक पशु पानी पी रहे थे। उनमें एक सिह और भेड़ का बच्चा भी था। वे दोनों थोड़ी-थोड़ी दूर पर पानी पी रहे थे। सिह ने उसे देखा और मुंह में पानी भर आया। वह उस समय आक्रमण करने के लिए भूमिका निर्माण करते हुए बोला—ऐ भेड़ के बच्चे! देखते नही, सारा पानी गन्दा कर दिया। तुम्हारा मुंह लगने से सारा पानी जूठा हो गया।

भेड़ का बच्चा सहमता हुआ बोला—वनराज! आप जगल के स्वामी है। आपसे मै क्या निवेदन कर सकता हूं? फिर भी यह तो साफ दिखाई देता है कि पानी आपकी ओर बह रहा है या मेरी ओर? मै ढलान मे खड़ा हू। ऐसी स्थिति में मेरा जूठा हुआ पानी आपकी ओर कैसे आ सकता है?

सिह बाजी हार चुका था, पर उसने दूसरा तर्क उपस्थित कर कहा—आज से एक साल पहले तुमने मुझे गाली दी थी, मै उसका बदला लूगा। भेड़ का बच्चा बोला—आप कुछ भी कहे, मै प्रतिवाद करने की स्थिति मे नही हू, पर एक साल पहले मेरा जन्म ही नही हुआ था। तब मैने आपको गाली कहा दी और कैसे दी?

सिह अपना वार खाली जाता देख थोड़ा उत्तेजित हो उठा और भेड़ के बच्चे को ललकारते हुए बोला—सामने बोलते हो, तुम्हें शर्म नही आती? तुमने नहीं तो तुम्हारे बाप ने मुझे गाली दी थी और उसका दण्ड तुम्हें भुगतना पड़ेगा, इतना कहकर वह उस मासूम बच्चे पर झपट पड़ा।

आसपास खड़े कई पशुओं ने उस निर्मम हत्या को देखा, किन्तु कोई एक शब्द भी नहीं बोला। कुछ पशु सोच रहे थे कि इस प्रकार झूठा आरोप लगाकर

प्राण लेने की अपेक्षा चुपचाप आक्रमण कर देता तो अच्छा था । पर वे भी कुछ बोलने की स्थिति मे नहीं थे ।

आरोपों, प्रत्यारोपों का यह सिलसिला समाज में द्वैध पैदा करता है । सामाजिक चेतना को उन्नत बनाने के लिए यह आवश्यक है कि आरोपण और संशयशीलता की स्थिति मे सुधार हो । जिस समय मनुष्य अन्तर्मुखी चेतना को विकसित कर उक्त वृत्तियों मे संशोधन करेगा, उसी समय वह अपने और अपने समाज के अस्तित्व को अभयदान दे सकेगा ।

जो व्यक्ति और समाज अक्षम होते है, उन्हें दूसरे दबाने की कोशिश करते है । अक्षमता अभिशाप है । हिंसा और विद्रोह की भावना से मुक्त क्षमता का अर्जन करने वाला व्यक्ति अपनी आध्यात्मिक चेतना से हर परिस्थिति मे आगे बढ़ सकता है । भेड़ के बच्चे की भांति दुर्बल क्षण-क्षण भयभीत रहते है और अनैतिक शक्तियों का मुकाबला करने में अक्षमता का अनुभव करते है ।

अनूठी दुकान : अनोखा सौदा

इतनी बड़ी सभा और यह शान्ति ! ऐसा प्रतीत होता है कि सब लोग ग्राहक बन कर आए है। ग्राहक आए है तो हमने भी अपनी दुकान खोल ली है। उपस्थित लोग पूछ सकते है कि क्या आप बनिए है, जो व्यापार करते है ? आप ही बताइए हम वणिक् नही हैं तो कौन ? वैसे भी हमारे अधिक साधु वणिक् कौम से सम्बन्धित रह चुके है। हमारा व्यापार भी निरन्तर चलता है। दिन में चलता है, रात्रि मे भी चलता है। आप लोगो के व्यापार में अवकाश के दिन भी होते है, पर हमारे यहां अवकाश को अवकाश ही नही है। आज रविवार है तो भी हमारी दुकान पर कितनी भीड़ लगी है।

बनिए की दुकान पर कोई मात्र दर्शक बनकर आए तो न दुकानदार को लाभ मिलता है और न आने वाला ही कुछ ले पाता है। वहां तो ग्राहक बनकर जाने से ही काम होता है। ग्राहक को कैसे पटाना चाहिए। इस कला मे वणिक् दक्ष होते है। इस माने में हम भी कम दक्ष नही है। क्योकि हम पक्के व्यापारी है। आप पूछेंगे—क्या व्यापार है आपका ? बताऊं आपको ? हमारी दुकान में कोई एक ही चीज नहीं है। अनेक दुर्लभ वस्तुएं यहां मिलती है। इनमें से कुछ वस्तुओ की जानकारी मै आपको करा देता हूं। ध्यान से सुनिए—

जिनेन्द्रपूजा गुरु-पर्युपास्तिः,
सत्वानुकम्पा शुभपात्रदानम् ।
गुणानुरागः श्रुतिरागमस्य,
नृजन्मवृक्षस्य फलान्यमूनि ॥

हम फलों के व्यापारी है। हमारे पास एक ऐसा वृक्ष है, जिससे अनेक प्रकार के फल प्राप्त हो सकते है। वह वृक्ष आपके पास भी है, पर उसकी समुचित देखभाल किए बिना फल नहीं मिल पाते। वे फल अमृत फल की तुलना मे भी अधिक महत्त्वपूर्ण है। संभवतः आप सबके मन ललचा रहे होंगे उन फलो को देखने के लिए और पाने के लिए। फलों से पहले वृक्ष का परिचय पाना जरूरी है। वह

वृक्ष है 'मनुष्य जन्म' । उसके अनगिन फल है, जिनका अपना स्वाद है, अपना रूप-रंग है, अपनी मिठास है और अपने गुण है। उन फलो मे पहला फल है–'जिनेन्द्र पूजा' । जिनेन्द्र से हमारा अभिप्राय है अर्हत् या तीर्थंकर । अर्हतों की पूजा कभी धूप, दीप आदि से नहीं हो सकती । ऐसा करते है कुछ लोग, पर हमारी उनके साथ सहमति नहीं है । हमारे अर्हतों की पूजा का अर्थ है उनकी उपासना, उनके सान्निध्य मे रहना और उनकी अर्हता का अनुसंधान करना । यह बात केवल मै ही नही कह रहा हूं, आद्य शंकराचार्य ने भी इसी सन्दर्भ में अपना अभिमत व्यक्त किया है। डॉ० संपूर्णानन्द के शब्दों में वे भयंकर विद्वान् थे । उन्होंने पूजा और उपासना का विरोध किया । उन्होंने कहा–

मोक्ष साधनसामग्र्यां भक्तिरेव गरीयसी ।
स्वस्वरूपानुसंधानं भक्तिरित्यभिधीयते ॥

मोक्ष साधने की सामग्री में भक्ति का स्थान सर्वोपरि है, पर भक्ति का अर्थ यह नहीं कि व्यक्ति अपने आराध्य को स्नान कराए, चन्दन से चर्चित करे, फूल चढ़ाए या ऐसा ही और कुछ करे । भक्ति का अर्थ है अपने स्वरूप का अनुसंधान। यही सच्ची भक्ति है और यही सच्ची उपासना है । अर्हत् पूजा से मेरा मतलब है अर्हत् के स्वरूप का अनुसंधान । इस अनुसंधान के माध्यम से अपना अनुसंधान होता है, अपने स्वरूप की प्राप्ति होती है, जो हर धार्मिक व्यक्ति के लिए इष्ट है।

मनुष्य जन्म का दूसरा फल है–गुरु की उपासना । गुरु की उपासना से ज्ञान मिलता है । यह प्रश्न हो सकता है कि ज्ञान के साथ गुरु का क्या सबंध है । वह तो पुस्तको से मिलता है, पुरुषार्थ से मिलता है । स्थूल दृष्टि से यह बात ठीक हो सकती है पर तत्त्वत. ज्ञान का गुर गुरु के द्वारा ही मिल सकता है । क्योकि 'गुरु विना ज्ञान' जैसे 'अंधेरे मे आरसी' । दर्पण मे कोई भी व्यक्ति अपना चेहरा देख सकता है, पर तभी जब प्रकाश हो । अंधेरे में कितने ही दर्पण इकट्ठे कर लिये जाए, कुछ भी दिखाई नही देगा । इसी प्रकार कितने ही शास्त्र और ग्रन्थ पढ़ लिये जाएं, किन्तु गुरु-परम्परा से जो ज्ञान मिलता है वह स्वत पाठ करने से नही मिल सकता । गुरु ज्ञान के खजाने होते है और ज्ञान मोक्ष का प्रकृष्ट साधन है । ज्ञान के अभाव मे की गई क्रिया उस रूप मे फलदायिनी नही हो सकती ।

अनुकम्पा उस वृक्ष का तीसरा फल है । यह फल जिसे उपलब्ध हो जाता है, वह क्रूर नही हो सकता, वह पापात्मक आचरणो से अपनी रक्षा करता है तथा दूसरो की भी रक्षा करता है । प्राणीमात्र के प्रति उसका मन शुभ भावना से भावित रहता है ।

सुपात्र दान उस वृक्ष का ऐसा फल है जो तत्काल आनन्द की अनुभूति करा

देता है । इसमें दाता, देय और दान ग्रहण करने वाला—तीनों की विशुद्धि अनिवार्य है ।

गुणानुराग भी एक ऐसा अच्छा फल है जो भीतर और बाहर दोनो ओर से मधुर होता है । इसकी मधुरता प्रमोदभावना से अभिव्यक्त होती है ।

आगमों का श्रवण मनुष्य-जन्म रूप वृक्ष का दुर्लभतम फल है । इसका रसास्वादन जिसे हो जाता है, वह अपने जीवन की अज्ञात और अविकसित शक्तियो को स्फुरित करने मे समर्थ हो जाता है ।

और भी न जाने कितने मधुर और रुचिकर फल है उन सबकी अलग-अलग पहचान कराई जाए तो एक अन्तहीन शृंखला बन जाएगी । इसलिए मै उन सब फलो को एक शब्द से अभिहित करता हूं । वह शब्द है धर्म । अब आप समझ गए होगे कि हमारी दुकान मे धर्म का सौदा मिलता है ।

धर्म के संदर्भ में लोगो का एक प्रश्न रहता है कि संसार मे अनेक धर्म है और अनेक धार्मिक है । पंडे, पुजारी, सन्त महन्त, मौलवी, ग्रन्थी आदि धर्मपुरूष धर्म का इतना उपदेश देते है, पर उसका कोई परिणाम नहीं आता । धर्म की बात सुनते है, पर मन टिकता ही नहीं । प्रश्न नया नहीं है । बहुत प्राचीन समय से यह प्रश्न मन को झकझोर रहा है । पर इसका समाधान तब तक नही मिलेगा, जब तक मनुष्य धर्म के तल तक नहीं पहुंचेगा ।

गुरुगोविंद साहब के कुछ शिष्य एक बार उनके पास आकर बोले—गुरुदेव ! प्रतिदिन जप करते है, पर उससे कोई लाभ नही होता, मन की चचलता समाप्त नही होती, क्या कारण है इसका ? गुरुजी ने कहा—आज तुम सब जाओ, तुम्हारे इस प्रश्न का उत्तर मै बाद मे दूंगा । शिष्य चले गए । कुछ समय बीतने के बाद गुरुजी ने शिष्यों को आमत्रित कर आदेश दिया— तुम सब मदिरा से भरा हुआ एक घड़ा लाओ और उससे कुल्ले कर घड़े को खाली कर दो । शिष्यो ने वैसा ही किया । घड़ा खाली होने के बाद वे पुनः गुरुगोविद सिह के पास पहुचे । गुरुजी ने पूछा—घड़े की सारी मदिरा समाप्त कर दी ? उन्होने स्वीकृति सूचक उत्तर दिया । गुरुजी का दूसरा प्रश्न था—तुममे से किसी पर भी मदिरा का नशा नही चढ़ा ? वे एक साथ बोले—गुरुदेव ! नशा कैसे चढ़ता, हमने उसे गले से नीचे उतारी ही नही । गुरुजी ने मुस्कराते हुए कहा—अब तुम्हे अपने प्रश्न का उत्तर मिल गया ? शिष्यो ने विस्फारित नेत्रों से गुरुजी की ओर देखा तो उन्होने इस प्रयोग का रहस्योद्‌घाटन करते हुए कहा—गले से नीचे उतरे बिना मदिरा का प्रभाव नही होता तब भगवद्-नाम का असर भी कैसे होगा । तुम लोग जप करते हो, पर ऊपर-ऊपर से । जब तक हृदय से जप नही करोगे, उसमे डूब नही जाओगे, तल्लीन नही हो जाओगे,

रूपान्तरण नहीं हो सकता। शिष्यों को अपने प्रश्न का उत्तर मिल गया।

भगवान महावीर के सामने भी यह प्रश्न आया था। उनके शिष्यों ने भी पूछा था कि जीवन में धर्म का असर कैसे हो सकता है ? भगवान् महावीर ने धर्म को प्रभावी बनाने का पहला उपाय बताया—धर्म का सही अर्थ में श्रवण। लोग धर्मोपदेश सुनने के लिए आते है, पर सुनना बहुत कम लोग जानते हैं। आप यहा श्रोता बनकर बैठे है, पर नींद में ऊंघते रहेगे तो क्या सुनेंगे ? आचार्य भिक्षु एक बार प्रवचन कर रहे थे। श्रोताओं की भीड़ थी सामने। उनमे एक व्यक्ति, जिसका नाम था आसोजी। वे आगे बैठे नीद ले रहे थे। आचार्य भिक्षु ने उसे टोकते हुए कहा—आसोजी ! नीद ले रहे हो ? भाई बोला—नही महाराज ! वह फिर से ऊंघने लगा। आचार्य भिक्षु द्वारा दो-तीन बार पूछने पर भी उसने यही उत्तर दिया—नही महाराज। इस बार आचार्य भिक्षु ने पूछा—आसोजी ! जी रहे हो ? वह भाई ऊंघ मे ही बड़बड़ाता हुआ बोला—नही महाराज। पूरी सभा खिलखिलाकर हंस पड़ी। सामूहिक खिलखिलाहट से आसोजी की मूर्च्छा टूटी, तब उन्हें अपनी स्थिति का भान हुआ।

मुझे भी ऐसा प्रतीत होता है कि सही रूप मे सुनने वाले, ग्राहक भाव से तथ्यो को पकड़ने वाले श्रोता बहुत कम होते है। भगवान महावीर ने धर्म-श्रुति के बाद दूसरा तत्त्व बताया—श्रद्धा। जो कुछ सुना जाता है, उस पर विश्वास न हो तो सुनने का विशेष अर्थ नही हो सकता। गहरे विश्वास के साथ सुनी हुई बात ही दिल को छू सकती है। विश्वास के साथ आवश्यक तत्त्व है आचरण। तत्त्व को सुन लिया, उस पर विश्वास भी कर लिया, पर आचरण नही किया तो कोई परिणाम नही आ सकेगा। भोजन सामने पड़ा है। मन में दृढ़ विश्वास है कि भोजन करने से भूख समाप्त हो जाएगी, पर जब तक भोजन नही किया जाता है, भूख कैसे मिटेगी। धर्म भी जब तक व्यक्ति के आचरण का विषय नही बनता है, उससे जीवन मे कोई परिवर्तन नही आ सकता। श्रुति, श्रद्धा और आचरण तीनो हो, फिर भी धर्म का असर न हो, यह हो नही सकता। श्रुति और श्रद्धा के साथ सम्यक् आचरण हो जाए तो धर्म के प्रभाव की निश्चित गारंटी मै दे सकता हूं।

स्थिति आज इससे भिन्न है। लोगो का विश्वास धर्म पर नहीं, चमत्कार पर है। सतो के दर्शन करें, उनसे मंगल पाठ सुने, इससे सन्तति-लाभ हो जाए, व्यापार मे लाभ हो जाए, वर्षो से उलझा हुआ काम सुलझ जाए तो संत अच्छे हैं अन्यथा उनके पास जाने की इच्छा नही होती। बन्धुओं ! मै आपसे स्पष्ट क[illegible] चाहता हूं कि ऐसे चमत्कारो में मेरा कतई विश्वास नही है। मेरे पास ऐसे कई हैं जिनके चरण स्पर्श से व्यक्ति स्वस्थ हो सकता है, जिन[illegible]

करने से लाभान्वित हो सकता है, पर कोई साधु-साध्वी चमत्कार दिखा नही सकते। यदि कोई ऐसा करे तो वह प्रायश्चित्त का भागी होता है, क्योकि भगवान महावीर ने साधु-साध्वियों को चमत्कार दिखाने की अनुज्ञा नही दी है ।

इन चमत्कारो ने धर्म और अध्यात्म का जितना अहित किया है, शायद ही किसी ने किया हो । चमत्कारों में ही अपनी साधना की सफलता समझने वाला साधक साधना के योग्य हो ही नही सकता । स्वामी रामकृष्ण परमहंस का नाम आपने सुना ही होगा । उन्हें एक योग्य शिष्य की अपेक्षा थी, जो उनके आध्यात्मिक दृष्टिकोण को विकसित कर सके । शिष्य की खोज करते-करते उन्हें एक युवक मिला । नाम था उसका नरेन्द्र । वह जिज्ञासु था और समर्पित भी था । शिष्य की योग्यता का परीक्षण करने के लिए उन्होंने एक दिन उसे अपने पास बुलाकर कहा--नरेन्द्र ! मेरे पास कुछ जादुई करिश्मे है । उन्हें देखकर दुनिया चकित हो सकती है । मै चाहता हूं कि उनके गुर तुमको सिखा दूं । क्या तुम तैयार हो ? नरेन्द्र दो क्षण सोचकर बोला--गुरुदेव ! उन करिश्मों से मेरी मुक्ति हो जाएगी ? दुनिया को चकित करने से मुझे ज्ञान मिलेगा ? रामकृष्ण ने उत्तर दिया--ऐसा कुछ नही होगा । नरेन्द्र ! पर तुम संसार में चमक जाओगे, नाम और प्रतिष्ठा के साथ पैसा भी प्राप्त कर सकोगे ।

नरेन्द्र यह सुनकर एक पल के लिए भी विचलित नही हुआ । उसने दृढ़ता से कहा--नही चाहिए गुरुदेव ! मुझे यह सब कुछ । मुझे तो आप वह ज्ञान दे, जिससे मै मुक्त हो जाऊ । रामकृष्ण को नरेन्द्र पर पूरा विश्वास हो गया । यही नरेन्द्र आगे चलकर विवेकानन्द के नाम से प्रसिद्ध हुआ, जिसने अपनी ज्ञान चेतना से अनेक लोगों को लाभान्वित किया ।

चमत्कार में मेरा विश्वास नहीं है, इसलिए मै आपको कोई दिव्य विभूति देने का दावा नहीं करता । मैं वह अति कल्पना भी नहीं करता कि हर मनुष्य मे देवत्व जग जाए । मै चाहता हूं मनुष्य 'मनुष्य' बने । मनुष्य की देह मे जो पशुता पल रही है, वह समाप्त हो और मनुष्यता का विकास हो । मानवता के बिना मानव का मूल्य ही क्या है ? मनुष्य को मनुष्य बनाने का एक अमोघ नुस्खा हमारे पास है, वह है 'अणुव्रत' । व्रत मानव समाज की रीढ़ है । रीढ़ के आधार पर शरीर का संतुलन रहता है, इसी प्रकार व्रतों के आधार पर समाज का संतुलन बना रह सकता है। समाज में जहां कही असंतुलन है, आक्रमण है, शोषण है, विग्रह है, असहिष्णुता है, अप्रामाणिकता है, लोलुपता है, असंयम है और जो भी कुछ अवाछनीय है, उसका एक ही कारण है कि समाज की व्रत-निष्ठा विकसित नही हुई है । व्रतो की रक्षापंक्ति सुदृढ़ हो जाए तो इन सब वृत्तियो का समाज मे पनपना तो दूर,

प्रवेश भी नहीं हो सकता। मै चाहता हूं कि आप लोग और कुछ बने या न बनें, पर सच्चे मनुष्य अवश्य बनें। आप सच्चे मनुष्य बनकर ही मनुष्य जन्म रूप वृक्ष के फलों का रसास्वादन कर सकते है। अणुव्रत भी उसका एक फल है। आप इस फल को ग्रहण करें, चखें और इससे होने वाली पौष्टिकता का अनुभव करें। मै एक बार फिर आपको याद दिलाना चाहता हूं कि हमारी दुकान पर आप आए है तो दर्शक या श्रोता मात्र बनकर न रहें। सच्चे ग्राहक बनकर आप अपनी-अपनी क्षमता के अनुसार सौदा खरीदें। इस सौदे में हमें जितना लाभ होगा, आपको भी उससे कम लाभ नहीं मिलेगा। इस दृष्टि से इस विलक्षण व्यापार में आप हमारा पूरा-पूरा सहयोग करें और हमसे जितना लाभ उठा सकते है, उठाएं।

वर्तमान के वातायन से

समाज परम्परा के आधार पर चलता है। परंपरा से बधा हुआ सत्य व्यवहार की भूमिका पर उतरता है। भगवान महावीर की धार्मिक परम्परा हमें प्राप्त है। उन्होने ढाई हजार वर्ष पहले धर्म-संघ की परम्पराओ का प्रवर्तन किया था। एक हजार वर्ष बाद उनकी वाणी का संकलन हुआ। उसके बाद पन्द्रह सौ साल की लम्बी अवधि मे उनके आधार पर नयी धारणाए बनी। परिस्थितियो ने उन धारणाओ मे संशोधन का अवकाश दिया। इससे प्राचीन मूल्य विघटित हुए और कुछ नये मानदंड सामने आए। इन मध्यकालीन परिवर्तनो को नही समझने से अतीत और वर्तमान मे विसंगति पैदा हो जाती है।

परिवर्तन एक ध्रुव सिद्धान्त है। इसे बदलने की क्षमता किसी में भी नही है। जैन दर्शन मे वस्तु का ध्रौव्यगुण परिवर्तन पर ही आधारित है। उत्पाद और व्यय से व्यावच्छिन्न ध्रुवता का कोई अस्तित्व नही है। वस्तु-परिवर्तन की तरह मूल्य-परिवर्तन का भी एक सिद्धान्त है। इसके आधार पर ही व्यक्ति अपने चितन, मान्यता और व्यवहार मे परिवर्तन लाता है।

परिवर्तन सृजन की पृष्ठभूमि है। वह नही हो तो वैयक्तिक परिवेश मे व्यक्ति कुठाग्रस्त हो जाता है और वह युग के साथ चलने की क्षमता खो बैठता है। सामाजिक परिवेश मे परिवर्तन की अस्वीकृति रूढ़ता निष्पन्न करती है, जो प्रयोगवाद की भूमिका पर बहुत बड़ी बाधा है।

परिवर्तन का सिद्धान्त उन्हें मान्य है जो देश, काल और परिस्थिति के संदर्भो से अवगत है। जो इतिहास से अनजान है, उन्हें परिवर्तन अखरता है। शाश्वत और सामयिक की भेद-रेखा नही समझने वाले परिवर्तन को भी नही समझ सकते। जो शाश्वत है। उसमे कभी परिवर्तन नही होता। नियम देश, काल आदि के अनुसार परिवर्तनीय है। परिवर्तनीय मे होने वाला परिवर्तन अस्वाभाविक कैसे हो सकता है? व्यष्टि और समष्टि का सर्वांगीण अध्ययन करने के लिए परिवर्तन का अध्ययन नितान्त अपेक्षित है।

जो लोग महाव्रत और सामाचारी को एक दृष्टि से देखते है, वे पग-पग पर

उलझ जाते है । जहां संघ है वहां व्यवस्था का होना अनिवार्य है । व्यवस्था के नियमों का नाम समाचारी है । यह देश-काल और परिस्थिति सापेक्ष होती है । देश-काल और परिस्थिति के बदलने पर वह बदल जाती है ।

साधुओं के पारस्परिक सम्बन्ध, साधु-साध्वियों के पारस्परिक सम्बन्ध, साधु-साध्वियों का गृहस्थों के साथ सम्बन्ध, औषधि-प्रयोग, भिक्षाचर्या, दैनिक चर्या, वस्त्र-पात्र, उपकरण आदि-आदि विषयों की सीमा का निर्धारण समाचारी की परिधि में आता है ।

सामाचारी के अनुकूल आचरण करना कल्प और उसके प्रतिकूल आचरण करना अकल्प कहलाता है । प्राचीन सूत्रो में जो सामाचारी है वह भाष्य-चूर्णि आदि ग्रन्थो मे परिवर्तित रूप में मिलती है और भाष्य-चूर्णि आदि ग्रन्थो में उल्लिखित सामाचारी वर्तमान मे परिवर्तित हो गई है ।

जो व्यक्ति प्राचीन साहित्य का गभीर अध्ययन करते है उनसे सामाचारी के बदले हुए रूप छिपे नही रहते । उन्हे सामाचारी के किसी रूप के परिवर्तन पर आश्चर्य भी नही होता । यह उन लोगो को होता है जो प्राचीन ग्रन्थो का गहराई से और मुक्त दृष्टिकोण से अध्ययन नही करते । मै चाहता हूं कि जो लोग इस विषय मे दिलचस्पी रखते है वे कुछ गंभीर अध्ययन करें । "

परिवर्तन कहा नहीं होता ? आर्थिक, सामाजिक, राजनैतिक, आध्यात्मिक—इन सभी क्षेत्रों को प्राणवान बनाने में उसका पूरा हाथ है । चेतना को विकास का नया स्वर उसी से मिलता है । यह किसी भी स्थिति मे अनुपादेय नही है, यदि उसके उद्देश्य और आधार स्पष्ट एवं पुष्ट हो । यथार्थवादी धरातल पर सृजन की सीमा मे होने वाला परिवर्तन अतीत और अनागत के प्रति अपने दायित्व का निर्वहन कर सकता है ।

मै एक धर्म-संघ की परम्पराओ से प्रतिबद्ध हूं । संघ का अनुशास्ता होने के नाते मै उनके प्रति पूर्ण आस्थावान् और जागरूक हूं, किन्तु उनके सम्दन्ध में मुझे कोई आग्रह नही है । आग्रह सत्य तक पहुँचने में बहुत बड़ा व्यवधान है । आचार्य यशोविजयजी ने इस तथ्य को रूपक में प्रस्तुत करते हुए लिखा है—"आग्रही व्यक्ति का मन बन्दर जैसा होता है । वह सत्य-रूपी गाय की पूछ पकड़कर अपनी ओर खीचता है । अनाग्रही व्यक्ति का मन बछड़े जैसा होता है, इसलिए वह युक्ति रूप गाय के पीछे-पीछे चलता है ।" आग्रहहीनता सत्य तक पहुंचने के लिए प्रशस्त सोपान है ।

मेरे अभिमत से हर परम्परा सामयिक परिस्थितियों के संदर्भ मे परिवर्तन मांगती है । जो इस अपेक्षा को नही समझता, वह अपने युग को न्याय नही दे सकता ।

पिछले दो दशकों में मैंने कुछ परम्पराओं के बारे में उन्मुक्त भाव से चिन्तन किया और उनमें आवश्यक परिवर्तन भी किए। भविष्य में भी मै अपने चिंतन मे संशोधन का पूरा अवकाश देखता हूं।

भगवान महावीर ने अपने समय मे भगवान पार्श्व की चालू परम्पराओं में परिवर्तन किया। इसका साक्ष्य इतिहास है। अतीत का साक्ष्य वर्तमान के लिए सशक्त आधार होता है। इसी आधार पर मैं परिवर्तन का पक्षपाती हूं। कुछ साधक प्रमाण भी उसमें सहायक बने है। साधक प्रमाण प्रबल न हों, फिर भी बाधक प्रमाण के अभाव मे परिवर्तन के लिए अवकाश रहता है। कुछ तथ्य ऐसे भी है, जिनकी परम्परा का कोई आधार उपलब्ध नही है अथवा वे कृतार्थ हो चुके हैं, उनके सबंध में भी चिन्तन किया जा सकता है।

एक शास्त्रीय परम्परा के अनुसार धर्म-संघ में आचार्य, उपाध्याय और प्रवर्तनी का होना नितान्त अपेक्षित है। इनकी निश्रा में ही सामान्य साधु-साध्वियों के रहने की व्यवस्था है। आचार्य भिक्षु ने इस परम्परा मे थोड़ा परिमार्जन किया और इन सबका दायित्व एक व्यक्ति पर डाल दिया। आवश्यकता होने पर इस परम्परा का पहला रूप भी व्यावहार्य हो सकता है। परिवर्तन का सिद्धान्त नही समझने वाले ऐसी स्थितियों मे विचलित हो जाते है।

मध्य युग में आचार्य हरिभद्र ने साधुत्व की मीमासा करते हुए सम्बोध प्रकरण मे लिखा—जो मुनि उपाश्रय मे रहता हुआ पछेवड़ी ओढ़ता है और साध्वियो के साथ आहार-पानी आदि के आदान-प्रदान का सम्बन्ध रखता है, वह शिथिलाचारी है। शिथिलाचार की यह परिभाषा आगे चलकर शिथिल हो गई। उत्तरवर्ती आचार्यो ने पूर्व निषिद्ध पक्ष का समर्थन किया और अतीत की परम्परा छूट गई। निषेध और समर्थन के बीच उत्पन्न भ्रान्तियों का निराकरण देश-काल सापेक्षता का सिद्धान्त ही कर सकता है।

आचार्य भिक्षु ने अपने समय में अनेक नयी मर्यादाओं का निर्माण किया। संघ-व्यवस्था और सगठन के लिए निर्मित मर्यादाएं किसी समय उलझन न बन जाए, इस दृष्टि से उन्होंने कुछ महत्त्वपूर्ण बातें कही .

- सूत्र और सिद्धान्तों का कोई नया तथ्य सामने आ जाए तो बहुश्रुत मुनि बैठकर चिन्तन करें, पर आपस में खीचातान न करे।
- वर्तमान की मर्यादाएं और परम्पराएं भावी आचार्य के हाथ मे है। वे आवश्यक और उचित समझे तो इनमें परिवर्तन एवं सशोधन कर सकते है।

उत्तरवर्ती आचार्यो को परम्परा-परिवर्तन का अधिकार देकर आचार्य भिक्षु ने अपनी सत्य-सन्धित्सु वृत्ति का परिचय दिया। आचार्य भिक्षु हमारे धर्म-संघ के प्रवर्तक

है। उनके प्रति मेरे मन में गहरी आस्था है। उनके समय से चली आ रही कुछ परम्पराओ मे परिवर्तन करके मैने उनके द्वारा प्रदत्त सत्य-शोध की दृष्टि का ही प्रयोग किया है। उस समय में उन परमपराओं की अपेक्षा के बारे में मुझे आज भी कोई संदेह नही है। वर्तमान मे उनकी अपेक्षा समझ में नहीं आयी, इसीलिए उनमे कुछ परिवर्तन किया गया है।

परिवर्तन को लेकर कुछ लोगों में जिज्ञासा है। ऐसा क्यों हुआ ? कैसे हुआ ? इसका आधार क्या है ? क्या यह शास्त्र-सम्मत है ? आदि प्रश्नचिह्नो मे उनका मानसिक ऊहापोह प्रतिबिम्बित हो रहा है। मै इसे अच्छा मानता हूं। किसी भी नये तथ्य के सबध मे जिज्ञासा अस्वाभाविक नहीं है। जिज्ञासा-बुद्धि से ही मानसिक उलझने समाप्त हो सकती है। विज्ञान की प्रगति मनुष्य की जिज्ञासा-वृत्ति का ही परिणाम है। विज्ञान की हर नयी शोध पूर्व निश्चित धारणा मे सशोधन का अवकाश रखती है। ऐसा न हो तो विश्व का कोई भी वैज्ञानिक सचाई तक नही पहुंच सकता।

सचाई तक पहुचने के लिए सत्याभिमुखता का होना आवश्यक है। सत्योन्मुख व्यक्ति नयी प्रवृत्तिया देखकर जिज्ञासा अवश्य करता है पर उसके मन मे असन्तोष नही होता। असन्तोष का सम्बन्ध मानसिक अधृति से है। मै नही चाहता कि मेरे अनुयायियो में किसी प्रकार का असतोष परिव्याप्त हो इसलिए मै उनके प्रश्नो का समाधान करना चाहता हूं। उनके कुछ प्रश्न मेरे पास सीधे पहुंचते है और कुछ श्रुत-परम्परा से पहुचते है।

कुछ भी हो, ये प्रश्न किसी एक व्यक्ति के नही है और एक स्थान से नही आए है। स्थान-स्थान पर इन प्रश्नों से सम्बन्धित चर्चाए है, इसलिए मैने सोचा कि केन्द्र से इनका सामूहिक समाधान हो जाना चाहिए। इससे विषय की स्पष्टता के साथ परिवर्तन के आधार और उद्देश्य भी स्पष्ट हो जाएगे। मै आशा करता हू कि जिज्ञासु सुहृद् मुझे गहराई से समझने का प्रयास करेगे।

प्रदर्शन

आत्म-ख्यापन मनुष्य का सहज स्वभाव है। अतिरंजन का योग होने से आत्मख्यापन प्रदर्शन बन जाता है। आत्म-ख्यापन यथार्थ की भूमिका पर होता है, इसलिए इसमे उलझन नहीं आती। इस भूमिका से दूर होकर व्यक्ति आत्माभिमुखता से भी दूर हो जाता है। आत्माभिमुख व्यक्ति स्वयं को अतिरिक्त रूप से दिखाना नही चाहता। अतिरिक्तता की भावना से प्रेरित होकर ही वह प्रदर्शन और आडम्बर को महत्त्व देता है। प्रदर्शन की प्रेरणा से सामाजिक जीवन बोझिल होता जा रहा है। इसे भार-मुक्त बनाने के लिए यह आवश्यक है कि जीवन में सादगी और सात्विकता का विकास हो।

पिछले दो-तीन दशको से मै इस सम्बन्ध में सोचता आया हू। मेरे चिन्तन का आधार हमारी सशक्त परम्परा है। यह परमपरा हमें भगवान महावीर से प्राप्त है। उन्होंने सामयिक और शाश्वत सत्यों की प्ररूपणा की। सामयिक सत्य देश, काल आदि के अनुसार बदलते रहते है। प्रदर्शन और आडम्बरमूलक प्रवृत्तिया भी स्थिति-सापेक्ष है। किसी समय इनका सामाजिक मूल्य था। आज वह विघटित हो गया है। मूल्य-विघटन के बाद भी कोई व्यक्ति उनसे प्रतिबद्ध होकर चले, यह रूढ़ता नहीं तो क्या है?

वर्तमान परिस्थितिया प्रदर्शन के लिए अनुकूल नही है। शादी-विवाह, उत्सव आदि प्रसंगो पर होने वाला प्रदर्शन प्रबुद्ध जनता को अखरने लगा है, फिर भी सामान्य स्तर पर हर वर्ग के व्यक्ति इस दौड़ मे साथ है। अनुकरण और प्रतिस्पर्द्धा का दौर चल रहा है। संभव है मनुष्य अपनी आन्तरिक रिक्तता पर आवरण डालने के लिए प्रदर्शन का सहारा ले रहा हो।

समाज में जीने वाला व्यक्ति सामाजिक मर्यादाओ का निर्वाह करता है। किन्तु जो मर्यादाएं जीवन को खोखला बना डालती है, उनका भार ढोने से क्या लाभ? समाज-मर्यादा के नाम पर अपने 'अहं' का प्रदर्शन करने वाले व्यक्ति समाज को सही रास्ता नहीं दिखा सकते। स्वस्थ समाज-रचना के लिए यह आवश्यक है कि

मनुष्य उन प्रवृत्तियों से अपना बचाव करता रहे जो उसके सामाजिक वातावरण को दूषित बना रही है ।

सामाजिक क्षेत्र की इस प्रवृत्ति ने धार्मिक क्षेत्र में प्रवेश किया और धर्म-स्थान प्रदर्शन के केन्द्र बन गए । धार्मिक लोग सादगी की बात भूल गए । नये परिधान और नयी साजसज्जा । धार्मिक क्रिया का प्रतीक 'मुखवस्त्रिका' भी इससे नही बच पायी । बहनो की अनुकरण-प्रधान वृत्ति से प्रदर्शन को प्रोत्साहन मिला । उनके वस्त्रों आभूषणो आदि की चकाचौध अजनबी लोगों को विस्मय में डालने वाली थी । मैंने इस स्थिति का अध्ययन किया और मेरे मन पर एक तीव्र प्रतिक्रिया हुई । जैन समाज और तेरापंथ समाज मे सामाजिक और धर्मिक आडम्बर देखकर मैने सादगीपूर्ण जीवन का सूत्र दिया, और तब दिया जब आडम्बर और प्रदर्शन करने वालो को प्रोत्साहन मिल रहा था । इससे समाज में गहरा ऊहापोह हुआ । धर्माचार्य के अधिकार की चर्चाएं चली । सामाजिक दायित्व का विश्लेषण हुआ और मुझे परंपराओ का विघटक घोषित किया गया । मेरा उद्देश्य स्पष्ट था, इसलिए समाज की आलोचना का पात्र बनकर भी मैने समय-समय पर प्रदर्शनमूलक प्रवृत्तियो, अन्धपरम्पराओ और अन्धानुकरण की वृत्ति पर प्रहार किया ।

एक तूफानी हलचल के बाद जन-मानस में स्थिरता आयी । लोकदृष्टि स्पष्ट हुई और मेरे चितन का मूल्याकन हुआ । देश-कालजन्य परिस्थितियों ने उसका समर्थन किया और समाज में अर्थहीन सामाजिक मानदण्डो को बदलने की क्षमता पैदा हो गई । वर्तमान परिस्थितिया इस चितन के साथ है, इसलिए मेरी दृष्टि और अधिक स्पष्ट होती जा रही है अब मै अपने चिन्तन के प्रति पूर्ण आश्वस्त होकर वलपूर्वक निर्देश दे सकता हूं ।

बुराई मिटाने के दो साधन है—शोध और मार्गान्तरीकरण । शोध होने के वाद बुराई की सर्जक परिस्थितिया समाप्त हो जाती है । शोध के अभाव मे उसका मार्गान्तरीकरण होता रहता है और वह प्रकारान्तर से अपना अस्तित्व वनाए रखती है । प्रदर्शन के प्राचीन प्रकार आज समाप्त हो रहे है, किन्तु उनके स्थान पर नयी प्रवृत्तिया जन्म ले रही है । इन प्रवृत्तियों को तब तक नही रोका जा सकेगा जव तक मनुष्य के मन मे प्रदर्शन के प्रति आकर्षण रहेगा ।

आडम्वर और प्रदर्शन के सिलसिले मे मेरे सामने यह प्रश्न आता है कि धर्म-स्थान मे प्रदर्शन क्यो आता है ? प्रवचन-पण्डाल की साज-सज्जा और विद्युतदल्वो की जगमगाहट क्या आडम्वर नही है ? सन्तों के स्वागत मे वैंड-वाजों का क्या अर्थ है ? प्रश्न अस्वाभाविक नही है । रायपुर का प्रवचन-पण्डाल दाक्षिणात्य शैली के

आधार पर बना था, इसलिए वह आज भी चर्चा का विषय बना हुआ है। जो हुआ वह स्पष्ट है किन्तु कदाचित् कोई प्रसग बन जाता है, वह उदाहरण नही बन सकता। वह उदाहरण तब बनता है जब हमारा अनुमोदन उसके साथ हो।

कहीं-कहीं अपवाद-रूपमें ऐसी घटनाएं हो जाती हैं वहां हमे मध्यस्थ रहना पड़ता है। मेरी दक्षिण-यात्रा में ऐसे कई प्रसंग उपस्थित हुए जिनमें बैड-बाजो से स्वागत किया गया। हरियाली के द्वार बनाए गए तोरणद्वार सजाए गए। पूर्ण जलकुंभ रखे गये। फलों, फूलों और फूलमालाओं से स्वागत की रस्म अदा की गई। चावलो के सथिए बनाए गए। कन्याओं द्वारा कच्चे नारियल के जगमगाते दीपो से आरती उतारी गई। कुंकुम-केसर चरचे गए। शंखनाद के साथ वैदिक मंत्रोच्चारण हुआ। स्थान-स्थान पर मेरी अगवानी मे सड़क पर घड़ों भर पानी छिड़का गया। उन लोगो को समझाने का प्रयास हुआ, पर उन्हें मना नहीं सके। वे हर मूल्य पर अपनी परम्परा का निर्वाह करना चाहते थे। ऐसी परिस्थिति में मै अपना दृष्टिकोण स्पष्ट कर सकता हूं, किन्तु किसी पर दबाव नही डाल सकता।

दिगम्बर जैनों की भी कुछ भिन्न परम्पराएं है। हम अपनी परम्परा नही तोड़ते, इस स्थिति मे दूसरों की परम्परा तुड़वाने का हमारा क्या अधिकार है ? समन्वय की भूमिका प्रशस्त बनाने के लिए इन प्रवृत्तियों में उदासीन रहना पड़ता है। अहिसा का विकास करने के लिए अन्य सम्प्रदायों के प्रति सहिष्णु रहना आवश्यक भी है।

जब हमने केरल प्रान्त मे प्रवेश किया था, उस समय केरल की राजधानी त्रिवेन्द्रम के मेयर श्री वामदेवन ने अपने सम्पूर्ण प्रान्त मे अपनी सस्कृति के अनुसार हमारा स्वागत करने की उद्घोषणा की। हमें स्थान-स्थान पर रुककर उनका स्वागत स्वीकार करना पड़ा। फिर भी हम अपने अन्तःकरण से उनके प्रति उदासीन रहे।

त्रिवेन्द्रम के राजमहल में महाराजा त्रावणकोर और मद्रास के चक्रवर्ती राजगोपालाचार्य ने हमारे स्वागत में फूलों से भरी टोकरी उपहृत की। मैने उनसे पूछा—'राजाजी ! आप तो हमारी विधि से परिचित है, फिर यह फूलों का उपहार क्यों ?' मेरे प्रश्न का उत्तर देते हुए उन्होने कहा—'हम आपकी विधि जानते है पर हमारी भी तो कोई विधि है, उसकी उपेक्षा कैसे कर सकते है ? आपके स्वागत में हमने दोनों विधियों का सम्मान किया है। हमने आपके लिए एक भी फूल नही तोड़ा। सहज टूटे हुए फूल बटोरकर लाये हैं। आपके लिए फूल तोड़े जाते तो विधि का भंग हो सकता था।' ऐसे प्रसंगों पर मै मौन भाव से अपनी असहमति व्यक्त करता हूं।

आध्यामिक मानदंड के अनुसार प्रदर्शन का कोई मूल्य नही है। सामाजिक

मर्यादा मे वह एक सीमा स्वीकृत हो सकता है । किन्तु जहा सामाजिक प्रतिष्ठा और अह-पोषण के लिए प्रदर्शन होता है, वहां स्थिति गंभीर हो जाती है । आवश्यकता का अपना क्षेत्र है । अनिवार्य अपेक्षा को टाला नही जा सकता । धर्म स्थान में भी व्यवस्था के लिए पण्डाल, मच अथवा बिजली का उपयोग होता है, किन्तु वहां भी सीमा का अतिक्रमण प्रदर्शन बन जाता है । प्रदर्शन का आकर्षण तोड़ने के लिए सामाजिक मानदण्डो को बदलना आवश्यक है, अन्यथा मनुष्य दिखावे की भावना से ऊपर नही उठ सकेगा । प्रदर्शन समाज के लिए अभिशाप है । इससे मुक्त होने के लिए अन्तर्मुखता की ओर गति अपेक्षित है ।

अपेक्षा है एक संगीति की

भारतीय संस्कृति में पर्वो की एक शृंखलाबद्ध परंपरा चली आ रही है। कुछ पर्व सांस्कृतिक होते है, कुछ सामाजिक होते है और कुछ धार्मिक भी होते है। धार्मिक पर्वो की परपरा मे श्रमण संस्कृति और वैदिक संस्कृति के अनुसार विभिन्न प्रकार के पर्व मनाए जाते है। श्रमण सस्कृति मे सर्वोपरि महत्त्वपूर्ण पर्व है पर्युषण पर्व। इस पर्व का परिवेश विशुद्ध आध्यात्मिक है। इस समय अध्यात्म की ऐसी लहर आती है जो जीवन की धारा को बदल देती है। एक वर्ष की सुदीर्घ अवधि के बाद हर व्यक्ति के अन्तःकरण मे संयम, त्याग और अभ्युत्थान की भावना जागृत हो जाती है। इस पर्व की उपस्थिति का अनुभव करने वाला व्यक्ति अपनी रुचियो मे भी परिष्कार का अनुभव करता है। इस कारण ऐसा प्रतीत होता है कि यह एक प्राकृतिक पर्व है।

पर्युषण के अवसर पर जैन समाज में जिस प्रकार की साधना और तपस्या का सिलसिला चलता है, उसका पूरा विवरण तैयार किया जाए तो देश के सामने आश्चर्यजनक आंकड़े आ सकते है। किन्तु आज तक कभी भी सामूहिक रूप से ऐसा प्रयत्न नही किया गया, जिससे जैन धर्म और पर्युषण पर्व की गरिमा को उजागर होने का अवकाश मिलता। मिले भी कैसे ? जब तक इस पर्व की एकता पर लगा हुआ प्रश्नचिह्न पूर्णविराम मे नही बदल जाता है, तब तक इसकी महत्ता को स्वीकृति भी कौन देगा ?

पर्युषण पर्व एक असाम्प्रदायिक पर्व है। इस सम्बन्ध मे कोई दार्शनिक या सैद्धान्तिक मतभेद भी नहीं है। फिर भी सपूर्ण जैन समाज का सुदृढ़ संगठन न होने के कारण साधारण-सी बात ने आग्रह का रूप धारण कर लिया है और हम पर्युषण जैसे महान पर्व को लेकर एकता स्थापित नही कर पाए है। इस स्थिति के लिए किसी व्यक्ति-विशेष को दोष देना उचित नही है। क्योकि समाज के सभी सम्प्रदायो और उनके दायित्वशील व्यक्तियों द्वारा एकता का हाथ बढ़ाने पर ही कोई बात स्थिर हो सकती है।

बहुत बार मन में आता है कि पर्युषण पर्व की सम्पूर्ण एकता हो जाए। सारे जैन मिलकर एक ही दिन संवत्सरी मनाएं। एक साथ उपवास, पौषध, प्रतिक्रमण व अन्य अनुष्ठान करे तो इसकी आध्यात्मिक उच्चता के साथ व्यावहारिक उच्चता भी स्थापित हो सकती है। पर अब तक मेरा यह स्वप्न स्वप्न ही है। अपने जीवनकाल मे इस स्वप्न को कितना सकार देख सकूंगा, यह अभी भविष्य के गर्भ में है। मेरे अभिमत से वह दिन सब जैनों के लिए सौभाग्य का दिन होगा जिस दिन सम्पूर्ण जैन समाज संवत्सरी पर्व के लिए एक दिन को मान्यता दे देगा। संवत्सरी की एकता के संदर्भ में कई बार, आचार्यों ने मिलकर प्रयत्न भी किया है, पर अब तक सफलता नही मिल पायी। हमारे दो-चार-बार के प्रयत्न विफल हो गए, इस बात को लेकर किसी को निराश न होकर सतत प्रयत्नशील रहने की जरूरत है। जैन समाज के आचार्यो, मुनियो, विद्वानों और चिन्तनशील अग्रणी लोगो का यह परम कर्तव्य है कि वे इसी काम के लिए संभव हो तो एक संगीति फिर बुलाएं। उसमे कम-से-कम दो निर्णय अवश्य लिये जाए–

१. सवत्सरी की एकता।

२. जैन मुनियो की मूलभूत आचार-संहिता की एकता।

सम्प्रदायो का पृथक अस्तित्व बने रहने पर भी कुछ मौलिक बातो मे एकता स्थापित होने से बहुत बड़ा काम हो सकता है। जैन धर्म के सार्वभौम तत्त्वो को व्यापक रूप से प्रसारित करने के लिए भी सब जैनो को एकजुट होकर कोई अभियान चलाना चाहिए। इस विषय मे हमारे द्वारा जितना योगदान संभव होगा, हम उसके लिए तीव्र प्रयत्न करेगे। अन्य आचार्यो और मुनियो से भी हम यही अपेक्षा रखते है। हम लोग एक दिन सवत्सरी महापर्व मनाने में सफल हो गए तो यह हमारे युग की एक विशिष्ट उपलब्धि होगी।

प्रश्न और समाधान

प्रश्न और समाधान

प्रश्न : क्या भारतीय संस्कृति की श्रेष्ठता व हमारे वर्तमान का तादात्म्य स्थापित किया जा सकता है ?

उत्तर : मै अतीत और वर्तमान को एक ही कालचक्र का गतिक्रम मानता हूं। उनमें सर्वात्मना विभक्ति नही देखता । संस्कृति की सरिता का प्रवाह देशकाल के तटों से विच्छिन्न होकर कभी गतिशील नही रहता । उसकी प्राचीन धारा का हर बिन्दु निर्मल नहीं है और वर्तमान धारा का हर बिन्दु मलिन नहीं है । श्रेष्ठ का श्रेष्ठ के साथ तादात्म्य होना नैसर्गिक है । उसमें अवरोध उत्पन्न करने का प्रयास कृत्रिम है और उतना ही अर्थ-शून्य है । वर्तमान की विशेषताओ को परम्परा-सूत्र मे अनुस्यूत करना सचमुच कौशल है । इस अपूर्व कर्म की सृष्टि करने वाला दुनिया का महान शिल्पी होता है ।

प्रश्न : वर्तमान में उभर रहे असन्तोष को दूर करने के लिए क्या धर्म कोई राह प्रस्तुत करता है ?

समाधान : वर्तमान में जो असन्तोष उभर रहा है, उसके तीन मुख्य कारण है–

१. मनुष्य को अपने अस्तित्व का बोध हुआ है । वह परम्परागत मान्यता और स्थिति से सन्तुष्ट नही है ।
२. द्रुतगामी परिवर्तन तथा अतर्कित आरोह-अवरोह वाले वैज्ञानिक युग मे वह वर्तमान के साथ अतीत का सामंजस्य स्थापित नही कर पा रहा है ।
३. वह भूखा है, जीवन की अनिवार्य आश्यकताओ की पूर्ति में समर्थ नही है ।

धर्म जीवन का शाश्वत मूल्य है । वह सामयिक मूल्यो की परिवर्तनशीलता का दिशा-बोध देकर प्रथम दो कारणों के निवारण में प्रत्यक्ष सहयोगी हो सकता है। भूख की ज्वाला धर्म से शान्त नहीं होती, वह शान्त होती है रोटी खाने से । इस सीधे अर्थ मे भूखजनित असतोष का समाधान धर्म के पास नही है । फिर भी उन

समस्या के समाधान में धर्म का योग नही है, ऐसा मै अनुभव नही करता। पुरुषार्थ, सक्रियता और गतिशीलता धर्म के प्राण है। भारत के निराश और आलसी मानस में उनका शख फूंककर वह तीसरे कारण के निवारण में भी महत्त्वपूर्ण योग दे सकता है।

मै इस प्रसंग में एक सत्य को अनावृत कर देना चाहता हूं कि यह अपेक्षा क्रियाकाण्ड-प्रधान धर्म से नहीं की जा सकती। यह अपेक्षा उस धर्म से की जा सकती है, जिसकी आत्मा है अनासक्ति, परमार्थ और सत्य की उपलब्धि का सतत प्रयत्न।

प्रश्न : आत्मा की उपस्थिति और परमात्मा की सत्ता का कोई प्रमाण है आपके पास ?

उत्तर : अस्तित्व की व्याख्या चैतन्यधर्मा मनुष्य ने की है। उसके द्वारा व्याख्यात तत्त्व का अस्तित्व प्रमाणित है तब स्वय व्याख्याकार का अस्तित्व अप्रमाणित कैसे होगा ?

आत्मा सूक्ष्म सत्य है। उसे जानने का प्रयत्न करने वाला मन स्थूल है और चंचल है। स्थूल से सूक्ष्म सत्य कैसे उद्घाटित हो सकता है ? चंचल से स्थिर शांत सत्य कैसे उद्भासित हो सकता है ? मन के स्थिर-शान्त होने में सहयोग कीजिए या उसके अस्तित्व को चैतन्य के अखंड स्रोत से अभिन्न होने दीजिए। फिर आपको आत्मा की उपस्थिति का बोध नही होगा, किन्तु उससे भिन्न व्यक्तित्व का जो बोध है, वह विलीन हो जाएगा।

इस विश्व मे जितना तत्त्व संसार है, उतना ही था और उतना ही रहेगा। एक परमाणु के त्रैकालिक अस्तित्व के प्रति भी मै सदिग्ध नही हूं, तब अपने अस्तित्व के प्रति कैसे सदिग्ध हो सकता हूं ?

परमात्मा की सत्ता आत्मा से भिन्न नही है।

प्रश्न : यौन-शिक्षा से संस्कृति की दूषित होने का औचित्य कहां तक सही है ?

उत्तर : मनुष्य विकसित प्राणी है। इसीलिए वह जो कुछ करता है, उसे ज्ञानपूर्वक करना पसन्द करता है। क्या यौन-कर्म मे प्रवृत्ति होने से भारतीय संस्कृति दूषित नही होती ? यदि नही होती तब यौन-शिक्षा से वह दूषित कैसे हो जाएगी ? प्राचीन काल मे भारतीय छात्रों को कामशास्त्र पढ़ाया जाता था। भारतीय कामशास्त्र मे काम पर धर्म के अकुश का सिद्धान्त मान्यता प्राप्त है। अज्ञान से ज्ञान और ज्ञान से आत्मज्ञान प्राप्त करने की दिशा मे समाज के चरण आगे बढ़े तो उसमे निरंकुशता की सभावना दिखाई नही देती।

प्रश्न : युवा-दिशान्तर और धर्म के बारे में आप क्या कहते है ?

उत्तर : आज का युवक जिस दिशा में जा रहा है, वह उसकी लक्ष्य प्रतिबद्ध दिशा नही है किन्तु प्रतिक्रियात्मक दृष्टिकोण से संप्राप्त दिशा है। उसे अपनी पुरानी पीढ़ी मे जो दृष्ट है, वह उसे इष्ट नहीं है। आज का युवक बुद्धिवादी है। उसे स्वतन्त्रता, यथार्थ और परिवर्तन प्रिय है। प्राचीन संस्कारो में पली हुई पीढ़ी के मूल्य इन मूल्यों से भिन्न हैं। उसके मन में धर्म की भावना है पर जीवन व्यवहार मे उसका प्रतिबिम्ब नहीं है। इसलिए आज का युवक पूजा-उपासना में निरत अपनी पुरानी पीढ़ी को प्रतिक्रियात्मक दृष्टि से देखता है और साथ-साथ धर्म को भी प्रतिक्रियावादी मानता है। फलतः उसका दिशाबोध प्रतिक्रियात्मक हो रहा है और वह जीवन के शाश्वत मूल्यों के प्रति भी उपेक्षा बरत रहा है। इसीलिए मै आज धर्मक्रान्ति की अपेक्षा अनुभव करता हूं। उपासना व क्रियाकाण्ड को गौणता देकर नैतिकता-प्रधान धर्म की पुनः प्रतिष्ठा हो तो आज का युवक सहजभाव से क्रियात्मक दिशा की ओर अग्रसर हो सकता है।

प्रश्न : हिन्दू शब्द का प्राचीनतम प्रयोग, जहाँ तक मुझे ज्ञात है, जैन साहित्य मे मिलता है। कालकाचार्य विदेशी लोगों के सम्मुख भारत के लिए हिंडुग शब्द का प्रयोग करते हुए कहते है–'एहि हिंडुगदेस वच्चामो'। उस सदर्भ मे हिन्दू है, जिसे हिन्दुस्तान की नागरिकता प्राप्त है और जिसकी मातृभूमि हिन्दुस्तान है। हिन्दु धर्म हिन्दू जाति जैसे प्रयोग अर्वाचीन है। हिन्दू शब्द का संकुचित अर्थ मे प्रयोग करने से जटिलताएं बढ़ी है। मै इस मत का समर्थक हूं कि हिन्दू शब्द का उत्क्रमण होना चाहिए, जिससे पुनः वह अपने व्यापक वाच्य की प्रतीति करा सके।

प्रश्न : मुस्लिमो मे धार्मिक सहिष्णुता की कमी पायी जाती है, क्या यह कथन सही है ?

उत्तर : 'मुस्लिमो में धार्मिक सहिष्णुता की कमी पायी जाती है', यह बात विशेष सन्दर्भ में सही हो सकती है, किन्तु सार्वत्रिक रूप में सही नही है। अनेक मुस्लिम राष्ट्र ऐसे है, जिनमें धार्मिक सद्भाव और मानवता के प्रति प्रेम मिलता है। अविभक्त हिन्दुस्तान में हिन्दू-मुस्लिम समस्या का भिन्न परिप्रेक्ष्य रहा है। इसलिए यहां स्थितिजनित धार्मिक असहिष्णुता रही है। इसे मै इस्लाम धर्म की देन नही मानता। मेरी दृष्टि मे यह दो जातियो के परिवेश मे पल्लवित प्रतिस्पर्धा है।

मै सिद्धान्त-पक्ष की चर्चा नहीं कर रहा हूं। मैने व्यवहार-पक्ष की चर्चा की है। सैद्धान्तिक कट्टरता अनेक धर्मो में है। उसके अनुसार दूसरे धर्म वालो को स्वधर्मी के समान स्थान नही दिया जाता। किन्तु बहुत सारे सिद्धान्तों की व्यवहार के चौखटे मे इस प्रकार कांट-छांट हो जाती है कि उनकी अतिरिक्तता शेष नहीं रहती। मै इस्लाम को भी इस नियम का अपवाद नही मानता।

प्रश्न : नैतिक शिक्षा का बवडर क्या धार्मिक शिक्षा रोक पाएगी, कोई सुझाव ?

उत्तर : यथार्थ में धर्म और नैतिकता में दिशा-भेद या-स्वरूप-भेद नहीं है। धर्माचरण की पहली फलश्रुति है नैतिकता। आज का धर्म अधिकांशतः आध्यात्मिकता के आवरण में छिपा हुआ साम्प्रदायिक धर्म है इसलिए वह नैतिकता से विच्छिन्न है। इस प्रकार के धर्म की शिक्षा से नैतिक शिक्षा की अपेक्षा पूरी नही हो सकती। नैतिकता सामजिक जीवन व्यवहार को अनुशासित करने वाला विज्ञान है। वह धर्म से विच्छिन्न होकर चल ही नही सकता। सम्प्रदाय बहुल युग में धार्मिक शिक्षा से जटिलता बढ़ सकती है, सन्देह और भ्रम बढ़ सकता है तथा साम्प्रदायिक प्रश्न उपस्थित हो सकते है। नैतिक शिक्षा इन सब कठिनाइयों से मुक्त है। वह धर्म की शिक्षा तो है ही किन्तु किसी सम्प्रदाय से सम्बद्ध धर्म की शिक्षा भी नही है। अणुव्रत के मंच से मैने अनेक बार नैतिक शिक्षा की आवश्यकता को दुहराया है।

नैतिकता को वैज्ञानिक रूप में प्रस्तुत किए बिना अनैतिक व्यवहार से होने वाली कठिनाइयों का स्थाई निवारण नही किया जा सकता। अत· विद्यार्थी के लिए नैतिक शिक्षा उसी स्तर पर आदेय है जिस स्तर पर समाजशास्त्र, अर्थशास्त्र और मानसशास्त्र की शिक्षा चलती है।

प्रश्न : गोहत्या-बन्दी के लिए आन्दोलनों का औचित्य ?

उत्तर : गोहत्या-बन्दी का प्रश्न राष्ट्रीय उपयोगिता का प्रश्न है। गाय जैसे उपयोगी और निरीह पशु की हत्या करना सचमुच मानव के कृतघ्न और स्वार्थी स्वभाव की पराकाष्ठा है। मै इस समस्या को राष्ट्रीय उपयोगिता की चेतना को प्रबुद्ध कर सुलझाने के पक्ष में हूं।

इस समस्या को धर्म और राजनीतिक आन्दोलनो के परिपार्श्व मे सुलझाने का प्रयत्न मुझे नयी उलझने उत्पन्न करने जैसा लग रहा है। गाय के प्रति जो सहज सहानुभूति है, वह उत्तेजनात्मक आन्दोलनों से कम होती प्रतीत हो रही है। मनुष्य में क्रूरता की कमी और अहिसा या करुणा विकसित हो, यह दिशा शिक्षा के साथ नैसर्गिक ढंग से प्राप्त होनी चाहिए। इससे गोहत्या-बन्दी जैसे अनेक क्रूर कर्म सरलता से समाप्त हो सकते है।

प्रश्न : भारतीयकरण का शोर क्या राजनीतिक नही, क्या यह जरूरी है ?

उत्तर : भारतीयकरण का स्वर राजनीति के मंच से उठा है और वह दलगत राजनीति से प्रतिध्वनित व आक्रान्त हो चुका है। जहा तक राष्ट्रीय निष्ठा का प्रश्न है, कोई भी भारतीय नागरिक इसका औचित्य प्रमाणित नहीं कर सकता कि कोई व्यक्ति राष्ट्रीयता से भारतीय हो और उसकी निष्ठा भारत से बाहर किसी दूसरे देश मे अटक रही हो। किन्तु वर्तमान वातावरण में दलगत राजनीति के मंच से

भारतीयकरण की प्रक्रिया को शक्तिशाली बनाया जा सके, ऐसा मुझे कम सम्भव लगता है ।

राष्ट्रीय निष्ठा की चर्चा जरूरी है और उसके सन्दर्भ व परिवेश का परिवर्तन भी जरूरी है । भारतीय दृष्टिकोण मे भावना व हृदय की प्रधानता रही है । इनके साथ यथार्थ को नत्थी करना भी जरूरी है । यह उन सबके लिए जरूरी है, जिन्हें भारत मे रहना है, सुख-दु ख में एक साथ रहना है और समरस होकर राष्ट्रीय सम्पदा का उन्नयन करना है ।

प्रश्नों का परिप्रेक्ष्य

प्रश्न : जैन धर्म व अन्य धर्मो में आप बुनियादी भेद क्या मानते है ?

उत्तर : जहां तक भारतीय धर्मो की धारणाओं का प्रश्न है, सभी धर्म निर्वाणवादी है। उनका अन्तिम लक्ष्य मोक्ष है। यद्यपि मोक्ष की परिभाषा, स्वरूप, साधना और प्रक्रिया में अन्तर है। फिर भी उसके साधन सत्य, अहिसा आदि को सैद्धान्तिक रूप से सभी की मान्यता प्राप्त है। इस दृष्टि से कहा जा सकता है कि भारतीय धर्मो मे ऐसा कोई बुनियादी भेद नही है, जिसके आधार पर उनमे सर्वथा भिन्नता स्थापित की जा सके। किन्तु इस अभेद-निरूपण का अर्थ यह भी नहीं है कि उनमे कोई मौलिक भेद है ही नही। ऐसा कोई भेद नही होता तो धर्मो के व्यावहारिक आदर्शो की रूपरेखा में भी इतनी भिन्नता का दर्शन नही होता।

जैन धर्म की अपनी कुछ मौलिक विशेषताएं है, जो उसे अन्य धर्मो से अलग करती है। उन्हें इस रूप में भी निरूपित किया जा सकता है

- आत्मा का स्वतंत्र अस्तित्व और कर्तृत्व।
- प्रत्येक संचालक के रूप मे किसी एक शक्ति का अस्वीकार।
- सृष्टि सचालक के रूप में किसी एक शक्ति का अस्वीकार।
- मुक्त आत्मा का पुनः संसार में अवतरण नही होना।
- अनेकान्तवाद।
- जातिवाद, वर्णवाद आदि को अप्रश्रय।
- रूढ़ क्रियाकाण्डों का प्रतिकार।

जैन धर्म पुरुषार्थ प्रधान धर्म है। इसने ईश्वर की सत्ता को भिन्न रूप से स्वीकार किया है। एकेश्वर में इसका विश्वास नही है। सृष्टि के संचालन में भी ईश्वर का कोई हाथ नहीं है। ईश्वर (परमात्मा) अनन्त ज्ञान, अनन्त दर्शन और अनन्त शक्ति के पुंज है। ईश्वर किसी संख्या मे सीमित नही है। संसार की किसी भी परिस्थिति से द्रवित होकर वे पुनः अवतार नही लेते। हर प्राणी अपनी आत्मशक्ति को उजागर कर ईश्वर बन सकता है। आत्मा पांच भूतो की समन्विति मात्र नही

है। वह स्वतंत्र तत्त्व है और उसकी सत्ता काल के हर विभाग में बनी रहती है। हर आत्मा अपने कर्तृत्व से ही ऊर्ध्वारोहण करती है उसके अधः-पतन में भी वह स्वयं ही कारण बनती है।

अनेकान्त जैन धर्म की मौलिक देन है। मानव समाज में प्रबुद्धता के साथ-साथ अनेकान्त की महत्ता स्वयं व्यक्त हो रही है। अनेकान्त का अर्थ है–एक वस्तु मे अनेक विरोधी धर्मों का स्वीकार। इस स्वीकृति के पीछे जो अपेक्षा रहती है, वह 'स्यात्' शब्द के द्वारा जानी जाती है। इस दृष्टि से माना जा सकता है कि अनेकान्त एक दार्शनिक मान्यता है और उसके पीछे प्रतिपादन की पद्धति का नाम स्याद्वाद है। यद्यपि दूसरे धर्मों द्वारा भी कुछ परिस्थितियों में अनेकान्त को अपनी मान्यता दी जाती रही है पर इसमें उनका ओरिजनल जैसा कुछ नहीं है। जैन धर्म ने अपने स्वतंत्र और मौलिक चिन्तन के रूप में अनेकान्तवाद को प्रस्तुति दी है।

प्रश्न : धर्म की उपयोगिता के बारे में आप क्या सोचते है ? जो लोग धर्म को नही मानते, उन्हें आप कैसा समझते है ?

उत्तर : धर्म की उपयोगिता की बात करने से पहले यह समझना जरूरी है कि समाज मे धर्म का अस्तित्व है या नहीं ? अस्तित्व की बात समझ में आ जाए तब उसके उपयोग का प्रसंग उपस्थित होता है। धर्म शब्द अनेक अर्थो का वाचक है। उपयोगिता के संदर्भ मे धर्म शब्द को सम्प्रदाय से जोड़ लिया जाता है तब प्रश्न-चिह्न उभरता है। जो धर्म जीवन की पवित्रता से जुड़ा हुआ है, जो धर्म आचार शुद्धि और चारित्रिक अभ्युदय की पृष्ठभूमि पर खड़ा है, उसकी उपयोगिता न तो कभी कम थी और न कभी कम होने वाली है।

धर्म को मानने या न मानने का जहां तक प्रश्न है, पवित्रता मूलक धर्म के साथ किसी की असहमति हो नही सकती। अपनी लम्बी यात्राओं में हुए अनुभव के आधार पर मै कह सकता हूं कि प्राचीनकाल के चार्वाक और आधुनिक काल के कम्युनिस्ट भी धर्म को अस्वीकार कर जी नही सकते। क्या किसी भी समय कोई व्यक्ति केवल हिंसा या असत्य के आधार पर जीवनयापन कर सकता है?

आज धर्म का जो सम्प्रदाय या क्रियाकाण्डी रूप हमारे सामने है, उसकी उपयोगिता सापेक्ष है। सम्प्रदाय या क्रियाकाण्ड जिस सीमा तक जीवन-शुद्धि में निमित्त बनते हैं, उनकी उपयोगिता है। जहां वे अन्धविश्वास या रूढ़ता को पोषण देते हैं, वहां उनकी उपयोगिता के आगे जो प्रश्न चिह्न लगता है उसे कोई भी विराम नहीं दे सकता। जो व्यक्ति धार्मिक सिद्धान्तों की अवहेलना या अवमानना करते है, उनके प्रति हमारे मन में आक्रोश के भाव नही होने चाहिए। पर ऐसे व्यक्तियों को चिन्तनशील मानने का भी कोई आधार नही है।

प्रश्न : भारत धर्मप्रधान देश रहा है। फिर भी क्या कारण है कि यह वर्षों तक परतंत्र रहा है और आज स्वतंत्र क्षणों में भी पिछड़ा हुआ है ? जबकि अधर्म प्रधान देश आज अधिक उन्नत है ?

उत्तर : राजनैतिक स्वतंत्रता या परतंत्रता तथा आर्थिक और औद्योगिक प्रगति या पिछड़ापन धार्मिकता से अनुबंधित नहीं है। भारत की परतंत्रता का कारण भारतीय जनता की धार्मिक वृत्ति नही, उसकी कुण्ठा, अकर्मण्यता, विश्वासघात, पारस्परिक विद्वेष आदि हैं। दूसरी बात है धर्मप्रधानता की। मेरे अभिमत से भारत को धर्म प्रधान देश मानने का हेतु है भारतीय चिन्तन के बिन्दु। आचरण के सन्दर्भ मे हर देश में धर्म और अधर्म अपनी-अपनी सीमाओं में दोनो प्रधान है। किसी भी राष्ट्र की उन्नति और स्वतंत्रता राष्ट्रीय नागरिकों की श्रमशीलता, सैनिक क्षमता, व्यावसायिक योग्यता, राष्ट्रीयता की भावना आदि पर निर्भर है।

प्रश्न : आप सभी धर्मो के प्रति तितिक्षा या सहिष्णुता के भाव की बात कहते है। किन्तु कई धर्म ऐसे है, जिनमे आपके सिद्धान्तों के विपरीत आचरण है, मसलन बलि देने का विधान, शराब पीने की छूट, अनियंत्रित भोगवाद आदि। क्या आप इनके प्रति भी यही भाव रखेंगे ? यदि हा तो क्यों ?

उत्तर : धार्मिक सहिष्णुता का अर्थ है एक धर्म के लोगों का दूसरे धर्म वाले व्यक्तियो के बेमेल विचारो के प्रति सहिष्णु रहना। विचारभेद की स्थिति में शान्ति और सौहार्द से सामने वाले व्यक्ति का हृदय-परिवर्तन करना धार्मिक दृष्टिकोण है। किन्तु बल के प्रयोग से उसके गलत आचरण छुड़ाने की बाध्यता उपस्थित करना निर्विवाद नही है। जिन लोगो का आचरण विपरीत है, उनके प्रति तितिक्षा नही रखेगे तो लड़ेंगे क्या ? दूसरे धर्मो की बात छोड़िए। जैन धर्म मानने वाले किसी व्यक्ति का आचरण भी अवाछनीय हो सकता है, उसे हमारा प्रोत्साहन नही मिलना चाहिए, पर उसके साथ संघर्ष मोल लेना कतई उचित नही है।

बलि, मद्यपान, अनियत्रित भोगवाद की छूट देने वाले धार्मिक मूल्य अपनी धार्मिकता के आगे स्वय ही प्रश्नचिह्न लगा देते है। किसी भी जीवनशुद्धि मूलक धर्म में ये बातें काम्य हो नही सकतीं। फिर भी यदि कुछ लोग इन्हें धर्म मानते हो तो हम उनका अहिसात्मक प्रतिरोध कर सकते हैं। तितिक्षा का अर्थ उन गलत प्रवृत्तियों के प्रति सहानुभूति दिखाना कतई नही है। गलत विचारो और कार्यो को लेकर न आक्षेप-प्रक्षेप करने की अपेक्षा है और न शस्त्रास्त्रो से लड़ने की अपेक्षा है। सयत भाषा और शालीन तरीके से उनके प्रति विरोध प्रदर्शित करना असहिष्णुता नही हो सकती। क्योकि असहिष्णुता की स्थिति में विवेक का धागा व्यक्ति के हाथ से छूट जाता है। फिर धर्म के नाम पर जो कुछ होता है वह अधर्म से कम

नही होता। इसलिए तितिक्षा या सहिष्णुता का मूल्य हर स्थिति में बरकरार है।

प्रश्न : आपने अणुव्रत आन्दोलन शुरू करने की जरूरत क्यों महसूस की ? क्या पहले से आ रहे पांच सूत्र काफी नहीं थे ?

उत्तर : राजनैतिक दासता से स्वतंत्र भारत को आत्मिक स्वतंत्रता का स्वरूपबोध कराने के लिए और उस स्थिति तक पहुंचने की तड़प जगाने के लिए अणुव्रत आन्दोलन का प्रर्वतन किया गया। अणुव्रत का एकमात्र उद्देश्य है समाज में नैतिक मूल्यों की प्रतिष्ठा कर मनुष्य मात्र को आत्म-संयम की ओर प्रेरित करना। इसके लिए समाज में व्याप्त बुराइयों के विरोध में एक सशक्त आवाज उठाने की जरूरत थी। वैसे अच्छाई और बुराई शाश्वत सत्य है। हर युग में इनका अस्तित्व रहा है। कोई भी युग इतना समुज्ज्वल नहीं है, जिसमें बुराई की छाया न पड़ी हो। बुराई की निरन्तर उपस्थिति के बावजूद उसके स्वरूप में अलबत्ता थोड़ा अन्तर आता रहता है। प्राचीन समय मे बुराई का जो रूप था, आज वह दूसरे रूप में है। इसका प्रतिकार करने के लिए प्राचीन दवा काम में लेने से उसका व्यापक और शीघ्र प्रभाव नही होता। इसलिए प्रतिकारक उपायों मे परिवर्तन किया जाता है। हर युग की भाषा, सोच-विचार के तरीके और जनमानस भी भिन्न-भिन्न होता है। इस स्थिति मे एक ही बटखरे से सबको कैसे तोला जा सकता है ?

अहिसा, सत्य आदि पांच सूत्रों की पर्याप्तता का जो प्रश्न है, मै समझता हूं कि अणुव्रत मे इन पांचो से हटकर है ही क्या ? अणुव्रत के जितने नियम है, उनका मौलिक आधार तो ये पांच सूत्र ही है। व्रतो के विस्तार और भाषा-परिवर्तन के लिए जो स्थितियां निमित्त बनीं, उनमें कुछ ये हैं :

- धार्मिकता का झूठा व्यामोह।
- केवल उपासना, क्रियाकाण्डों और रूढ़ परम्पराओं का महत्त्व।
- चरित्र और नैतिक मूल्यों की विस्मृति।
- धार्मिक असहिष्णुता।
- आचार भ्रष्टता।
- जन-जीवन में व्यसनों का तीव्रगामी प्रभाव।
- अस्पृश्यता जैसी अमानवीय भावनाओं का उदय।

ऐसी स्थितियों को निरस्त करने के लिए मानवीय मूल्यों [illegible] करने की अपेक्षा थी। इस अपेक्षा की पूर्ति तब [illegible] उन मूल्यो की नये परिवेश में प्रस्तुति न हो। इन [illegible] मैंने अनुभव किया कि कुछ ऐसे मूल्य जनता के [illegible] सम्मत हो। किसी भी धर्म को जिनमें आपत्ति न हो

काम कर सकते है । मेरे अभिमत से अणुव्रत की आचार-संहिता सर्व-धर्म सम्मत है, उसकी प्रस्तुति युगीन परिवेश मे है और वह लम्बे समय से चली आ रही धार्मिक जड़ता को तोड़ने मे सक्षम है ।

प्रश्न : अणुव्रत के सिद्धान्त व्यवहार से बहुत दूर है, इस पर आप क्या सोचते हैं ? अणुव्रत आन्दोलन की प्रगति से आप कितने संतुष्ट है ? क्या आप अनुभव करते है कि उसने समाज पर वांछित प्रभाव डाला है ? यदि नही तो उसे प्रभावी बनाने के लिए आप क्या उपाय करना चाहेंगे ?

उत्तर : अणुव्रत के सब सिद्धान्त व्यवहार में आ जाते है तो फिर आन्दोलन को जारी रखने की अपेक्षा ही नहीं रहती । भारतीय जनता की सबसे बड़ी कठिनाई है–आचार और व्यवहार की विसंगति । उसके आदर्श आकाश को छू रहे है, किन्तु व्यवहार पाताल में ही टिके है । उसकी कथनी और करनी में स्पष्ट असमानता है । उसके जीवन-दर्पण पर आदर्शो का प्रतिबिम्ब साफ और पूर्ण नही है, यह किसी से अज्ञात नहीं है ।

मेरे संतोष का जहां तक प्रश्न है, मैं किसी भी काम से झटपट असंतुष्ट नही होता । अणुव्रत के संदर्भ मे हमने जो कुछ काम किया, अपना कर्तव्य समझकर किया और आज भी कर रहे है । ससार की सब बुराइयां समाप्त करने की कल्पना हमने न तो पहले ही की थी और न अब ही ऐसी कोई कल्पना हमारे सामने है। अणुव्रत के माध्यम से हमने जो कुछ करना चाहा था, उसके परिणाम शून्य मे नही हैं । नैतिक मूल्यों के सन्दर्भ में वैचारिक क्रान्ति की दृष्टि से एक वातावरण बना है । भारतीय जनता के मन और मस्तिष्क से नैतिकता के नाम का लोप हो रहा था, आज वह पुनः जीवन्त हो उठा है । अणुव्रत की बढ़ती हुई लोकप्रियता मे असंतोष का कुहासा अगर कहीं है भी तो अपने आप छट जाता है ।

अब रही बात लोकजीवन मे उसके वांछित प्रभाव की । इसका सबंध जनता के आचरण पक्ष से है । इसमे जिस सीमा तक व्यक्तिश· परिवर्तन होना चाहिए था, वह नही हो पाया है । ऐसा न होने का कारण केवल व्यक्ति की दुर्बलता ही नही है, राजनैतिक, सामाजिक और वैधानिक परिस्थितियां भी इसमे एक विशेष भूमिका निभा रही है । सामाजिक मानदण्ड और मूल्यो का ह्रास भी एक बड़ा कारण है। इन सबके पीछे काम कर रहा है, मनुष्य का अर्थ प्रधान दृष्टिकोण । संसार के अन्य भागों की स्थितियां भी रेड़ियो, टी० वी० आदि माध्यमो से अवगत होती रहती है । ये सब ऐसे कारण है, जो किसी भी नैतिक आन्दोलन द्वारा लोकचेतना को प्रभावित करने की दिशा मे बड़ी बाधाएं हैं ।

आन्दोलन को और अधिक प्रभावी बनाने के लिए सभी धर्म-प्रचारको और

समाजसेवी संस्थाओं के कार्यकर्ताओं के मिल-जुलकर काम करने की अपेक्षा है। विभक्त कामों मे शक्ति और समय अधिक लगता है, काम कम होता है। काम भी युद्धस्तर पर होना जरूरी है . इसके लिए सामूहिक संगोष्ठियों के साथ-साथ व्यक्तिशः संपर्क, तदनुरूप साहित्य के सृजन और सामाजिक मानकों को उन्नत करने की अपेक्षा है।

प्रश्न : आपके अहिंसा आदि सिद्धान्त सार्वभौम हैं, मानव जाति के लिए उपयोगी है। आप इनका प्रचार जैन धर्म के बाने में--सीमा मे ही क्यों करते हैं ?

उत्तर : मेरे अभिमत से कोई भी बाना अहिंसा के प्रचार में बाधक नहीं है। बाना तो मात्र प्रतीक है। जैन-धर्म और उसके सिद्धान्तों में हमारी परिपूर्ण आस्था है। इसलिए हमने यह वेश धारण कर लिया। यह नहीं भी करते तो कोई-न-कोई वेश तो रखना ही होता। बिना किसी वेश के हमारा काम चलता नही। ऐसी स्थिति में हम किसी भी धर्म का बाना स्वीकार करें, सार्वभौम सिद्धान्तो के प्रचार मे कोई कठिनाई नहीं है। व्यवहार की भूमिका पर सीमा की उपेक्षा करना संभव नही। किसी सघ की सीमा में रहकर व्यक्ति असीम दृष्टि से काम करे, यह एक प्रकार की व्यवस्था है। जहां दृष्टिकोण संकीर्ण है, वहां किसी प्रकार की सीमा या व्यवस्था न होने पर भी व्यक्ति व्यापक रूप से काम नही कर सकता।

प्रश्न : आप इससे सहमत नही हैं कि कोई भी धर्म-निरपेक्ष नीति राष्ट्रीय एकता में सहायक बन सकेगी। आपका कहना है कि भारतीय संविधान में जिस धर्मनिरपेक्षता की चर्चा है, उसका अर्थ सम्प्रदायनिरपेक्ष होना चाहिए। क्या सम्प्रदाय धर्म-मूलक ही नही होते है ?

उत्तर : धर्म शब्द से हमारा प्रयोजन मानवीय आचार, व्यवहार से है। जन-साधारण धर्म का यही अर्थ समझते है इस दृष्टि से धर्म-निरपेक्ष नीति का अर्थ होगा अध्यात्म या आचार-शून्य नीति। जिस नीति की पृष्ठभूमि में अध्यात्म की शक्ति नहीं, चरित्र का वल नही, वह भला राष्ट्रीय एकता कैसे कर सकेगी ?

धर्म-निरपेक्ष शब्द अंग्रेजी के Secular शब्द का हिन्दी रूपांतरण है, जो कि भ्रामक है। वहां धर्म का संबंध सम्प्रदाय के साथ रखा गया है। यद्यपि सम्प्रदाय धर्म के आधार पर चलता है, पर वहां साम्प्रदायिक भावना को ही मुख्य रूप से लिया जाना चाहिए। क्योंकि किसी भी नीति का धर्म या अध्यात्म से शून्य होना शुभ नहीं है। साम्प्रदायिक निरपेक्षता का अपना मूल्य है। जहां जनतंत्रीय शासन चलते हों और अनेक धर्म सम्प्रदायों को मानने वाले लोग हों, वहां सत्तारूढ़ दल यदि किसी सम्प्रदाय से अनुबंधित हो जाता है तो उस राष्ट्र का सर्वांगीण विकास नहीं हो सकता। जिस देश की राजनीति या विधान परिषद् एक संप्रदाय विशेष

से सापेक्ष होकर चलती है, वहां सब कुछ अस्त-व्यस्त हो जाने की संभावना रहती है। जो राष्ट्र अमुक-अमुक मजहबों से ही संबद्ध हो, वे अपनी प्रजा को कोई भी व्यवस्था दे सकते हैं, पर भारत जैसे व्यापक दृष्टिकोण वाले राष्ट्र में साम्प्रदायिकता को मान्यता नहीं मिल सकती।

यदि हम धर्म-निरपेक्ष शब्द का अर्थ आचार-निरपेक्ष करें, अध्यात्म-निरपेक्ष करे तो उस नीति के फलस्वरूप होने वाले दुष्परिणामों से बचने की कोई संभावना नही रहती है।

प्रश्न : क्या आपकी राजनीति में सक्रिय रूचि है ? वर्तमान भारतीय राजनीति पर आपके क्या विचार हैं ? सामाजिक क्रान्ति का आपका सिद्धान्त राज्य की सत्ता से कैसे समन्वित हो सकता है ?

उत्तर : हम लोग जैन साधु हैं। साधना हमारा मुख्य उद्देश्य है। जैन साधु-चर्या से संबंधित रहकर हम राजनीति का ज्ञान तो कर सकते है पर उसमे सक्रिय कैसे रह सकते है ? रहना चाहिए भी नही। क्योकि साधुता का सबंध आत्मनीति से है, राजनीति से नहीं।

वर्तमान भारतीय राजनीति लोकतांत्रिक है। लोकतंत्र एक स्वस्थ शासन पद्धति के रूप मे स्वीकृत है। क्योंकि इनमें सह अस्तित्व, अहिसा, अनाक्रमण, वैचारिक स्वतन्त्रता जैसी मानवीय नीतियों का मूल्यांकन है। ये नीतियां जैन सिद्धांत सम्मत है। इतना ही नहीं, राष्ट्र की जनता को भय और आतंक से मुक्त रखकर विकास करने में सहयोग देती है। इस दृष्टि से भी अच्छी है। किन्तु यह सब है सैद्धान्तिक स्तर पर। जनता या शासकों के आचरण में ये सब बाते कहां तक आ पायी है, यह पहलू विवादास्पद है।

सामाजिक क्रान्ति और राज्यसत्ता की समन्विति के संदर्भ में मेरे सामने कोई उलझन नही है। मेरी मान्यता है कि क्रान्ति के लिए हृदय-परिवर्तन और व्यवस्था परिवर्तन दोनों का योग होना जरूरी है। सामाजिक क्रान्ति केवल धर्म से नही हो सकती और केवल कानून से भी नहीं हो सकती। धर्म का अपना काम और अपनी सीमाएं हैं, उसी प्रकार कानून का अपना काम और अपनी सीमाएं है। दोनो अपने-अपने स्थान पर रहकर काम करें तो उनके संयुक्त प्रयास जल्दी सफल हो सकते हैं। बलात् थोपे हुए कानून में वैसे हमारा विश्वास नहीं है, पर जहां तक समाज का प्रश्न है, वहां हृदय-परिवर्तन के साथ कानून की अपरिहार्यता को भी नकारा नहीं जा सकता। राज्यसत्ता व्यवस्था सुधार का काम अपने हाथ में ले तो धार्मिक या सामाजिक किसी भी मंच से समाज-क्रान्ति की बात सहज रूप से घटित हो सकती है।

प्रश्न : रजनीश, सांई बाबा, महेश योगी सरीखे भगवान बने धर्मनेताओं के संबंध में आपके क्या विचार हैं ?

उत्तर : व्यक्तिगत रूप से किसी के कार्यों पर आक्षेप या टिप्पणी करने की न अपेक्षा है और न हमारी नीति भी ऐसी है । सब लोग अपने ढंग से अपना काम करते है । किन्तु यह बात निश्चित है कि भारतीय संस्कृति में उन्हीं व्यक्तियों और सिद्धान्तों का मूल्य है जो देश की सांस्कृतिक चेतना को उन्नत बना सकें । जीवन विकास के लिए साधना आवश्यक है । पर वह साधना सफल है, जो व्यक्ति को आसक्ति से अनासक्ति की ओर ले जाने में सक्षम है । जिससे वृत्तियों का रूपांतरण होता है, तनाव से मुक्ति मिलती है, शांतिपूर्वक जीवन-यापन की दिशा मिलती है और बहिर्मुखी चेतना अन्तर्मुखता की ओर अग्रसर हो जाती है । इस दृष्टि से हमने 'प्रेक्षा-ध्यान-साधना' पद्धति का प्रारम्भ किया है । वैसे यह विधान प्राचीन जैन साधना पद्धति का विकसित रूप है । मानवीय वृत्तियों के रूपान्तरण में इसके प्रयोग आश्चर्यकारक परिणाम ला रहे हैं । प्रेक्षा-ध्यान से संबंधित साहित्य भी तैयार हो रहा है । मेरा विश्वास है कि व्यक्ति को वीतरागता की ओर ले जाने वाली साधना-पद्धतियो मे प्रेक्षा-ध्यान साधना का अपना मूल्य है ।

जो लोग केवल बाह्य चमत्कारों में विश्वास करते हैं, आत्म-ख्यापन के लिए चमत्कार दिखाते है अथवा आर्थिक दृष्टिकोण या स्वार्थ-पोषण की भावना से काम करते है, उन्हें स्वयं ही कितना आत्मतोष मिलता है, कहा नहीं जा सकता । अध्यात्म की दृष्टि से ऐसी वृत्तियों और प्रवृत्तियों का कोई मूल्य नहीं है ।

आत्मानुभव की प्रक्रिया

प्रश्न : सम्यक्त्व के लिए क्या आत्मानुभूति होना आवश्यक है वीतरागी देव, गुरु एवं शास्त्र के प्रति संस्कारात्मक श्रद्धा-भक्ति-मात्र से क्या आत्मानुभूति की जा सकती है ? यदि नही तो उसको प्राप्त करने की क्या प्रक्रिया है ?

उत्तर : सम्यक्त्व दो प्रकार की होती है—व्यावहारिक और नैश्चयिक। व्यावहारिक सम्यक्त्व का लक्षण है देव, गुरु और धर्म में देवत्व गुरुत्व और धर्मत्व की बुद्धि। व्यवहार के धरातल पर देव, गुरु और धर्म की पहचान होने के बाद व्यावहारिक रूप से आत्मानुभूति भी हो जाती है। निश्चय नव की दृष्टि से देव, गुरु और धर्म सब आत्मा ही है। आत्मा से भिन्न कोई भी तत्त्व ऐसा नही है, जो सम्यक्त्व की उपलब्धि में निमित्त बने। इस दृष्टि से आत्मा को पहचानना और आत्मा को पाना ही सम्यक्त्व है। इस सम्यक्त्व की उपलब्धि आत्मानुभूति के साथ जुड़ी हुई है।

आत्मानुभूति या आत्मा-रूप सम्यक्त्व को प्राप्त करने का सीधा-सा तरीका है 'प्रेक्षा ध्यान'। 'संपिक्खए अप्पगमप्पएणं' आत्मा से आत्मा को देखो, इस सूक्त मे आत्म-दर्शन या आत्मानुभव पर ही बल दिया गया है।

प्रश्न : धर्म की क्रिया एवं मोक्ष मार्ग की क्रिया मे क्या अंतर है ? कुछ विद्वानों का मत है कि धर्म (त्रिकाल रूप) की शुरूआत चौथे गुणस्थान से होती है एवं मोक्षमार्ग (त्रिरत्न रूप) की शुरुआत पचम गुणस्थान से होती है। अनंतानुबंधी कषाय के अभाव रूप चारित्र से अर्थात् चौथे गुणस्थान से मोक्षमार्ग का प्रारम्भ मानने में क्या कोई भूल है।

उत्तर : धर्म के दो प्रकार है—संवर और निर्जरा। संवर धर्म की शुरुआत पांचवें गुणस्थान से होती है। चौथे से नही। यद्यपि चौथे गुणस्थान से मोक्षमार्ग का प्रारम्भ मानने में क्या कोई भूल है ?

उत्तर : धर्म के दो प्रकार है— संवर और निर्जरा। संवर धर्म की शुरुआत पांचवें गुणस्थान से होती है। चौथे से नही। यद्यपि चौथे गुणस्थान से सम्यक्त्व संवर, संवर धर्म में परिगणित नही होता। भगवती सूत्र में प्रथम चार गुणस्थानो

को एकान्त बाल और अधर्मी बताया है। यह कथन संवर धर्म की अपेक्षा से है। निर्जरा धर्म की अपेक्षा से धर्म का प्रारम्भ प्रथम गुणस्थान से ही हो जाता है। क्योंकि पहले गुणस्थान में भी चारित्र मोह का क्षयोपशम होता है और अनन्तानुबंधी कषाय चतुष्क भी हल्का हो सकता है। यद्यपि वहां मिथ्यात्त्व विद्यमान रहता है फिर भी क्रोध, मान, माया और लोभ की कमी के फलस्वरूप क्षमा, मृदुता, ऋजुता और निर्लोभता भी कमबेसी मात्रा मे रहती ही है। इन गुणों की अपेक्षा से प्रथम गुणस्थान मे भी निर्जरा धर्म माना गया है।

धर्म और मोक्षमार्ग की क्रिया निर्जरा धर्म की दृष्टि से एक ही है। संवर धर्म की अपेक्षा से मोक्ष मार्ग अधर्म भी हो सकता है क्योकि प्रथम चार गुणस्थानों को अधर्मी और असंयमी कहा गया है।

प्रश्न : सर्वज्ञ के ज्ञान को प्रमाण मानने से प्रकारान्तर से यह भी सिद्ध होता है कि प्रत्येक द्रव्य का परिणमन अपने निश्चित क्रम में होता है। ऐसा मानने पर यह विकल्प आये बिना नही रहता कि जिसका जब जो होना है उसका उसी अनुरूप परिणमन यथा समय हो जायेगा। ऐसा मानने पर मोक्षमार्ग के पुरुषार्थ की क्या आवश्यकता है ?

उत्तर : पदार्थ या द्रव्य का परिणमन मोक्षमार्ग या धर्म नहीं, पदार्थ का स्वभाव है। पदार्थ का परिणमन नियत है, पर संवर धर्म या निर्जरा धर्म का आचरण नियति से नही हो सकता। धर्म पुरुषार्थ की परिणति है। बहुत बार व्यक्ति अपने पुरुषार्थ से स्वभाव, कर्म, भाग्य आदि को बदल देता है। ऐसी स्थिति में पुरुषार्थ की अपेक्षा को नकारा नही जा सकता।

हम सर्वज्ञ के ज्ञान को प्रमाण मानते है। पर उनके ज्ञान की प्रामाणिकता का हमारे पुरुषार्थ पर कोई असर नही हो सकता। क्योंकि केवलज्ञानी के जानने मात्र से हम तो उस स्थिति को नही जान सकते। जब हम अपने बारे में निश्चित रूप से कुछ जानते ही नहीं है तब हाथ पर हाथ धरकर कैसे बैठ सकते है ?

प्रकारान्तर से हम यह भी मान लें कि निश्चय नय के अनुसार नियति प्रधान हो सकती है, पर व्यवहार की दृष्टि से पुरुषार्थ का अपना मूल्य है। कोई भी व्य[illegible] व्यक्ति पुरुषार्थ को छोड़कर नियति के भरोसे नहीं बैठ सकता।

प्रश्न : क्या एक द्रव्य दूसरे द्रव्य में कुछ पुरुषार्थ कर [illegible] तो जीव की शरीराश्रित बाह्य क्रियाओं का क्या औ[illegible]

उत्तर : एक द्रव्य दूसरे में पुरुषार्थ कर सकता [illegible] है। प्रश्न होना चाहिए–एक द्रव्य दूसरे द्रव्य के [illegible] ?

पुरुषार्थ किसी दूसरे के प्रति नहीं होता, अपने प्रति ही होता है। दूसरा द्रव्य उससे सम्बद्ध हो सकता है। आत्मा और शरीर परस्पर सबंधित है, वैसी स्थिति में आत्मा द्वारा किये गये पुरुषार्थ से शरीर अप्रभावित कैसे रह सकता है ? आत्मा और शरीर जब तक एक साथ संयुक्त हैं तब तक आत्मा की क्रिया का प्रभाव शरीर पर होगा और शरीर की क्रिया का प्रभाव आत्मा पर पड़ेगा। शरीर-मुक्त आत्मा न तो शरीर को प्रभावित कर सकती है और न शरीराश्रित कोई क्रिया ही कर सकती है। आत्मा और शरीर की भिन्नता में किसी का किसी पर कोई असर नहीं होता। किन्तु जब तक ये परस्पर संश्लिष्ट हैं, एक-दूसरे के प्रभाव से मुक्त नहीं हो सकते।

अखाद्य क्या है ?

प्रश्न : फिल्टर किया हुआ नल का पानी सचित्त है या अचित्त ?

उत्तर : नल के पानी में कुछ विशेष केमिकल्स के प्रयोग से पानी के रंग, गन्ध और स्वाद में परिवर्तन हो जाता है। इस दृष्टि से उसे अचित्त मानने में कोई बाधा नही है। किन्तु जहां जल फिल्टर किया जाता है, वहां से संबंधित स्रोतों से हमें यह जानकारी मिली है कि कर्मचारियों की असावधानी या अप्रमाणिकता के कारण जल मे डाले जाने वाले पदार्थों की मात्रा में कमी रह जाती है। पानी अधिक मात्रा मे हो और केमिकल्स कम मात्रा में हों। उस स्थिति में उस जल के अचित होने मे संदेह नही रहता। पर जिन व्यक्तियों को सचित पानी पीने का त्याग है, वे उसे तब तक काम में नही ले सकते।

प्रश्न : हमारी संस्कृति व परम्परा में अंडों को अभक्ष्य माना गया है। क्यों? उत्तेजना, कामुकता या क्रूरता की जो बात कही जाती है, वह ऐकान्तिक नहीं है। मांस और अंडो का सेवन न करने वाले व्यक्तियों की वृत्तियों में उक्त मनोभाव मिल सकते हैं और मांसाहार करने वालों में नहीं भी मिल सकते। दूसरी बात है हिंसा की। पर आजकल तो निर्जीव अंडों का उत्पादन हो रहा है। इस स्थिति मे आप हमारे असमाहित मंन को समाधान दे रहे हैं ?

उत्तर : किसी भी वस्तु का निषेध किया जाता है, उसके पीछे कुछ मौलिक कारण होते हैं। क्योंकि बिना ठोस आधार के किसी भी प्रवृत्ति को व्यापक स्तर पर निषिद्ध करने का प्रश्न उभर ही नहीं सकता। मांसाहारनिषेध का एक दृश्य कारण यह है कि मांस मनुष्य का भोजन नही है। मनुष्य के शरीर और दांतों की बनावट मांसाहारी पशुओं से भिन्न प्रकार की है, अतः यह उसका स्वाभाविक आहार नहीं हो सकता।

अहिंसा की दृष्टि से भी मांसाहार से बचना आवश्यक है। मांसाहार करने

पुरुषार्थ किसी दूसरे के प्रति नहीं होता, अपने प्रति ही होता है। दूसरा द्रव्य उससे सम्बद्ध हो सकता है। आत्मा और शरीर परस्पर संबंधित है, वैसी स्थिति में आत्मा द्वारा किये गये पुरुषार्थ से शरीर अप्रभावित कैसे रह सकता है ? आत्मा और शरीर जब तक एक साथ संयुक्त हैं तब तक आत्मा की क्रिया का प्रभाव शरीर पर होगा और शरीर की क्रिया का प्रभाव आत्मा पर पड़ेगा। शरीर-मुक्त आत्मा न तो शरीर को प्रभावित कर सकती है और न शरीराश्रित कोई क्रिया ही कर सकती है। आत्मा और शरीर की भिन्नता में किसी का किसी पर कोई असर नहीं होता। किन्तु जब तक ये परस्पर संश्लिष्ट है, एक-दूसरे के प्रभाव से मुक्त नहीं हो सकते।

अखाद्य क्या है ?

प्रश्न : फिल्टर किया हुआ नल का पानी सचित्त है या अचित्त ?

उत्तर : नल के पानी में कुछ विशेष केमिकल्स के प्रयोग से पानी के रंग, गन्ध और स्वाद में परिवर्तन हो जाता है। इस दृष्टि से उसे अचित्त मानने में कोई बाधा नहीं है। किन्तु जहां जल फिल्टर किया जाता है, वहां से संबंधित स्रोतों से हमें यह जानकारी मिली है कि कर्मचारियों की असावधानी या अप्रमाणिकता के कारण जल मे डाले जाने वाले पदार्थों की मात्रा में कमी रह जाती है। पानी अधिक मात्रा मे हो और केमिकल्स कम मात्रा में हों। उस स्थिति में उस जल के अचित होने मे संदेह नहीं रहता। पर जिन व्यक्तियो को सचित पानी पीने का त्याग है, वे उसे तब तक काम में नहीं ले सकते।

प्रश्न : हमारी संस्कृति व परम्परा में अंडों को अभक्ष्य माना गया है। क्यों ? उत्तेजना, कामुकता या क्रूरता की जो बात कही जाती है, वह ऐकान्तिक नहीं है। मांस और अंडों का सेवन न करने वाले व्यक्तियों की वृत्तियो मे उक्त मनोभाव मिल सकते हैं और मांसाहार करने वालों मे नही भी मिल सकते। दूसरी बात है हिंसा की। पर आजकल तो निर्जीव अंडों का उत्पादन हो रहा है। इस स्थिति में आप हमारे असमाहित मन को समाधान दे रहे हैं ?

उत्तर : किसी भी वस्तु का निषेध किया जाता है, उसके पीछे कुछ मौलिक कारण होते हैं। क्योंकि बिना ठोस आधार के किसी भी प्रवृत्ति को व्यापक स्तर पर निषिद्ध करने का प्रश्न उभर ही नहीं सकता। मांसाहार-निषेध का एक प्रमुख कारण यह है कि मांस मनुष्य का भोजन नहीं है। मनुष्य के शरीर और दांतों की बनावट मांसाहारी पशुओं से भिन्न प्रकार की है, अतः यह उसका स्वाभाविक आहार नहीं हो सकता।

शरीर की दृष्टि से भी मांसाहार से रचना [illegible] है। मांसाहार करने

वाले व्यक्ति स्वयं हिंसा न करें तो भी वृत्तियों में अहिंसा का प्रकर्ष नहीं हो सकता। समय पर वे अपनी आवश्यकता की पूर्ति के लिए जघन्यतम क्रूरता करने में भी संकोच नही करते । नृपति सौदास की घटना इस तथ्य को स्पष्ट रूप में प्रमाणित करती है ।

उत्तेजना और कामुकता की बात को भी सर्वथा नकारा नहीं जा सकता । वैसे अपवाद की घटनाएं तो सब क्षेत्रों में घटित हो सकती है । पर भोजन का मनुष्य के शरीर और मन पर पूरा-पूरा असर होता है । यह निर्विवाद है । इसीलिए तो शरीरशास्त्री सात्विक भोजन पर अधिक बल देते है ।

हिसा का प्रश्न शाकाहार के साथ भी जुड़ा हुआ है, पर वह जीवन की अपरिहार्यता है । क्योकि मनुष्य को खाने के लिए कुछ न कुछ तो चाहिए ही । अपरिहार्यता के कारण शाकाहार से होने वाली हिंसा अहिंसा नहीं हो सकती, किन्तु उस आवश्यकता को टाला नहीं जा सकता, इसलिए उसे अभक्ष्य नही माना गया। शाकाहार मे कुछ सब्जियां तामसिक और उत्तेजक होती है, उन्हें वर्ज्य माना जाता है ।

अब रहा प्रश्न निर्जीव अंडो का । अंडे निर्जीव हों या सजीव, आखिर है तो मांसाहार ही । मांस भी तो निर्जीव ही होता है । वह जब अभक्ष्य है तो अंडे भक्ष्य कैसे हो जाएंगे ? दूसरी बात यह है कि सजीव-निर्जीव का समुचित विवेक भी रहना कठिन है । इसके साथ यह तथ्य भी चिन्तनीय है कि एक खुलावट दूसरी खुलावटों को बुलावा देती है । खुलते-खुलते नही खुलने का भी खुल जाता है । इस दृष्टि से निर्जीव अंडों का भी दृढ़ता से निषेध होना चाहिए । उनके निषेध में कोई नुकसान नहीं है अपितु उसे छूट देने से कुछ नयी समस्याओ का उद्भव हो सकता है ।

प्रश्न के उत्तर का अन्तिम बिन्दु है अपनी सांस्कृतिक परम्परा की सुरक्षा । मांस और अंडों के सेवन से होने वाले दुष्परिणाम किसी की समझ मे आयें या नहीं, पर यह तो सब जानते ही है कि यह हमारी संस्कृति के प्रतिकूल है, इसलिए किसी भी परिस्थिति में इसकी ओर झुकाव नही होना चाहिए ।

प्रश्न : कुछ व्यक्ति दुग्धाहार को भी मांसाहार की मान्यता देते है और वे इसी भाव से उसका वर्जन करते है । क्या दूध भी मांसाहार है ?

उत्तर : हां, कुछ लोगो का यह अभिमत रहा है कि दूध नही पीना चाहिए। क्योंकि वह भी शरीर से निष्पन्न होता है। शरीर से निष्पन्न मांस और रुधिर अभक्ष्य है तो दूध भक्ष्य कैसे होगा ? इस दृष्टि से वे लोग दूध का उपयोग नहीं करते।

यह उन लोगों की अपनी दृष्टि है किन्तु सामान्यतः दुग्धाहार को शाकाहार मे ही सम्मिलित किया गया । क्योंकि वह बच्चे का भोजन है । वह बच्चे के लिए ही निष्पन्न होता है । यदि दूध अभक्ष्य होता तो उसे बच्चा कैसे पीता ? कोई व्यक्ति दूध पीए या नही, पर वह मांसाहार नहीं है ।

पूजा-पाठ कितना सार्थक ! कितना निरर्थक !

प्रश्न– वर्तमान युवा पीढ़ी की धारणा है कि जीवन में पुजा-पाठ की कोई जरूरत नहीं है । धर्म का उद्देश्य है चित्त की निर्मलता । चित्त यदि निर्मल है तो पूजा-पाठ निरर्थक है और चित्त निर्मल नहीं होता है तो पूजा-पाठ की आवश्यकता ही क्या है ? ऐसा सोचने वाले युवकों को आप क्या दिशा-निर्देश देंगे ?

उत्तर : चित्त की निर्मलता का जहां तक प्रश्न है, इसमें कोई मतभेद नही है । धर्म का लक्ष्य मानसिक स्वस्थता और जीवन की पवित्रता ही है । जीवन पवित्र नही है, व्यवहार में सचाई और प्रामाणिकता नहीं है, मन शुद्ध नही है, उस स्थिति में सारे कर्मकाण्ड भार बन जाते हैं । किन्तु इनकी कोई उपयोगिता है ही नही, इस बात के साथ मेरी सहमति नहीं है । चित्त की निर्मलता के अभाव मे पूजा-पाठ का होना और न होना बराबर बताया गया, यह भी एकांगी सत्य है । इसी सन्दर्भ को पुष्ट करने वाला एक संस्कृत का श्लोक है–

पथ्ये सति गदार्तस्य किमौषनिषेवनैः ।
पथ्येऽसति गदार्तस्य किमौषधनिषेवनैः ॥

जो व्यक्ति पथ्य-परहेज से रहता है, उसे औषधि-सेवन की अपेक्षा ही नहीं है और जो पथ्य-परहेज नहीं रख पाता है तो उसे भी औषधि-सेवन की अपेक्षा नही है । क्योंकि औषधि अपने अनुपान के साथ ही लाभ पहुंचाती है । उक्त तथ्य की सत्यता को स्वीकार करने पर भी यह तो मानना ही होगा कि औषधि भी एक निमित्त है । बहुत सी बीमारियां ऐसी होती हैं, जिनका शमन दवा के बिना होता ही नहीं। पथ्य के योग से उसका लाभ स्थायी व अधिक असरकारक होगा । लेकिन दवा अकिंचित्कर ही है, इस बात को कोई भी डॉक्टर या केमिस्ट नहीं मानेगा ।

पूजा-पाठ भी साधना रूप में उपयोगी है । जहां तक यह मूल लक्ष्य की सिद्धि में सहयोगी बनता है, वहां तक इसके साथ मेरी असहमति नहीं है । किन्तु पूजा पाठ तक जाकर ही रुक जाना, एक ठहराव को स्वीकृत कर लेना जड़ता का प्रतीक

है। इस दृष्टि से एकान्ततः पूजा -पाठ का निषेध भी उचित नही है और इसे ही सब-कुछ मान लेना, यह भी ठीक नहीं है। जिस सीमा तक यह मानसिक शुद्धि और एकाग्रता में निमित्त बनता है, उस सीमा तक इसकी उपयोगिता है। केवल परम्परा का निर्वाह करने की दृष्टि से इसकी कोई उपादेयता नही है।

प्रश्न : कुछ लोगों की धारणा है कि कर्मकाण्ड चित्त की अशुद्धता को छिपाने के लिए होता है। यदि यह बात सही है तो मानना होगा कि वह केवल ढोंग है अन्यथा उसका कोई परिणाम भी आता ?

उत्तर : आज कर्मकाण्डी लोगों की जो स्थिति है, उनके जीवन में जो द्विरूपता है उसके आधार पर कहा जा सकता है कि वे अपना पाप छिपाने के लिए ऐसा करते है। दिन-भर दुकान पर बैठकर ग्राहकों को धोखा देना, रिश्वत लेना, झूठे केस लड़ना, चोरी, झूठ आदि में लगे रहना और इनके दुष्परिणाम से बचने के लिए मन्दिर में प्रतिमा की परिक्रमा लगाना, साधु-सन्तो के चरण स्पर्श करना, भजन-कीर्तन मे भाग लेना वास्तव मे धार्मिकता नही है। इन सब स्थितियों को देखकर जो व्यक्ति उपासना -पद्धति या कर्मकाण्डों के सम्बंध मे अन्यथा धारणाए बनाते है, वे एकदम गलत नही है। धर्म के क्षेत्र में ऐसा होता आया है, इसीलिए उसका अनुकूल परिणाम नही आ रहा है।

मेरे अभिमत से धर्म के दो रूप है– आचरण और कर्मकाण्ड। कर्मकाण्ड छिलके के समान है और आचरण गूदे के समान। गूदे की सुरक्षा के लिए छिलका आवश्यक है। समय से पहले ही छिलका उतारकर फेक दिया जाए तो फल सड़ जाता है। इसी प्रकार प्रारम्भ में ही कर्मकाण्डो को सर्वथा नकार दिया जाए तो आचरण का पक्ष विस्मृत हो सकता है।

नदी पार करने के लिए नौका का सहारा लिया जाता है। मझधार में नौका को छोड़ दिया जाए तो डूबने की पूरी-पूरी आशंका रहती है। किन्तु तट तक पहुंचने के बाद भी नौका को पकड़कर बैठ जाना जड़ता है।

एक दुमंजिले, तिमंजिले मकान की ऊपरी मंजिलों तक पहुंचने के लिए सीढ़ियों का सहारा लेना जरूरी है। ऊपर पहुंच जाने के बाद भी सीढ़ियों से चिपककर खड़े रहना बुद्धिमत्ता नही है। उक्त सभी प्रतीकों के द्वारा उपासना और आचरण का भेद समझा जा सकता है।

प्रश्न : हमारे ऋषि-मुनियों और आचार्यों ने कर्मकाण्ड पर इतना बल क्यों दिया ? उसका असर आज की पीढ़ी पर क्यों नहीं है ?

उत्तर : जिन लोगों ने कर्मकाण्ड पर अधिक बल दिया, वे [illegible]

को भूल गए । एकांगी विचारधारा जीवन में रूढ़ता लाती है । वास्तव मे जितने कर्मकाण्ड है, अग्रिम भूमिका में वे सब त्याज्य है । एक सीमा तक पहुंचने के बाद उनकी उपयोगिता समाप्त हो जाती है । प्रतिमा, माला, मत्र, संत-दर्शन, प्रवचन-श्रवण आदि जितनी चीजें हैं, वे सब अध्यात्म चेतना के जागरण मे निमित्त बन सकती हैं । किन्तु जरूरी नहीं है कि इनके द्वारा जागरण हो ही । कुछ व्यक्ति ऐसे भी होते है जिन्हें किसी आलम्बन की अपेक्षा ही नही होती । बिना ही आलम्बन वे अपने चित्त को एकाग्र बना लेते हैं ।

युवा पीढ़ी पर कर्मकाण्डों का प्रभाव नही होता है, इसका कारण यह है कि आज अधिकांश धार्मिक लोग साधन को साध्य मान बैठे हैं । वे जड़वाद को प्रश्रय दे रहे हैं । प्रतिमा एकाग्रता का निमित्त है, इसलिए उसकी पूजा की जाती है फिर माला के मनको और हाथ पदों (पैरवो) की भी पूजा होनी चाहिए । क्योकि ये भी एकाग्रता में निमित्त तो है ही । किन्तु इन जड़ पदार्थो के पूजन की बात प्रबुद्ध लोगों की समझ में नही आती । कर्मकाण्डों की वैज्ञानिकता और एक सीमा तक उसकी जो उपयोगिता है, उसे ध्यान में रखकर युवापीढ़ी को समझाया जाए तो वह उसे नकार नहीं सकती । किन्तु रूढ़धार्मिकता, अवैज्ञानिक दृष्टिकोण, एकांगी प्रतिपादन और दबाव आदि ऐसी स्थितिया है, जो आज की युवा पीढ़ी को उपासना धर्म से विमुख बना रही हैं ।

प्रश्न : भारत में ही नहीं, इंग्लैड, फ्रांस, जर्मनी, नार्वे, बेल्जियम, इटली, जापान आदि देशो में भी अपने-अपने ढंग से पूजा-पाठ होता है । वहा भी काफी व्यक्ति पूजा-पाठ को ही अपना अन्तिम लक्ष्य मानते है । क्या हम मान लें कि मनुष्य की मानसिकता का उत्स एक ही है अन्यथा यह सार्वभौम मूर्खता क्यो हो रही है ।

उत्तर : मनुष्य किसी भी देश का हो, उसमें कोई-न-कोई दुर्बलता होती है। अपनी दुर्बलता को संरक्षण देने के लिए आलम्बन की जरूरत होती है । जीवन मे असत् प्रवृत्ति हो और उसके दुष्परिणाम से बचाव की आकांक्षा हो तो व्यक्ति को किसी-न-किसी कर्मकाण्ड का सहारा लेना ही होगा । अन्यथा उसके मन का डिप्रेशन उसे समाज मे जीने नहीं देगा । कर्मकाण्ड को एक प्रकार से व्यक्ति का सुरक्षा-कवच मान लिया गया है । यद्यपि यह सुरक्षा है तो काल्पनिक ही, पर मनोबल को बनाए रखने में और बढ़ने में अलबत्ता इसका सहयोग रहता है ।

तटस्थ दृष्टि से विचार किया जाए तो ऐसा लगता है—सबसे कम कर्मकाण्ड जैन धर्म में है । जैन धर्म के चौबीसवें तीर्थकर भगवान् महावीर ने अपने प्रवचन में ऊपरी कर्मकाण्ड की चर्चा तक नहीं की; पर आश्चर्य ! आज उनके अनुयायी

इस इस प्रवाह मे बह रहे है। प्रवाह में चलना सरल होता है। प्रतिगामिता का रास्ता कठिन है। इसमें खतरों की संभावना बनी रहती है। इस दृष्टि से मनुष्य जाति की मानसिकता में पूजा-पाठ के प्रति लगाव और आकर्षण है। जो युवा पीढ़ी स्वयं को इससे मुक्त घोषित कर रही है, वह भी परिस्थिति के साथ-साथ इस ओर ढल रही है। मै इस घटना को सार्वभौम मूर्खता नहीं, प्रवाहपतिता मानता हूं। मनुष्य मे जिस क्षण प्रतिस्रोत मे खड़े रहने और चलने की क्षमता आ जाएगी, वह आरोप स्वयं धुल जाएगा।

प्रश्न : मंत्रों का भी अर्थ होता है, या मंत्र-जाप भी एक रूढ़ परम्परा है ?

उत्तर : आज के वैज्ञानिक ध्वनि-विज्ञान पर विशेष शोध कर रहे है। उनका यह अभिमत है कि शब्द मे शक्ति होती है और वह इतनी विस्फोटक होती है, जिसकी कल्पना नही हो सकती। विस्फोट ध्वंस के लिए भी होता है और सृजन के लिए भी। मंत्रों की सार्थकता उनके ध्वनि-विज्ञान से सम्बन्ध रखती है। ध्वनि-तरगो के आधार पर अमुक प्रकार के वायब्रेशन निर्मित करना, उससे शरीरिक और मानसिक धरातल पर नयी अनुभूति करना, पारिपार्श्विक वातावरण पर उसके प्रभाव की स्टडी करना आदि ऐसे तथ्य है जो बताते है कि हर मंत्र का अपना अर्थ होता है और विधिवत् साधना करने से वह व्यक्त भी होता है।

मंत्रो मे है क्या ? शब्द ही तो है वहा। शब्द पुद्गल है। पुद्गल की अपनी शक्ति होती है। शुद्ध पुद्गलों के सक्रमण से वह शुद्ध हो जाता है। कमरे मे एक अगरबत्ती जलाने मात्र से वहां का वातावरण कितना बदल जाता है। गन्ध का यदि अपना प्रभाव है तो शब्द के प्रभाव को कैसे नकारा जा सकता है।

दूसरी बात यह है कि शब्दों का प्रभाव साफ-साफ दिखायी देता है। एक विद्यार्थी किसी संन्यासी के पास गया। संन्यासी ने उसे मंत्र का जाप करने की प्रेरणा दी। विद्यार्थी उसका उपहास करते हुए बोला—महात्माजी ! ये हजारों वर्ष पुरानी बाते हमे न सुनाये तो अच्छा है। शब्दो मे रखा क्या है, जो हम उनका जाप करते रहे।

सन्यासी ने कुछ समय तक उसको दूसरी बातो मे उलझाए रखा, फिर कहा—'तुम कुछ समझते क्यो नही, बने-बनाये गधे हो।' यह सुनते ही विद्यार्थी उत्तेजित हो गया। उसने सन्यासी की साधना को ढोंग बताते हुए कहा— 'आपने मुझे गधा क्यों कहा ?' संन्यासी मुस्कुराते हुए शात भाव से बोले—'मैंने तुम्हें [illegible] कहा है। जब शब्दो मे कोई शक्ति है ही नहीं, तब तुम [illegible] ?' विद्यार्थी को अपनी गलती का अनुभव हो गया। उसने संन्यासी से [illegible]

को भूल गए। एकांगी विचारधारा जीवन में रूढ़ता लाती है। वास्तव में जितने कर्मकाण्ड हैं, अग्रिम भूमिका में वे सब त्याज्य हैं। एक सीमा तक पहुचने के बाद उनकी उपयोगिता समाप्त हो जाती है। प्रतिमा, माला, मंत्र, संत-दर्शन, प्रवचन-श्रवण आदि जितनी चीजें है, वे सब अध्यात्म चेतना के जागरण में निमित्त बन सकती है। किन्तु जरूरी नही है कि इनके द्वारा जागरण हो ही। कुछ व्यक्ति ऐसे भी होते है जिन्हें किसी आलम्बन की अपेक्षा ही नही होती। बिना ही आलम्बन वे अपने चित्त को एकाग्र बना लेते हैं।

युवा पीढ़ी पर कर्मकाण्डो का प्रभाव नही होता है, इसका कारण यह है कि आज अधिकांश धार्मिक लोग साधन को साध्य मान बैठे हैं। वे जड़वाद को प्रश्रय दे रहे हैं। प्रतिमा एकाग्रता का निमित्त है, इसलिए उसकी पूजा की जाती है फिर माला के मनकों और हाथ पदों (पिरवों) की भी पूजा होनी चाहिए। क्योंकि ये भी एकाग्रता में निमित्त तो है ही। किन्तु इन जड़ पदार्थो के पूजन की बात प्रबुद्ध लोगों की समझ में नहीं आती। कर्मकाण्डों की वैज्ञानिकता और एक सीमा तक उसकी जो उपयोगिता है, उसे ध्यान में रखकर युवापीढ़ी को समझाया जाए तो वह उसे नकार नही सकती। किन्तु रूढ़धार्मिकता, अवैज्ञानिक दृष्टिकोण, एकांगी प्रतिपादन और दबाव आदि ऐसी स्थितियां है, जो आज की युवा पीढ़ी को उपासना धर्म से विमुख बना रही है।

प्रश्न : भारत में ही नहीं, इंग्लैड, फ्रांस, जर्मनी, नार्वे, बेल्जियम, इटली, जापान आदि देशों में भी अपने-अपने ढंग से पूजा-पाठ होता है। वहां भी काफी व्यक्ति पूजा-पाठ को ही अपना अन्तिम लक्ष्य मानते है। क्या हम मान ले कि मनुष्य की मानसिकता का उत्स एक ही है अन्यथा यह सार्वभौम मूर्खता क्यो हो रही है।

उत्तर : मनुष्य किसी भी देश का हो, उसमें कोई-न-कोई दुर्बलता होती है। अपनी दुर्बलता को संरक्षण देने के लिए आलम्बन की जरूरत होती है। जीवन मे असत् प्रवृत्ति हो और उसके दुष्परिणाम से बचाव की आकांक्षा हो तो व्यक्ति को किसी-न-किसी कर्मकाण्ड का सहारा लेना ही होगा। अन्यथा उसके मन का डिप्रेशन उसे समाज में जीने नही देगा। कर्मकाण्ड को एक प्रकार से व्यक्ति का सुरक्षा-कवच मान लिया गया है। यद्यपि यह सुरक्षा है तो काल्पनिक ही, पर मनोबल को बनाए रखने में और बढ़ने मे अलबत्ता इसका सहयोग रहता है।

तटस्थ दृष्टि से विचार किया जाए तो ऐसा लगता है—सबसे कम कर्मकाण्ड जैन धर्म में है। जैन धर्म के चौबीसवें तीर्थकर भगवान् महावीर ने अपने प्रवचन मे ऊपरी कर्मकाण्ड की चर्चा तक नही की; पर आश्चर्य! आज उनके अनुयायी

इस इस प्रवाह में बह रहे है। प्रवाह मे चलना सरल होता है। प्रतिगामिता का रास्ता कठिन है। इसमें खतरो की संभावना बनी रहती है। इस दृष्टि से मनुष्य जाति की मानसिकता में पूजा-पाठ के प्रति लगाव और आकर्षण है। जो युवा पीढ़ी स्वयं को इससे मुक्त घोषित कर रही है, वह भी परिस्थिति के साथ-साथ इस ओर ढल रही है। मै इस घटना को सार्वभौम मूर्खता नही, प्रवाहपतिता मानता हूं। मनुष्य मे जिस क्षण प्रतिस्रोत में खड़े रहने और चलने की क्षमता आ जाएगी, वह आरोप स्वयं धुल जाएगा।

प्रश्न : मंत्रों का भी अर्थ होता है, या मंत्र-जाप भी एक रूढ़ परम्परा है ?

उत्तर : आज के वैज्ञानिक ध्वनि-विज्ञान पर विशेष शोध कर रहे है। उनका यह अभिमत है कि शब्द मे शक्ति होती है और वह इतनी विस्फोटक होती है, जिसकी कल्पना नही हो सकती। विस्फोट ध्वंस के लिए भी होता है और सृजन के लिए भी। मंत्रो की सार्थकता उनके ध्वनि-विज्ञान से सम्बन्ध रखती है। ध्वनि-तरंगो के आधार पर अमुक प्रकार के वायब्रेशन निर्मित करना, उससे शरीरिक और मानसिक धरातल पर नयी अनुभूति करना, पारिपार्श्विक वातावरण पर उसके प्रभाव की स्टडी करना आदि ऐसे तथ्य है जो बताते है कि हर मंत्र का अपना अर्थ होता है और विधिवत् साधना करने से वह व्यक्त भी होता है।

मंत्रो मे है क्या ? शब्द ही तो है वहा। शब्द पुद्गल है। पुद्गल की अपनी शक्ति होती है। शुद्ध पुद्गलो के संक्रमण से वह शुद्ध हो जाता है। कमरे में एक अगरबत्ती जलाने मात्र से वहां का वातावरण कितना बदल जाता है। गन्ध का यदि अपना प्रभाव है तो शब्द के प्रभाव को कैसे नकारा जा सकता है।

दूसरी बात यह है कि शब्दों का प्रभाव साफ-साफ दिखायी देता है। एक विद्यार्थी किसी संन्यासी के पास गया। सन्यासी ने उसे मंत्र का जाप करने की प्रेरणा दी। विद्यार्थी उसका उपहास करते हुए बोला—महात्माजी ! ये हमारी वर्षों पुरानी बाते हमें न सुनाये तो अच्छा है। शब्दों में रखा क्या है, जो हम उनका जाप करते रहे।

संन्यासी ने कुछ समय तक उसको दूसरी बातों मे उलझाए रखा, फिर कहा—'तुम कुछ समझते क्यों नहीं, बने-बनाये गधे हो।' यह सुनते ही विद्यार्थी उत्तेजित हो गया। उसने सन्यासी की भावना को दोष बताते हुए कहा— 'आपने मुझे गधा क्यों कहा ?' सन्यासी मुस्कुराते हुए शांत भाव से बोले—'मैंने तुम्हारे शब्दों [illegible] है। जब शब्दों मे कोई शक्ति है ही नहीं, तब तुम [illegible]' विद्यार्थी को अपनी गलती का अनुभव हो गया। उसने संन्यासी से [illegible]

याचना की। संन्यासी उसे समझाते हुए बोला, 'वत्स ! गाली का जब इतना प्रभाव होता है तो मंत्र का क्यों नहीं होगा ? मंत्र की शक्ति अचिंत्य है। विधि से उसका प्रयोग हो तो उसकी शक्ति का परिचय मिल सकता है।'

इस घटना से स्पष्ट है कि मंत्रों का अपना प्रभाव है। पर उसे एक रूढि के रूप में स्वीकृत करने वाला उससे उस सीमा तक ही लाभ उठा सकता है। आज अपेक्षा इस बात की है कि हर मंत्र अपनी वैज्ञानिकता के साथ लोक-जीवन को प्रभावित करे और उससे मानव-जाति की आध्यात्मिक शक्तियों का जागरण हो।

वैज्ञानिक प्रगति से मानव भयभीत क्यों ?

प्रश्न : एक प्रश्न उठता है कि अमेरीका ने अंतरिक्ष मे स्काईलेव छोड़कर अपने किस उद्देश्य की पूर्ति की ? क्या ऐसा करके उसने कोई खतरा मोल नही लिया है ?

उत्तर : खतरा मोल लेना एक बात है और खतरे के भय से कोई काम नही करना दूसरी बात है। खतरा किस काम मे नही है ? मनुष्य चारो ओर खतरो से घिरा है। इनसे डरकर क्या किसी काम को छोड़ा जा सकता है ? इतनी ट्रेने, बसे और स्कूटर प्रतिदिन चलते है। कभी-कभी इनसे इतनी भयंकर दुर्घटनाए हो जाती है। क्या एक दिन के लिए भी ये कभी रुक सके है ? जितने बड़े काम उतने, ही बड़े खतरे। अतः खतरे के भय से किसी काम को रोकना कठिन है।

मूलत मनुष्य के दो लक्ष्य होते है—आध्यात्मिक और भौतिक। जो व्यक्ति अपने सामने आध्यात्मिक लक्ष्य रखकर चलते है, वे न तो ऐसे आविष्कार कर सकते है और न ऐसे प्रयोग ही कर सकते है। भौतिक लक्ष्य की चरम सीमा तक पहुंचने के लिए प्रयत्नशील व्यक्ति इस दिशा में आगे बढ़ते है। जो व्यक्ति ऐसे प्रयोग करते है, वे लाभ और हानि की मीमांसा पहले ही कर लेते है। सम्भावित खतरों की बात को एक बार गौण कर दिया जाए तो भी इस तथ्य को स्वीकार करना ही होगा कि यह काम कम साहस का नहीं है। भौतिक विकास के लक्ष्य को पूरा करने के लिए वैज्ञानिको को कितना एकाग्र और समर्पित होना पड़ता है। वे लोग अपनी मौत को हथेली पर रखकर चलते है। यदि वे अपने लक्ष्य में सफल हो जाते है तो अग्रिम शोध के लिए रास्ता खुल जाता है। अन्यथा कोई [illegible] परिणाम भी निकल सकता है। स्काईलेब एक अन्तरिक्ष प्रयोगशाला है। इसका प्रयोग भी किसी विशेष उद्देश्य से किया गया होगा जिससे मानव जाति को कुछ नई उपलब्धि हो सके।

प्रश्न : मनुष्य एक विकासशील प्राणी है। विज्ञान के क्षेत्र —

का उद्घाटन उसने किया। भावी विकास के लिए भी उसकी अनेक योजनाएं हो सकती है। पर विकास का अर्थ विध्वस तो नहीं है। विकास की अभीप्सा से इन जनसंहारक उपग्रहो का निर्माण क्यो किया जाता है ?

उत्तर : पदार्थ शक्ति का प्रतीक है। उसमें विध्वंस और निर्माण दोनों प्रकार की शक्तियां होती हैं। हर शक्ति मारक भी हो सकती है और तारक भी। किस शक्ति का उपयोग किस रूप में होता है, यह उसके प्रयोक्ता पर निर्भर करता है। विष तैयार किया जाता है। सामान्यतः वह मारक रूप में प्रसिद्ध है। कोई भी व्यक्ति विष-भक्षण कर लेता है, उसे अपने जीवन से हाथ धोना पड़ता है। किन्तु वही विष औषधि के रूप में प्रयुक्त होकर व्याधि-नाशक बन जाता है।

उपग्रहों का निर्माण भी शायद जन-संहार के लिए नही होता होगा। इनके माध्यम से अनेक परीक्षण और प्रयोग किए जाते है। पर मनुष्य आखिर मनुष्य है। उसकी कुछ दुर्बलताए भी हैं और अपूर्णताएं भी। इनके कारण चाहे-अनचाहे उससे गलत काम हो जाता है। वह किसी विशेष उद्देश्य की प्रेरणा से उपग्रह छोड़ता है। वह उद्देश्य कितना सही है और कितना गलत ? यह बात न केवल उसके चिन्तन पर निर्भर करती है, अपितु वायुमंडल में उपग्रह से होने वाले प्रभावो तथा अन्तिम परिणामो पर भी निर्भर रहती है। इस दृष्टि से इस प्रश्न के संदर्भ मे यही कहा जा सकता है कि उपग्रहो के निर्माण और उनके प्रयोग को केवल सहारक या केवल उद्धारक कहना कठिन है।

प्रश्न : विज्ञान मनुष्य की बौद्धिक क्षमता का विशिष्ट आविर्भाव है। मनुष्य ने विज्ञान के क्षेत्र में अनेक नयी खोजे की और उनका उपयोग भी किया। आज भी उसकी सब दिशाएं खुली है। नये-नये आविष्कार हो रहे है और प्रयोग भी हो रहे है। यह सब मानव जाति की भलाई के लिए हो रहा है या उसे संत्रस्त करने के लिए ?

उत्तर : कहा तो यही जाता है कि विज्ञान का पूरा प्रयोग मानव जाति के कल्याण की दृष्टि से किया जा रहा है। कथनी और करनी में एकरूपता की स्थिति रहे तो मानव जाति को संत्रस्त करने वाला कोई प्रयोग हो ही नही सकता। फिर तो विध्वसात्मक वस्तुओ के निर्माण मे जितनी शक्ति, समय और अर्थ का व्यय होता है, वह अपने आप रुक जाएगा और उसका उपयोग मानव-कल्याणकारी कार्यो के लिए होगा। कुछ प्रयोग इसी दृष्टि से हो रहे है, ऐसा प्रत्यक्ष अनुभव भी होता है। प्राचीन समय में सैकड़ों-हजारो श्रमिकों के हाथों से जितना काम होता था, उसे आज एक यंत्र के द्वारा सरलता से किया जा सकता है। अनेक प्राकृतिक प्रतिकूलताओं पर विज्ञान की अद्भुत विजय हुई है। अनेक ऐसी स्थितिया है, जिनके

सम्बन्ध में पहले से जानकारी मिल जाती है। पूर्व सूचना मिल जाने से थोड़ा-बहुत बचाव किया जा सकता है किन्तु इतना सब-कुछ होने के बावजूद यह तो नही कहा जा सकता कि विज्ञान का उपयोग केवल मानव जाति की भलाई के लिए ही होता है, और भी ऐसे अनेक मुद्दे हैं, जिन्हें नकारा नही जा सकेगा।

मानव-कल्याण के अतिरिक्त आणविक अस्त्र-शस्त्रों के उपयोग के महत्त्वपूर्ण कारण है– सुरक्षा, प्रतिशोध, अस्मिता, स्पर्द्धा, शक्ति-संतुलन आदि। किसी दूसरे राष्ट्र के पास अणु-शक्ति है और वह उससे पड़ोसी–राष्ट्र को नुकसान पहुचाने की बात सोचता है तो उसको भी अपनी सुरक्षा के लिए वैसे अस्त्र-शस्त्रो का निर्माण करना पड़ता है अन्यथा उस राष्ट्र की स्वतंत्र प्रभुसत्ता पर आंच आये बिना नही रहती। प्रतिशोध लेने की भावना से भी कुछ राष्ट्र अपनी शस्त्र-शक्ति को विकसित करते है। कुछ राष्ट्रो मे अपने आप को बड़ा दिखाने का अहं होता है। अपने अहं को पोषण देने के लिए वे ऐसे विघातक अणु-आयुधो का निर्माण करते है। कुछ राष्ट्र अन्य राष्ट्रो से पिछड़ना नही चाहते। इसलिए वे एक अंधाधुध दौड़ में प्रतिस्पर्द्धी बनकर जीते है। इस स्पर्धा में एक राष्ट्र दूसरे से आगे निकलना चाहता है। और वह उससे आगे दौड़ना चाहता है। इस दौड़ मे जो कुछ होता है, उसका परिणाम लाखो-करोड़ों को भोगना पड़ता है। एक और हेतु है जिसकी प्रेरणा से इस दिशा में गति होती है, वह हेतु है–शक्ति-संतुलन। कुछ राष्ट्रनायको का कथन है कि परमाणु-शस्त्रों का निर्माण और प्रयोग दोनों खतरनाक है, इस तथ्य से हम सहमत है। फिर भी शक्ति-सतुलन के लिए हमे ऐसा करना पड़ता है। यदि हम ऐसा न करे तो कोई भी राष्ट्र हम पर हावी हो जाएगा। हमारी जनता पर दूसरे राष्ट्रों का आतक रहेगा। उससे बचने के लिए हमे शक्तिशाली रहना चाहिए।

इतना सब-कुछ करने के बाद भी सब लोग जानते है कि [illegible] का निर्माण मनुष्य को सुख से जीने नही देगा। भौतिक विकास की चरम सीमा तक पहुंचने के बाद भी अशान्ति, व्यथा, भय और आशंका बनी रहती है, [illegible] के कारण बड़े-बड़े राष्ट्रों मे सधि-पत्रो पर हस्ताक्षर हो रहे है। [illegible] पर नियन्त्रण हो रहा है और जहा किसी नये अणु-अस्त्र के निर्माण [illegible] होती है, उसे रोकने का प्रयत्न हो रहा है। यदि विज्ञान का [illegible] के लिए ही होता तो उसकी सीमा करने की कोई [illegible] नहीं होती। [illegible] कोई भी राष्ट्र किसी राष्ट्र-कल्याणकारी काम के [illegible] [illegible] [illegible] के बीच हो रही सधियां और [illegible] [illegible] है कि [illegible] है, [illegible] [illegible] उस पर नियन्त्रण होना चाहिए।

का उद्‌घाटन उसने किया। भावी विकास के लिए भी उसकी अनेक योजनाएं हो सकती है। पर विकास का अर्थ विध्वस तो नहीं है। विकास की अभीप्सा से इन जनसंहारक उपग्रहों का निर्माण क्यों किया जाता है ?

उत्तर : पदार्थ शक्ति का प्रतीक है। उसमें विध्वंस और निर्माण दोनों प्रकार की शक्तियां होती है। हर शक्ति मारक भी हो सकती है और तारक भी। किस शक्ति का उपयोग किस रूप में होता है, यह उसके प्रयोक्ता पर निर्भर करता है। विष तैयार किया जाता है। सामान्यतः वह मारक रूप में प्रसिद्ध है। कोई भी व्यक्ति विष-भक्षण कर लेता है, उसे अपने जीवन से हाथ धोना पड़ता है। किन्तु वही विष औषधि के रूप में प्रयुक्त होकर व्याधि-नाशक बन जाता है।

उपग्रहों का निर्माण भी शायद जन-सहार के लिए नही होता होगा। इनके माध्यम से अनेक परीक्षण और प्रयोग किए जाते है। पर मनुष्य आखिर मनुष्य है। उसकी कुछ दुर्बलताएं भी हैं और अपूर्णताएं भी। इनके कारण चाहे-अनचाहे उससे गलत काम हो जाता है। वह किसी विशेष उद्देश्य की प्रेरणा से उपग्रह छोड़ता है। वह उद्देश्य कितना सही है और कितना गलत ? यह बात न केवल उसके चिन्तन पर निर्भर करती है, अपितु वायुमंडल में उपग्रह से होने वाले प्रभावो तथा अन्तिम परिणामों पर भी निर्भर रहती है। इस दृष्टि से इस प्रश्न के संदर्भ मे यही कहा जा सकता है कि उपग्रहों के निर्माण और उनके प्रयोग को केवल सहारक या केवल उद्धारक कहना कठिन है।

प्रश्न : विज्ञान मनुष्य की बौद्धिक क्षमता का विशिष्ट आविर्भाव है। मनुष्य ने विज्ञान के क्षेत्र मे अनेक नयी खोजे की और उनका उपयोग भी किया। आज भी उसकी सब दिशाएं खुली है। नये-नये आविष्कार हो रहे हैं और प्रयोग भी हो रहे है। यह सब मानव जाति की भलाई के लिए हो रहा है या उसे सत्रस्त करने के लिए ?

उत्तर : कहा तो यही जाता है कि विज्ञान का पूरा प्रयोग मानव जाति के कल्याण की दृष्टि से किया जा रहा है। कथनी और करनी मे एकरूपता की स्थिति रहे तो मानव जाति को सत्रस्त करने वाला कोई प्रयोग हो ही नही सकता। फिर तो विध्वंसात्मक वस्तुओं के निर्माण मे जितनी शक्ति, समय और अर्थ का व्यय होता है, वह अपने आप रुक जाएगा और उसका उपयोग मानव-कल्याणकारी कार्यो के लिए होगा। कुछ प्रयोग इसी दृष्टि से हो रहे है, ऐसा प्रत्यक्ष अनुभव भी होता है। प्राचीन समय मे सैकड़ों-हजारो श्रमिको के हाथो से जितना काम होता था, उसे आज एक यंत्र के द्वारा सरलता से किया जा सकता है। अनेक प्राकृतिक प्रतिकूलताओ पर विज्ञान की अद्‌भुत विजय हुई है। अनेक ऐसी स्थितिया है, जिनके

सम्बन्ध मे पहले से जानकारी मिल जाती है । पूर्व सूचना मिल जाने से थोड़ा-बहुत बचाव किया जा सकता है किन्तु इतना सब-कुछ होने के बावजूद यह तो नहीं कहा जा सकता कि विज्ञान का उपयोग केवल मानव जाति की भलाई के लिए ही होता है, और भी ऐसे अनेक मुद्दे है, जिन्हे नकारा नही जा सकेगा ।

मानव-कल्याण के अतिरिक्त आणविक अस्त्र-शस्त्रों के उपयोग के महत्त्वपूर्ण कारण है– सुरक्षा, प्रतिशोध, अस्मिता, स्पर्द्धा, शक्ति-संतुलन आदि । किसी दूसरे राष्ट्र के पास अणु-शक्ति है और वह उससे पड़ोसी-राष्ट्र को नुकसान पहुचाने की बात सोचता है तो उसको भी अपनी सुरक्षा के लिए वैसे अस्त्र-शस्त्रों का निर्माण करना पड़ता है अन्यथा उस राष्ट्र की स्वतंत्र प्रभुसत्ता पर आंच आये बिना नही रहती । प्रतिशोध लेने की भावना से भी कुछ राष्ट्र अपनी शस्त्र-शक्ति को विकसित करते है । कुछ राष्ट्रों मे अपने आप को बड़ा दिखाने का अहं होता है । अपने अह को पोषण देने के लिए वे ऐसे विघातक अणु-आयुधो का निर्माण करते है। कुछ राष्ट्र अन्य राष्ट्रो से पिछड़ना नही चाहते । इसलिए वे एक अधाधुंध दौड़ मे प्रतिस्पर्द्धी बनकर जीते है । इस स्पर्धा में एक राष्ट्र दूसरे से आगे निकलना चाहता है। और वह उससे आगे दौड़ना चाहता है । इस दौड़ मे जो कुछ होता है, उसका परिणाम लाखो-करोड़ों को भोगना पड़ता है । एक और हेतु है जिसकी प्रेरणा से इस दिशा मे गति होती है, वह हेतु है–शक्ति-संतुलन । कुछ राष्ट्रनायको का कथन है कि परमाणु-शस्त्रों का निर्माण और प्रयोग दोनो खतरनाक है, इस तथ्य से हम सहमत है । फिर भी शक्ति-संतुलन के लिए हमें ऐसा करना पड़ता है । यदि हम ऐसा न करे तो कोई भी राष्ट्र हम पर हावी हो जाएगा । हमारी जनता पर पड़ोसी राष्ट्रो का आतक रहेगा । उससे बचने के लिए हमें शक्तिशाली रहना चाहिए ।

इतना सब-कुछ करने के बाद भी सब लोग जानते है कि विध्वंसक-शस्त्रो का निर्माण मनुष्य को सुख से जीने नही देगा । भौतिक विकास की चरम सीमा तक पहुचने के बाद भी अशान्ति, व्यथा, भय और आशका बनी रहती है, उसी के कारण बड़े-बड़े राष्ट्रों मे सधि-पत्रों पर हस्ताक्षर हो रहे है । नये आयुध बनाने पर नियत्रण हो रहा है और जहां किसी नये अणु-शस्त्र के निर्माण की संभावना होती है, उसे रोकने का प्रयत्न हो रहा है । यदि विज्ञान का प्रयोग मानव-कल्याण के लिए ही होता तो उसकी सीमा करने की कोई अपेक्षा ही नही होती । क्योंकि कोई भी राष्ट्र किसी राष्ट्र-कल्याणकारी काम को नियत्रित नही कर सकता । रूस और अमेरीका के बीच हो रही संधियां और संधि-वार्ताएं इस रहस्य का उद्घाटन करती है कि कुछ शस्त्रास्त्र भयकर है, मानव-समाज मे विभीषिका उत्पन्न करने वाले है । इसलिए उन पर नियंत्रण होना चाहिए ।

जब तक मनुष्य में अभय का पर्याप्त विकास नही हो जाता है, वह किसी भी स्थिति में भयाक्रान्त रह सकता है । भय और चिन्ता का सबसे बड़ा कारण यह है कि सब लोग जीना चाहते है । मरना कोई भी नहीं चाहता । मृत्यु की क्षणिक आशंका भी व्यक्ति को बेचैन कर देती है । किन्तु हमारे नीतिकारो ने कहा है–

तावत् भयाद्धि भेतव्यं यावद् भयमनागतम् ।
आगतं तु भयं दृष्ट्वा प्रतिकुर्यात् यथोचितम् ॥

जब तक भय सामने नहीं आए, तब तक भय से डरना चाहिए । किन्तु जिस समय भय उपस्थित हो ही जाए, तब घबराहट छोड़कर उसका उचित प्रतिकार करना चाहिए ।

प्रश्न : अमेरीकी दूतावास के वैज्ञानिक और तकनीकी सलाहकार डॉ० थामस ब्लोनविच का कहना है कि १९६७ और १९७२ की संधियों में यह निर्णय हो चुका है कि किसी भी उपग्रह से भारत को नुकसान होगा तो अमेरीका उसकी क्षतिपूर्ति करेगा । क्या मानव-जाति की संभावित्‌ क्षति को वह पूरा कर सकेगा ?

उत्तर : किसी भी दुर्घटना के घटित होने पर क्षतिपूर्ति की परम्परा कोई नयी परम्परा नही है । पर इसका सम्बन्ध मात्र आर्थिक अनुदान से है । सम्पत्ति नष्ट होती है, उसकी पूर्ति तो इस माध्यम से हो जाती है किन्तु जो व्यक्ति अपने जीवन से हाथ धो बैठते है, उन्हें वापस लौटा देना किसी के वश की बात नही है । ऐसी स्थिति में मृत व्यक्ति के निकट पारिवारिक जनो की जीविका की व्यवस्था हेतु आर्थिक अनुदान दिया जाता है । ऐसा ही कुछ उक्त संधियों मे तय किया हुआ है । मै तो समझता हूं कि ऐसी क्षतिपूर्ति का वादा पूरा किया जा सकता है । पर सबसे बड़ी क्षति सम्पत्ति या मानव-जाति के विनाश की नहीं, मानवता के विनाश की है। मानवता यदि सुरक्षित है तो मानव-जाति स्वयं विकसित होती रहेगी । मानवता की हत्या कर मानव-जाति को भौतिक विकास के चरम शिखर पर पहुंचा देने के बाद भी अशान्ति, भय और चिन्ता की समस्या का समाधान नही हो सकता । अणुबम के इस युग मे अणुव्रत दर्शन ही एक ऐसा तत्त्व है, जो मानवीय मूल्यो की दिशा मे हो रही क्षति को पूरा कर सकता है । हमे निश्चिन्तता के समय की प्रतीक्षा करनी चाहिए । अपनी शक्ति का उपयोग मानव जाति के हित मे करने का सकल्प दोहराते रहना चाहिए ।

कुछ अपनी, कुछ औरों की

प्रश्न–जिस समय आप आचार्य बने, संघ-विकास के लिए आपके मन में क्या परिकल्पनाएं थी और उत्तरकाल में उनका क्या स्वरूप रहा ?

उत्तर– उस समय कल्पनाओं और संभावनाओ का यह उन्मुक्त आकाश मेरे सामने नही था। मै एक छोटे-से दायरे मे बंधा हुआ था और उसी सीमा में सोचता था। पूज्य कालूगणी ने अपने अंतिम समय में मुझे कहा–'यह सघ तुम्हारी शरण मे है। इसकी पूरी सार-सभाल रखना तुम्हारा दायित्व है।' बस मै अपने कर्तव्य की सीमा यही तक समझता था। इसलिए इसी कार्य मे सलग्न हो गया। हमारा धर्म-सघ प्रारम्भ से ही सगठित और सुव्यस्थित था, अत उसमे किसी नये उन्मेष की कल्पना मेरे मस्तिष्क में नही थी। मेरे चितन का एक बिन्दु यह था कि मेरे पूर्वाचार्यो ने जिस कारण उसमे किसी प्रकार का अतर न आ जाए।

उस समय का वातावरण भिन्न था, मानदण्ड भी भिन्न थे, इसलिए कुछ नया सोचने और करने का अवकाश भी नही था। उस समय हमारी जो शिक्षा थी, उसे हम पर्याप्त मानते थे। व्याकरण मे 'भिक्षुशब्दानुशासन', काव्य मे 'शांतिनाथ महाकाव्य' और दर्शन मे 'षड्दर्शनसमुच्चय' का अध्ययन करने के बाद हमने सोचा, हम बहुत पढ़ लिये। हां, साध्वियो की शिक्षा के बारे में अवश्य एक चिंतन था। इसके लिए मुझे पूज्य कालूगणी का संकेत प्राप्त था। इसलिए मेरे मन मे साध्वी-वर्ग की शिक्षा के लिए विशेष तड़प थी और अविलम्ब मैने वह कार्य प्रारम्भ भी कर दिया।

साधना के क्षेत्र में किसी नयी साधना का हमारा लक्ष्य नही था। अपनी साधुचर्या से हमें संतोष था। मेरी समझ मे हमारे सघ जैसा विकास अन्यत्र दुर्लभ था। वह युग श्रद्धा-प्रधान था और हमारे परिपार्श्व का वातावरण भी श्रद्धा से अनुप्राणित था। कोई बहुत लबी-चौड़ी बात हमने न सोची और न सुनी। उस स्थिति से थोड़ा आगे बढ़ा तो मुझे प्रतीत हुआ कि हम स्थितिपालक है। हमारी शिक्षा पद्धति प्राचीन है। साधना की दृष्टि से जो आयाम खुलने चाहिए वे नही खुल रहे हैं। यह चितन

दायित्व संभालने के पांच-सात साल बाद उभरा। तब तक तेरापंथ संघ के विरोध में वातावरण तैयार हा चुका था। विरोधो से एक प्रेरणा मिली और हमने अपनी सीमा से बाहर झांककर देखा। उस समय मुझे शिक्षा की कमी बहुत अखरी। कुछ दूसरे व्यक्तियों ने भी नयी संभावनाओं के संबंध मे चर्चा की। कुल मिलाकर वि० सं० २००० तक मै कल्पनालोक मे उतर चुका था।

एक दिन कुछ साधुओं को आमंत्रित कर मैने कहा—'युग इतना आगे बढ़ रहा है और हम लोग जहां के तहां खड़े है। अभी हमारे पास एक भी साधु ऐसा नही है जो शुद्ध हिन्दी मे प्रवचन कर सके, संस्कृत मे लिख या बोल सके और किसी बौद्धिक गोष्ठी में अपने विचार दे सके। क्या मै कल्पना करूं कि तुम लोगों में से कोई कवि, वक्ता, लेखक आदि बन सकेगा ? क्या अपने संघ मे बौद्धिकता का विकास संभव है ?' मेरी यह बात उनको लग गई। उसके बाद कुछ साधुओ ने विभिन्न क्षेत्रों में गति की। उनकी गति का वेग बढ़ा और इतना बढ़ा कि लोगो को आश्चर्य होने लगा।

ज्यों ज्यो समय बीतता गया, मै अधिक काल्पनिक बनता गया। मेरी परिकल्पनाओं मे स्वयं का निर्माण, अपने अध्ययन का विकास, साधु-साध्वियो की शिक्षा, साहित्य-सृजन, प्रचार-प्रसार, जैन दर्शन का आधुनिक रूप में प्रस्तुतीकरण, आगम-सपादन, समाज मे नैतिक मूल्यो की प्रतिष्ठा, नया मोड़, स्वाध्याय की रुचि का निर्माण, साध्वियो का नेतृत्व, अध्ययन की नयी विधाओं का विकास, अध्यात्म की गहराई में प्रवेश आदि अनेक बातें थी।

संघ की आंतरिक व्यवस्थाओ के सबध में भी मेरी कुछ कल्पनाए थी। कुछ कल्पनाओ को उसी समय आकार मिल गया और कुछ धीरे-धीरे साकार होती रही। हमारे चतुर्थ आचार्य श्रीमज्जयाचार्य ने इस दिशा मे बहुत परिष्कार किया था। फिर भी कुछ बाते अमुक-अमुक युग में होने की होती है। मै अपने धर्म-संध की मौलिक मर्यादाओं को अक्षुण्ण रखता हुआ सामयिक मूल्यों की स्वीकृति के पक्ष मे हू। इसी चितन के आधार पर मैने अपने करणीय कार्यो का एक प्रारूप तैयार किया और उसकी क्रियान्विति मे मुझे मुनि मगनलालजी स्वामी का पूरा समर्थन एव सहयोग प्राप्त हुआ। पता नही वे नये युग के थे या पुराने युग के, मेरे युगीन चितन को उन्होने सदा महत्त्व दिया और मेरा सम्पूर्ण धर्म परिवार मेरे कार्य मे सहयोगी रहा।

प्रश्न—आपके शासनकाल के इस चतुर्थ दशक तक क्या वे सारी कल्पनाएं साकार हो चुकी है ? यदि नही तो अवशेष क्या है ?

उत्तर—सारी कल्पनाओ को आकार मिलने की बात तव पूरी हो, जव मै नयी कल्पनाएं न सजोऊं। एक कल्पना पूरी होने से पहले ही नयी कल्पनाएं उभर आती

है और उनकी शृंखला इतनी लम्बी हो जाती है कि विचार-यात्रा का हर पड़ाव अपूर्ण-सा प्रतीत होने लगता है। मैने अपने जीवन में बहुत स्वप्न देखे है। मेरे कई दिवास्वप्न ऐसे थे, जिनके साकार होने की कल्पना तक नही थी, पर काललब्धि का योग पाकर उनमें अतर्कित सफलता प्राप्त हुई। अब भी मै नये-नये स्वप्न सजो रहा हूं और मुझे अनुभव होता है कि वे स्वप्न धीरे-धीरे मेरा मार्ग दर्शन कर रहे है। अब जो मेरे मुख्य स्वप्न है, वे ये है –

मै अपने साधु-संघ को योग-प्रधान अर्थात् साधना-प्रधान देखना चाहता हूं। साधना-प्रधान का अर्थ यह नहीं कि शिक्षा, साहित्य, धर्म-जागरण आदि मे अवरोध आ जाएगा। ये जीवन के लक्ष्य नही, साधन है। जीवन का लक्ष्य है समता और समाधि। वर्तमान युग मे टूटती हुई आस्था का प्रभाव साधु-सघ पर भी सभावित है। शास्त्र और गुरुजन आस्था के केन्द्र होते है। उन पर आस्था हो, इससे भी अधिक आवश्यक है अध्यात्म के प्रति अटूट आस्था का निर्माण। आध्यात्मिक आस्था का अभाव बहुत बड़े दुर्भाग्य का सूचक है। इस दृष्टि से मै अपने धर्म-संघ को अध्यात्म से अनुप्राणित देखना चाहता हू। आगमों का अध्ययन भी हम इसी प्ररिप्रेक्ष्य में कर रहे है। अभी आचाराग के पारायण से अध्यात्म के अनेक रहस्य उद्घाटित हुए है। अध्यात्म-विकास का मेरा यह स्वप्न जिस दिन पूरा होगा, मै कृतकृत्य हो जाऊगा।

शिक्षा की नयी-पुरानी सब विधाएं हमारे संघ मे विकसित हों, यह भी मेरी एक कल्पना है। इसके साथ मै यह भी चाहता हूं कि श्रावक समाज मे कुछ ऐसे विद्वान् तैयार हो जो जैन दर्शन का प्रतिनिधित्व कर सके। साधु और श्रावक के बीच एक तीसरी 'श्रेणी' का स्वप्न भी मै वर्षो से देख रहा हू। इन स्वप्नो की पूर्ति मे मै अपने पुरुषार्थ और शुभचिंतको के सहयोग की अपेक्षा रखता हू।

प्रश्न– अपनी योजनाओं की क्रियान्विति के समय आपके सामने बहुत वाधाए उपस्थित हुई है, उस समय आपकी मन.स्थिति कैसी रही ?

उत्तर– मै अपने जीवन मे बहुत अनुकूलताओ और प्रतिकूलताओ के मध्य से गुजरा हू। जब कभी मेरे सामने प्रतिकूल परिस्थितिया उपस्थित होती है और अधिक भयंकर रूप से उपस्थित होती है, कुछ क्षणो के लिए मेरे मस्तिष्क पर एक वोझ-सा आ जाता है। मुझे अनुभव होता है, मै अधकार मे खड़ा हू। किन्तु यह स्थिति अधिक समय तक स्थिर नहीं रहती। थोड़े समय वाद ही अधकार आलोक-रश्मियां बनकर मेरा मार्ग दर्शन करता है और मै परिस्थितियो के प्रतिकार के लिए सजग हो जाता हूं।

मैने अपने अतीत के अनुभवों के आधार पर जीवन को एक नयी परिभाषा दी है। उसके अनुसार जीवन वह है, जिसमें नये-नये संघर्ष और नयी-नयी वाधाएं

उपलब्ध हुआ है, उससे मै साधु-सघ और श्रावक-समाज की चेतना के ऊर्ध्वारोहण मे यथासंभव योगदान करने का शुभ सकल्प सजोता हुआ, सातवें दशक मे प्रवेश कर रहा हू ।

प्रश्न–आपके मन, वचन और कर्म मे जो तरुणिमा है, उसका श्रेय किसे देना चाहिए ?

उत्तर– किसे देना चाहिए इसका श्रेय ! कुछ समझ मे नही आता । किसी एक तत्त्व का नाम बताऊंगा तो प्रश्न समीचीन रूप से उत्तरित नही होगा । मेरी दृष्टि मे इसका सर्वाधिक श्रेय मिलना चाहिए पूज्य गुरुदेव कालूगणजी को, जिन्होने प्रारम्भ से ही निर्माण इस प्रकार किया । मै मानता हू कि मेरे जीवन मे जो कुछ है, सब उनका ही दिया हुआ है । उन्होने मुझे सतुलित जीवन जीने का प्रशिक्षण दिया । अति हर्ष और विषाद, अति श्रम और विश्राम आदि अतियो से बचे रहने के कारण मै आज भी अपने आपको तारुण्य की दहलीज पर खड़ा अनुभव कर रहा हू ।

मेरी इस स्थिति मे सहायक तत्त्व है पचीस-तीस वर्ष से किया जाने वाला यौगिक अभ्यास । कुल मिलाकर योगासन, खाद्य-सयम, लम्बी यात्राए और उनसे प्राप्त अनुभव–इनको मै अपने शारीरिक और मानसिक स्वास्थ्य का हेतु मानता हू।

इस श्रेय का कुछ हिस्सा मै अपने साधु-साध्वियो को भी देना चाहूगा । वे मुझे काम मे इतना उलझाया हुआ रखते है कि मै कभी निकम्मा नही रहता । कर्मशील व्यक्ति स्वस्थ और प्रसन्न रह सकता है, इस विश्वास के साथ मै सतत निर्माण-कार्य मे लगा रहता हूं और प्रसन्नता का अनुभव करता हू ।

एक तत्त्व का और उल्लेख करके मै इस विषय को सपन्न करना चाहूगा। वह तत्त्व है–मानसिक प्रसत्ति । मै अपने जीवन के क्षणो को अधिक से अधिक प्रसत्तिमय देखना चाहता हू और स्वीकार करता हू कि अति आशा तथा निराशा इन दोनो स्थितियो के मध्य से उपलब्ध एक मध्यम मार्ग मानसिक प्रसन्नता का सबसे बड़ा रहस्य है । वैयक्तिक और सामूहिक तत्त्व और भी है, जिनको उक्त सदर्भ मे समाविष्ट किया जा सकता है ।

प्रश्न–अपनी षष्टिपूर्ति के अवसर पर आप अपने धर्म-सघ और देश के नाम क्या सदेश देना चाहते है ?

उत्तर– मेरे सदेश का पहला सूत्र है– अवस्था और बुढ़ापा दो भिन्न-भिन्न तत्त्व है । इसलिए अवस्था को बुढ़ापा न माना जाए । वह माना हुआ बुढ़ापा व्यक्ति को निष्क्रिय बना देता है। अवस्था के साथ वृद्धत्व का गठबंधन नहीं है, इस सत्य को लेकर हर जीवन को नये-नये उन्मेषो से अनुप्राणित रखना चाहिए ।

आएं और व्यक्ति उनके साथ जूझता हुआ आगे का मार्ग तय करता जाए–'मुहूर्त्त ज्वलितं श्रेयो न च धूमायितं चिरम्'–यह वाक्य मेरे भीतर गूंजता रहता है। इसलिए मुझे निष्क्रिय जीवन जीने में रस नहीं है। मै अपनी योजनाओं की क्रियान्विति मे जिन प्रयोगों और प्रक्रियाओं को काम में लेता हूं, उनके संबंध में एक स्पष्ट रूपरेखा तैयार करता हूं और अपने सहयोगियों के साथ परामर्श भी करता हूं। अपने चितनशील सहयोगियो से मुझे बहुत-बहुत आशाए है। मेरी उलझन के समय मेरा सबसे बड़ा आलम्बन है पूज्य गुरुदेव कालूगणीजी की स्मृति। इससे मुझे नया मार्ग मिलता है, प्रेरणा मिलती है, बल मिलता है और मै अपने संतुलन को स्थिर रखता हुआ कठिन परिस्थितियों से नये अनुभव लेकर आगे बढ़ जाता हूं।

प्रश्न– आप अपने धर्म-संघ के भविष्य के बारे में क्या सोचते है ?

उत्तर– मुझे अपने धर्म-संघ का भविष्य उज्ज्वल दिखाई दे रहा है। धर्म संघ के उज्ज्वल भविष्य का सबसे बड़ा हेतु है कि हम रूढ़ नहीं है। हम ज्वार को भी मानते है और भाटे को भी स्वीकार करते है। द्रव्य और पर्याय, शाश्वत और सामयिक, स्थायित्व और परिवर्तन–इन सबकी सम्यक् अन्विति जहां होती है, वहा हर युग की सहमति उपलब्ध हो जाती है। मै मानता हू कि आने वाला युग बड़ा टेढ़ा है, पर न जाने कितने टेढ़े युग हमारे संघ ने गुजार दिए है। इसलिए इसके भविष्य मे मेरी आस्था है। मैं मानता हूं कि हमारे धर्म-सघ की नीव किसी शुभ समय में कुशल शिल्पी द्वारा डाली गई है। इसका मूल इतना सुदृढ़ है कि वह कभी हिल नही सकता। कई बार इसके सामने ऐसी स्थितियां आयी, जिनसे कुछ लोगो के मन प्रकम्पित हुए कि यह टूट न जाए। लेकिन स्थितिया स्वयं टूट गयी और संघ को आच तक नही आयी। भविष्य मे भी कठिन-से-कठिन परिस्थितियां आ सकती है। उन्हे पार करने के लिए हमें प्रयत्नशील रहना है और धर्म-सघ का गौरव बढ़ाना है।

प्रश्न–भगवान् महावीर के पचीससौवें निर्वाण महोत्सव वर्ष मे आपका षष्टिपूर्ति समारोह समाज को नवचेतना देगा, इस विषय में आप क्या सोचते है ?

उत्तर– समाज को नयी चेतना देना किसी के हाथ की बात नही है। सामाजिक धरातल पर काम करने वाला प्रत्येक व्यक्ति सोचता है कि वह समाज को बदल देगा, किन्तु ऐसा होना बहुत कठिन है। अनेक महापुरुष अब तक अपनी षष्टिपूर्ति मना चुके है। क्या उन्होने समाज को जो रूप देना चाहा, वैसा दे सके ?

सामाजिक मूल्य परिवर्तन और मानदण्डो की स्थापना के लिए मेरे मन मे भी बहुत कल्पनाएं हैं। मै उनके अनुरूप समाज को नयी दिशा देना चाहता हू। अपने जीवन के साठ वर्षो के अनुभवो के आधार पर निष्कर्ष रूप मे मुझे जो तत्त्व

उपलब्ध हुआ है, उससे मै साधु-सघ और श्रावक-समाज की चेतना के ऊर्ध्वारोहण मे यथासभव योगदान करने का शुभ सकल्प सजोता हुआ, सातवे दशक मे प्रवेश कर रहा हू।

प्रश्न–आपके मन, वचन और कर्म मे जो तरुणिमा है, उसका श्रेय किसे देना चाहिए ?

उत्तर– किसे देना चाहिए इसका श्रेय ! कुछ समझ में नही आता। किसी एक तत्त्व का नाम बताऊंगा तो प्रश्न समीचीन रूप से उत्तरित नही होगा। मेरी दृष्टि मे इसका सर्वाधिक श्रेय मिलना चाहिए पूज्य गुरुदेव कालूगणजी को, जिन्होने प्रारम्भ से ही निर्माण इस प्रकार किया। मै मानता हू कि मेरे जीवन में जो कुछ है, सब उनका ही दिया हुआ है। उन्होंने मुझे सतुलित जीवन जीने का प्रशिक्षण दिया। अति हर्ष और विषाद, अति श्रम और विश्राम आदि अतियो से बचे रहने के कारण मै आज भी अपने आपको तारुण्य की दहलीज पर खड़ा अनुभव कर रहा हू।

मेरी इस स्थिति मे सहायक तत्त्व है पचीस-तीस वर्ष से किया जाने वाला यौगिक अभ्यास। कुल मिलाकर योगासन, खाद्य-सयम, लम्बी यात्राए और उनसे प्राप्त अनुभव–इनको मै अपने शारीरिक और मानसिक स्वास्थ्य का हेतु मानता हू।

इस श्रेय का कुछ हिस्सा मै अपने साधु-साध्वियो को भी देना चाहूगा। वे मुझे काम मे इतना उलझाया हुआ रखते है कि मै कभी निकम्मा नहीं रहता। कर्मशील व्यक्ति स्वस्थ और प्रसन्न रह सकता है, इस विश्वास के साथ मै सतत निर्माण-कार्य मे लगा रहता हू और प्रसन्नता का अनुभव करता हू।

एक तत्त्व का और उल्लेख करके मै इस विषय को सपन्न करना चाहूगा। वह तत्त्व है–मानसिक प्रसत्ति। मै अपने जीवन के क्षणों को अधिक से अधिक प्रसत्तिमय देखना चाहता हू और स्वीकार करता हूं कि अति आशा तथा निराशा इन दोनो स्थितियो के मध्य से उपलब्ध एक मध्यम मार्ग मानसिक प्रसन्नता का सबसे बड़ा रहस्य है। वैयक्तिक और सामूहिक तत्त्व और भी है, जिनको उक्त सदर्भो मे समाविष्ट किया जा सकता है।

प्रश्न–अपनी षष्टिपूर्ति के अवसर पर आप अपने धर्म-सघ और देश के नाम क्या सदेश देना चाहते है ?

उत्तर– मेरे संदेश का पहला सूत्र है– अवस्था और बुढ़ापा दो भिन्न-भिन्न तत्त्व हैं। इसलिए अवस्था को बुढ़ापा न माना जाए। यह माना हुआ बुढ़ापा व्यक्ति को निष्क्रिय बना देता है। अवस्था के साथ वृद्धत्व का गठबधन नही है, इस सत्यता को स्वीकार कर जीवन को नये-नये उन्मेषो से अनुप्राणित रखना चाहिए।

मेरे सन्देश का दूसरा सूत्र है– खाद्य-संयम । मैने अनुभव किया कि खाद्य-संयम जीवन का सच्चा मित्र है । मैंने इसका अभ्यास किया है और वर्तमान मे भी ऐसा कर रहा हूं मुझे पूर्ण विश्वास है कि इस सूत्र को लेकर चलने वाला व्यक्ति अनेक दृष्टियों से लाभान्वित होता है ।

तीसरी बात है– समय का सदुपयोग । मैंने समय का बहुत उपयोग किया है। मेरा क्षण-क्षण किसी अच्छे कार्य में लगे, यह मेरी तीव्र भावना है। साधु-साध्वियो ने इस दिशा में काफी परिवर्तन किया है । श्रावक समाज में अभी तक मै इसकी कमी अनुभव करता हूं। इसलिए उन्हे विशेष रूप से कहना चाहूंगा कि वे भगवान् महावीर के सूक्त 'समयं गोयम ! मा पमायए' को अपने जीवन-विकास का सूत्र बनाकर समय का उपयोग करना सीखें ।

देश के नाम अपने सार्वजनिक संदेश में मैं कहना चाहूंगा कि व्यक्ति-व्यक्ति अपने जीवन का निर्माण करने के लिए संकल्प-बद्ध हो । संसार निर्माण की कल्पना अति कल्पना है, व्यामोह है । इस व्यामोह को तोड़कर व्यक्ति-सुधार की दृष्टि से वातावरण निर्मित किया जाए ।

देश में बढ़ती हुई हिसक परिस्थितियों के संदर्भ में अहिंसा का मूल्य प्रतिष्ठित करने के लिए यह अनुकूल अवसर है । अहिसा एक ऐसा तत्त्व है, जिसमें समग्र विश्व के हित, सुख और कल्याण की संभावनाएं निहित है । समाज मे अहिसा और अपरिग्रह का मूल्य प्रस्थापित होने के बाद ये बहुत-सी सामयिक समस्याएं स्वय निरस्त हो जाती है । लोक-चेतना के परिष्कार और संस्कारों की उच्चता के लिए जनता स्वयं जागृत होकर नैतिक मूल्यों के उन्नयन मे संलग्न हो, मेरे संदेश का आदि, मध्य और अन्तिम बिन्दु यही है ।

●

लेखक की प्रमुख कृतियां

जन्म	:	२० अक्टूबर १६१४ लाडनूं (राजस्थान) वि. सं. १६७१ कार्तिक शुक्ला द्वितीया
दीक्षा	:	५ दिसबर १६२५ लाडनू (राजस्थान) वि. स. १६८२ पोप कृष्णा पंचमी
आचार्य	:	२७ अगस्त १६३६ गंगापुर (राजस्थान) वि. स. १६६३ भाद्रपद शुक्ला नवमी
अणुव्रत-प्रवर्तन	.	२ मार्च १६४६ सरदारशहर (राजस्थान) वि. स. २००५ फाल्गुन शुक्ला द्वितीया
युगप्रधान	:	४ फरवरी १६७१ बीदासर (राजस्थान) वि. स. २०२६ माघ शुक्ला सप्तमी
भारत ज्योति	:	१४ फरवरी १६८६ उदयपुर (राजस्थान) वि. सं. २०४२ माघ शुक्ला पचमी
वाक्पति	:	१४ जून १६६३ लाडनूं (राजस्थान) वि. सं. २०५० आषाढ कृष्णा दसमी
इंदिरा गाधी राष्ट्रीय एकता पुरस्कार	.	३१ अक्टूबर १६६३ नई दिल्ली वि. स. २०५० कार्तिक कृष्णा एकम
गणाधिपति	:	१८ फरवरी १६६४ सुजानगढ (राजस्थान) वि. सं. २०५० माघ शुक्ला सप्तमी

- कालूयशोविलास
- डालिम चरित्र
- माणक महिमा
- मगन चरित्र
- सेवाभावी
- मां वदना
- चन्दन की चुटकी भली
- मै तिरूं म्हारी नाव तिरै
- नन्दन निकुंज
- सोमरस
- भरत मुक्ति
- पानी मे मीन पियासी
- जैन सिद्धान्त दीपिका
- दोनों हाथ एक साथ
- भिक्षु न्याय कर्णिका
- मनोनुशासनम्

- मुखड़ा क्या देखे दर्पण में
- जव जागे तभी सवेरा
- लघुता से प्रभुता मिले
- मनहसा मोती चुगे
- दीया जले अगम का
- बैसाखिया विश्वास की
- कुहासे में उगता सूरज
- जो सुख में सुमिरण करै
- सफर आधी शताब्दी का
- जीवन की सार्थक दिशाएं
- समता की आंख : चरित्र की पांख
- अनैतिकता की धूप · अणुव्रत की छत
- अणुव्रत के आलोक में
- राजपथ की खोज
- अणुव्रत : गति प्रगति
- बूंद भी लहर भी